हिन्दू धर्म का सारतत्व



लेखक
डा० दुर्गादास बसु, सरस्वती, प्रज्ञाभारती

बंगला से अनुवाद
स्वामी मृगानन्द एवं रामकेश सिंह

हिन्दू धर्म का सारतत्व

लेखक :

डॉ० श्री दुर्गादास बसु

सरस्वती, प्रज्ञाभारती, विद्यावारिधि, न्यायरत्नाकर, नीतिभास्कर,
पद्मभूषण, एल.एल.डि., डि.लिट्., जातीय गवेषणा अध्यापक,
अवसरप्राप्त न्यायाधीश, कलकत्ता उच्च-न्यायालय।

बंगला से अनुवाद :

स्वामी मृगानन्द तथा रामकेश सिंह

स्वत्त्वाधिकारी एवं परिवेशक

श्री सत्यानन्द देवायतन, यादवपुर

1, इब्राहिमपुर रोड, कलकत्ता-700 032

Phone : 72-1372

हिन्दू धर्म का सारतत्व
HINDU DHARMA KA SARTATWA

प्रकाशक तथा स्वत्त्वाधिकारी
श्रीसत्यानन्द देवायतन
1, इब्राहिमपुर रोड, यादवपुर
कलकत्ता–700 032

प्रथम संस्करण :
श्रीश्रीसारदा सप्तमी, 19th December, 1989

मुद्रक : अरुण कुमार द्विवेदी
भारत पेपर एण्ड बोर्ड कम्पनी
126/B, राजा राममोहन सरणी, (अम्हर्स्ट स्ट्रीट)
कलकत्ता-700 009 Phone No. 35-1765.

प्राप्तिस्थान :

1. श्री सत्यानन्द देवायतन, यादवपुर, कलकत्ता
2. श्री सुशील ताम्बी, प्रज्ञा विनिमय
   2/1, माधव किष्टो सेठ लेन, (हँसपोखरियाके पास)
   कलकत्ता–700 007
3. भारत सेवाश्रम संघ, 211, रासबिहारी एविन्यू, कलकत्ता-19
4. सर्वोदय बुकस्टॉल, हावड़ा स्टेशन
5. सुरुचि प्रकाशन, केशव कुंज, झंडेवाला, नई दिल्ली-110055
6. ज्ञानगंगा प्रकाशन, भारती भवन
   B-15, न्यू कॉलोनी, जयपुर, राजस्थान-302 001

प्रणामी : 75/- (पचहत्तर रुपये मात्र)

दानपत्र

इस पुस्तक के

हिन्दी संस्करण का विक्रयलब्ध

समग्र अर्थ तथा सम्पूर्ण ग्रंथस्वत्त्व

श्री सत्यानन्द देवायतन,

प्रो० हरि सत्यानन्द चैरिटेबल ट्रस्ट

को मैंने परम श्रद्धा के साथ

दान किया है

एवम् उन्होंने यह दान सादर ग्रहण किया है।

मतामत तथा भूलचूक ग्रंथकार के स्वयं के हैं

श्री सत्यानन्द देवायतन के नहीं।

श्रीश्री सारदा सप्तमी,
19th Dec. 1989

श्री दुर्गादास बसु

सूचीपत्र

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

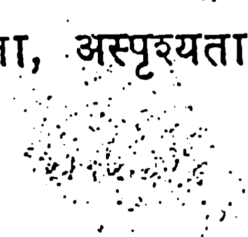
अष्टम अध्याय

परिशिष्ट

हिन्दी संस्करण की भूमिका

भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस ने फरमाया है—"सनातन धर्म ही हिन्दू धर्म है। हिन्दू धर्म बराबर है और बराबर रहेगा।" स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—"अब 'हिन्दू' और 'धर्म' दोनों शब्द एकार्थ वाचक हो उठे हैं। इसपर आघात करना असम्भव है। ...हम हिन्दू हैं। मैं इस 'हिन्दू' शब्द में कोई बुरा अर्थ नहीं देखता; और अगर कोई सोचता है कि इस शब्द का कोई बुरा अर्थ है, तो मैं उससे कदापि सहमत नहीं हूँ।...आओ ! हम अपने कर्म के द्वारा यह सिद्ध कर दें कि, कोई भी भाषा इससे ऊच्चतर शब्द का आविष्कार करने में समर्थ नहीं है। ...मैं स्वयं को 'हिन्दू' कहकर परिचय देने में गर्व अनुभव करता हूँ।" ये वचनामृत बड़े ही गहरे तथा यथार्थ हैं।

वास्तव में 'हिन्दू' शब्द एक पूर्णांग जीवन प्रणाली का द्योतक है, जिसका मूल आध्यात्मिकता के सूक्ष्म तत्वों में निहित है, और जिसका विस्तार शुभ संस्कृति की धाराओं में प्रवाहित है। यह कोई संकीर्ण सम्प्रदाय मात्र नहीं, बल्कि विश्वमानवता का धर्म है। जड़ से चेतन तक सृष्ट-जगत का सब कुछ ब्रह्म का ही विवर्तन है। सारी सृष्टि में ब्रह्म ही ओत प्रोत रूप से व्याप्त हैं। प्रत्येक जीव में एक ही आत्मा विराजमान हैं। इसलिए व्यक्ति-जीवन में तथा सारे समाज में अहिंसा, प्रेम, उदारता, दया, शिवज्ञान से जीव सेवा इत्यादि गुणों का विकास हिन्दूधर्म का स्वाभाविक परिणाम है। इसमें साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता आदि किसी भी संकीर्णता का



कोई स्थान नहीं है। कारण, हर मनुष्य को अपने जीवन में इन सद्गुणों के विकास का अधिकार है। साधना के सोपानों को अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा अतिक्रम कर धीरे-धीरे पशुत्व से देवत्व की ओर आरोहण ही व्यक्ति-जीवन के पूर्णांग निर्माण का रहस्य है, जिसमें धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों की पूर्णता है।

किन्तु हिन्दू धर्म की एक विशेषता अनोखी है। हिन्दू धर्म में शास्त्रों का कोई अन्त नहीं, अवतार महापुरुष भी असंख्य हैं और सम्प्रदाय या मतपथ भी संख्यातीत हैं। इस कारण हिन्दू धर्म के विषय में न केवल विधर्मी बल्कि बहुतेरे हिन्दू भी संशय के जाल में उलझ जाते हैं।

मनुष्य समाज में रूचि तथा आधार की विचित्रता श्रीभगवान की एक अनोखी देन है। इस रुचिभेद तथा अधिकार भेद को मान्यता देने के कारण ही हिन्दू धर्म में इतने सम्प्रदाय तथा शास्त्र सृष्ट हुए हैं। परन्तु मूल सत्य अनादिकाल से एक ही है, जिसे ब्रह्म परमात्मा, भगवान आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'। हिन्दू धर्म का मूल लक्ष्य उस परम सत्य को पाना है। और उस परम सत्य स्वरूप ब्रह्म को पाने वाले स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति के लिए ब्रह्म के स्वरूप हो जाना अनिवार्य है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।

ज्ञानमूर्ति ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में हिन्दू धर्म के इस लक्ष्य को सामने रखकर विभिन्न शास्त्रों के मुख्य तत्वों को युक्तिपूर्ण तथा न्याय संगत पद्धति के द्वारा, समन्वयी दृष्टि से सभी ऊपरी विरोधों को मिटाते हुए, सहज सरल रूप से प्रस्तुत किया है। साधारणतया हिन्दू धर्म के संदर्भ में जिन प्रश्नों का उदय होता है, उन प्रश्नों का

सुचिन्तित, स्पष्ट तथा सही उत्तर देने का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है। लेखक ने निरपेक्ष दृष्टि से इस सारतत्व का संकलन किया है, अपने मनगढ़े किसी मतवाद की प्रतिष्ठा का प्रयास नहीं किया है।

इस पुस्तक में धर्म जिज्ञासा, हिन्दू धर्म का लक्ष्य, हिन्दू धर्म की सार्वजनिकता, ईश्वर का सर्वव्यापकत्व, अनेक रूपों में एक का प्रकाश विभिन्न मार्गों का समन्वय, ब्रह्मप्राप्ति की प्रस्तुति, सेवाधर्म, वर्णाश्रम तथा जाति भेद प्रथा इत्यादि विषयों पर लेखक ने सुलझे दृष्टिकोण से विवेचन किया है। इस पुस्तक को पढ़ने पर एक सुन्दर सत्संग हो जाता है। मुखबन्ध भी मूल्यवान तथ्यों से पूर्ण है।

स्वनामधन्य श्री दुर्गादास बसु कानून तथा संविधान के विशेषज्ञ तथा विशिष्ट भाष्यकार के रूप में जगद्विख्यात हैं। साथ ही उन्होंने माता सरस्वती की निरंतर उपासना करते हुए हिन्दू धर्म के अन्तरगत प्रायः सभी प्रमुख शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया है। अन्य सम्प्रदाय के ग्रन्थों को भी उन्होंने ध्यान से पढ़ा है। फलतः इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर तुलनात्मक विवेचन भी यथोचित ढंग से किया गया है।

बंगला भाषा में लिखी गई इस पुस्तक को हिन्दी भाषियों के निकट पहुंचा देना एक आवश्यक कर्तव्य प्रतीत हुआ। अनुवाद के इस दुरूह कार्य में चिरंजीव रामकेश सिंह का सहयोग सराहनीय रहा। ग्रंथ के मुद्रण कार्य में आदरणीय श्री श्यामबच्चन दूबेजी तथा श्रीमान् अरुण द्विवेदी का सानन्द सहयोग भी उल्लेखनीय है।

श्री दुर्गादास बसु महोदय ने इस हिन्दी संस्करण के प्रकाशन का सारा व्ययभार स्वयं वहन कर यह ग्रन्थ स्वत्वाधिकार सहित श्रीसत्यानन्द देवायतन को अर्पित कर दिया है। इस महानुभवता के लिए वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। वेदमाता सरस्वती की कृपा उनपर नित्य बरसती रहे यही प्रार्थना है।

शास्त्रों के आधार पर हिन्दूधर्म के सारतत्वों का ऐसा अनूठा संकलन इस युग के लिए एक अत्यावश्यक कार्य था, जो इस ग्रन्थ से सम्पूर्ण हुआ।

हमें पूर्ण विश्वास है कि, इस ग्रन्थ के अध्ययन से हिन्दू-अहिन्दू, आस्तिक-नास्तिक, तथा सभी वर्ग के जिज्ञासु व्यक्ति उपकृत होंगे। आत्म विस्मृत हिन्दू अपने गौरवपूर्ण ऐतिह्य एवम् उत्तराधिकार के विषय में सचेतन हो पुनः महान् जीवन के अधिकारी बनें यही हमारी हार्दिक कामना है। श्री भगवान सब पर कृपा करें, सब को शुभबुद्धि प्रदान करें, यही प्रार्थना है—'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु'।

श्रीरामकृष्ण-सत्यानन्दार्पणमस्तु। इति

निवेदक
मातृचरणाश्रित,
स्वामी मृगानन्द

श्रीश्रीसारदा सप्तमी,
19th Dec. 1989

मुखबन्ध

वेदमाता सरस्वती देवी की कृपा से, अनेक बाधाओं के अतिक्रमण एवं दीर्घ प्रतीक्षा के बाद, इस पुस्तक का प्रथम हिन्दी संस्करण प्रकाशित हुआ। यदि कोई सज्जन इस पुस्तक को ग्रहणीय समझें तो वे श्रीसत्यानन्द देवायतन संघ और अवहेलित हिन्दू धर्म को परिपुष्ट करने में सहायता करेंगे। इस पुस्तक का बंगला संस्करण मैंने भारत सेवाश्रम संघ कलकत्ता को तथा अंग्रेजी संस्करण भारत-सेवाश्रम संघ लंदन-स्थित शाखा को दान किया है। अंग्रेजी संस्करण मुद्रणालय में है।

मेरे एक अन्तरंग शुभचिन्तक मित्र ने यह विचार व्यक्त किया कि, इस पुस्तक का नाम "हिन्दू धर्म का" न रख कर "सनातन धर्म का" सारतत्व रखना चाहिए था। यह बात यद्यपि ऊपरी तौर पर सत्य प्रतीत होती है; तथापि इसमें हिन्दू शब्द के भौगोलिक अर्थ के साथ इसके धर्मीय अनुषंग का अपमिश्रण निहित है। इस ग्रंथ के ही 7 पृष्ठ के 8 पादटीका में बताया गया है कि—"हिन्दू" शब्द की उत्पत्ति भौगोलिक है—जो लोग सिन्धु नद के पश्चिम तट पर निवास करते थे वे पूर्वतोरवर्ती, उपत्यकावासी, आर्यगणों को "हिन्दू" (सिन्धु का अपभ्रंश) कहकर संबोधित करते थे। परवर्ती काल में जिन लोगों ने सिन्धु नदी का अतिक्रमण कर भारतवर्ष पर आक्रमण किया, उन सभी ने भारत-वासियों को हिन्दू एवं भारतभूमि को "हिन्दुस्थान" के नाम से अभिहित किया। पाकिस्तान इत्यादि कुछ राष्ट्र तो आज भी "भारतभूमि" को "हिन्दुस्थान" कहकर संबोधित करते हैं। यदि "हिन्दू" शब्द का भौगोलिक प्रयोग इसके धर्मीय रूप के साथ अभिन्न

होता तो क्रिश्चियन, मुसलमान इत्यादि धर्मावलंबियों को भी हिन्दू कहना चाहिए, नहीं तो उनका हिन्दूस्थान में निवास करने का अधिकार नहीं रह जाता है।

वास्तव में, पहले हिन्दू शब्द का कोई भी धार्मिक तात्पर्य नहीं था। आर्यावर्त के अधिवासी आर्यगणों के धर्म को "आर्य धर्म" ही कहना समीचीन है, एवं और भी स्पष्ट शब्दों में इसे "वैदिक-धर्म" ही कहना चाहिए, क्योंकि यह धर्म वेद चतुष्टय के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। आर्यशास्त्रों के रचनाकार इस धर्म को "सनातन धर्म" [मनु० (४/१३८) ; भागवत (८/१/४४) ; महाभारत (अनु० १४१/६५)] के नाम से ही पुकारते थे। इस धर्म को किसी प्रवर्तक (पैगम्बर) विशेष ने उत्पन्न नहीं किया, एवं कतिपय चिरन्तन सत्य के ऊपर ही यह धर्म प्रतिष्ठित है। इसलिए इसे अनादि और शाश्वत अर्थात कभी भी विनष्ट न होनेवाला सनातन धर्म कहा गया है। कालक्रम् में, जब-जब वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार कर बुद्ध एवं महावीर जैसे प्रमुख प्रवक्ताओं ने अपने-अपने धर्मों एवं मतों को प्रतिष्ठित किया, तब-तब सनातन धर्मियों ने इन शाखाओं को वेद-विरुद्ध कहकर इन मूल चिन्तन धारा को ही विच्छिन्न कर दिया। परवर्तीकाल में मुसलमान एवं क्रिश्चियन शासक दलों ने इस्लाम, क्रिश्चियन, बौद्ध, एवं जैन धर्म से अलग करने के लिए सनातन धर्म को "हिन्दू धर्म" के नाम से चिह्नित किया। कई एक शताब्दियों से "हिन्दू धर्म" की यही प्रचलित संज्ञा जनमानस में इतनी गहरी पैठ गयी है कि, इस वर्तमान पुस्तक का शीर्षक "सनातन धर्म" का सारतत्व लिखने से कितने हिन्दू इसे अपने धर्म की अभिव्यक्ति मानकर स्पर्श करते यह विषय संदेहास्पद है।

मेरा अंतिम निवेदन यही है कि वेद की प्रामाणिकता एवं यज्ञ इत्यादि के बारे में विरोधिता करने से भी बौद्ध और जैन धर्म के लिए उनका गोत्रीय सम्बन्ध भूल जाना संभव नहीं हुआ। इस

पुस्तक में जो चिरन्तन सत्य हिन्दू धर्म के सारतत्व रूप में वर्णित हुए हैं, उनमें अधिकांश बौद्ध धर्म में एवं अपेक्षाकृत उससे अधिक जैन धर्म में मिलते हैं। यह मंतव्य सिक्ख धर्म के सम्बन्ध में और भी अधिक सार्थक है।

मुट्ठी भर पृथकतावादी सिक्ख आजकल प्रचार कर रहे हैं कि "सिक्ख" हिन्दू जाति से पृथक एक स्वतंत्र जाति है एवं उनका धर्म अलग है। वे लोग भूल रहे हैं कि पंजाब में, जहाँ पाँच नदियाँ बहती हैं, वहीं उनकी जन्मस्थली है। और वही भूमि आर्यों का "ब्रह्मावर्त" है, एवं सनातन धर्म का उत्स तथा वेद-वेदान्त का जन्मस्थल वही है। जन्म से सिक्ख लोग वैदिक सभ्यता के प्रत्यक्ष्य उत्तराधिकारी हैं। एवं वैदिक युग के आरंभ से प्राय: दो हजार वर्षों तक वे हिन्दू जाति में ही एकाकार थे। यहाँ तक कि बुद्ध एवं महावीर द्वारा वैदिक कर्मकाण्डो के विरोध में प्रतिवाद स्वरूप पृथक धर्म की सृष्टि करने के बाद भी अनेक शताब्दियों तक सिक्ख लोग हिन्दू धर्म का ही अनुसरण करते थे। कुछ एक भ्रमित सिक्ख यह भी भूल गए हैं कि, गुरू नानक प्रवर्तित धर्म के दसवें गुरू गोविन्द सिंह ने शक्ति मंत्र से इस जाति को पुनर्जीवित किया। जिसका उद्देश्य था, अत्याचारी मुसलमान शासकों के हाथ से हिन्दू प्रजा की रक्षा करना।

सिक्ख धर्म प्रवर्तक गुरू नानक ने हिन्दू धर्म के आधार उपनिषदों से सम्बन्ध तोड़ना क्यों नहीं चाहा इसके लिए हमें उपरोक्त कारणों को अच्छी तरह समझना होगा।

गुरू नानक द्वारा प्रवर्तित सिक्ख धर्म, बौद्ध और जैन धर्म की तरह कुछ मतों का खंडन करता है, जैसे—

क) वेद की प्रामाणिकता ;

ख) वैदिक यज्ञ और मंत्रों की सार्थकता ;

ग) मूर्ति पूजा।

परन्तु इस पुस्तक में हिन्दू धर्म के सारतत्व के रूप में जो श्रुति आश्रित तत्व वर्णित हुए हैं। प्रायः वे सभी तत्व सिक्ख धर्म में भित्ति स्वरूप गृहीत हुए हैं। इसप्रकार गुरू नानक का "सिक्ख धर्म" जैन अथवा बौद्ध धम की तुलना में अपेक्षाकृत हिन्दू धर्म के अधिक निकट है।

वेदान्त का गूढ़तम तत्व :

1. एकमेवाद्वितीयम्[1]—ग्रंथ साहेब के आदितम प्रवचन[2] में परमेश्वर एक ओंकार रूप हैं। वे ही सृष्टिकर्ता, स्वयभू[3] निर्वैर, अभय एवं अनादि अनंत पुरुष[4]-[5] हैं।

यही एक ओंकार ग्रंथ साहेब का आदि शब्द है, एवं सिक्खों के हर एक धार्मिक अनुष्ठान में उच्चारित किया जाता है। सिर्फ ब्रह्म को निर्गुण ही नहीं, अपितु गुरू नानक जी ने सगुण ब्रह्म को भी ओंकार रूप में वर्णन किया है। 'राम' एवं 'हरि' उनकी प्रत्येक वाणी में बार-बार उच्चारित हुआ है एवं तंत्र-मंत्र आदि वर्जन करके, श्रवण (सुन्नाई), मनन (मन्नाई) एवं ध्यान (धेयान) को साधना के माध्यम के रूप में निर्देशित किया गया है।

2. मुक्ति (वेदान्तका मोक्ष) ही मानव जीवन का लक्ष्य है।

---

1. ऋक् (१/६४/४६) ; छा. (६/२/१ ; ६/८/४) तै. (३/१) ; मू. (३/१/३)।
2. जपजी (गौड़ी १),–एक ॐ सत् नामू···अजूनी सैव् ···' ; ग्रन्थ साहिबजी (राग महला ४)—'पार ब्रह्म प्रभुएकू है दूजा ना ही कोऊ ···'।
3. छा. (१/१/१) ; तै. (१/८) : प्रश्न (५/२७)।
4. ऋक् (१०/९०/२) ; श्वे. (३/९) ; मू. (२/१/१०)।
5. श्वे. (६/९) ; (६/१६)।

अतः इसका एकमात्र उपाय है राम और हरि के नाम का जप या स्मरण करना ।[6]

3. निराकार ब्रह्म की उपासना का एकमात्र उपाय है निरंतर सत्यनाम का जप करना । क्रमशः जप के द्वारा मनुष्य की दृष्टि स्वच्छ हो जाती है । मिथ्या माया-मोह का आवरण नष्ट होकर सभी दुःख एवं पापों का विनाश हो जाता है एवं तब साधक के समक्ष "वेद के निहित अर्थ" प्रकट हो जाते है ।[7]

4. निराकार ब्रह्म के साथ सगुण एवं साकार ईश्वरत्व का सामंजस्य विधान करने के लिए गुरू नानक ने हिन्दू धर्म के भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हुए कम से कम तीन हजार बार "राम" और सोलह हजार बार "कृष्ण" अथवा "हरि" नाम का वर्णन किया है । आजकल के उग्रपंथी एवं पृथकतावादी सिक्ख लोग क्या इस तत्व को जानते है ?[8]

---

6. जपजी (गौड़ी १५)—'मों नै पार हि मोखू दुआरू···' ; सो (पूरखू ३)-'···से मूकूतू···(हरि धिआइया···जमकी फांसी' ; (सोहिला ४/३) 'हरिजन हरि हरि नामि···जनम मरन भय खण्ड हे · " ।

7. जपजी—मुनि जे जोग जुगति तानि भेद, मुनि जे सामत स्मृति वेद... पापका नामू' ।

8. स्वयं गुरू नानक श्रीचैतन्यपार्षद नित्यानंद के मंत्र शिष्य थे एवं वैष्णव धर्म से इतने प्रभावित हुए थे कि ग्रंथ साहिव में राम, हरि अथवा विश्वम्भर का नाम जप नहीं करने से मुक्ति नहीं होगी, इस वात का उन्होंने बार-वार उल्लेख किया है ।

इसके अतिरिक्त केशव; गोविन्द, गोपाल, दामोदर, माधव, मधुसूदन, मुरारि, मुकुन्द, वासुदेव, विष्णु आदि नामों का उल्लेख 2,000 स्थानों पर हैं—इस बात को राजनैतिक कलध्वनि द्वारा क्या दवाया जा सकता है ?

अतएव भारत में उद्भूत किसी भी धर्म को यदि समझना है तो सर्वप्रथम सनातन धर्म के सार-तत्व को समझना होगा एवं उस तत्व को समझते ही राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। आजकल जो राजनैतिक नेता धर्म को राष्ट्रीय एकता का विरोधी एवं साम्प्रदायिकता को जड़ समझते हैं वे भी यदि धर्म के सारतत्व का खोज कर उसे समझे तो धर्म को राष्ट्रीय एकता के सहायक के रूप में ही पाएंगे।

ऐसे मार्ग का यदि कोई भी निर्देश मात्र इस पुस्तक से मिले तो ग्रंथकार अपने को पुरस्कृत एव धन्य समझेगा।

श्रीश्रीसारदा सप्तमी,
19th Dec. 1989

ग्रन्थकार
श्री दुर्गादास बसु

हिन्दू धर्म का सार तत्व

उपक्रमणिका

मैं न तो कोई साधु संत हूँ, न मेरे सिर पर संन्यासी की गैरिक उष्णीष ही है, न वेदज्ञ हूँ, न ही शास्त्र पारंगत के रूप में मैं प्रसिद्ध हूँ, इसलिए धर्म की मर्म वाणी के उदघाटन के इस दु:साहसिक प्रयास के लिए मैं कारण दर्शाने को बाध्य हूँ।

हिन्दू धर्म के बारे में भारत के बाहर अनुसंधान कार्य :

विदेश भ्रमण के समय मैंने गौर किया था कि पश्चिम में बहुतेरे स्थानों पर, यहां तक को अनपढ़ श्रेणी के अन्दर भी हिन्दू धर्म के स्वरूप तथा असली तथ्य को जानने के लिए अनेक लोग आग्रही हैं। अवश्य ही भारत की स्वाधीनता के पश्चात् हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवक्ता तथा प्रचारकों ने अपने-अपने मतानुसार धर्म की व्याख्या करते हुए आंचलिक आश्रमादि स्थापित कर हिन्दू धर्म का बहुल प्रचार किया है। परन्तु इससे चर्चित समस्या का समाधान तो हुआ ही नहीं, बल्कि इससे जटिलता ही बढ़ी है। हिन्दू धर्म की विशालता तथा इसके मतवादों की बहुलता के कारण, अन्य धर्मावलम्बियों की तो बात ही क्या, एक निष्ठावान हिन्दू के लिए भी वास्तविक हिन्दू धर्म कौन सा है—इस प्रश्न से विभ्रान्त होना स्वभाविक है। इस अवस्था को देखकर मेरे मन में इच्छा हुई कि, आंशिक व्याख्यान के विरोध से उत्पन्न संशय को दूर करने का एक मात्र उपाय है—हिन्दू धर्म के विश्व-कोष से विभिन्न मतवादों के समूह का एक लघुत्तम गुणात्मक निर्णय करना और अंग्रेजी में

लिखकर उसका वितरण करना[1]। इस प्रयास में कुछ दूर अग्रसर होते हो ऐसा अनुभव हुआ कि, इसतरह के एक संकलन की आवश्यकता हिन्दू धर्म की जन्मभूमि में भी कुछ कम नहीं है।

विश्वमय धर्मविमुखता :

वर्तमान विश्व की भौतिक परिस्थिति में जो समस्या मुख्य रूप से सामने आ रही है वह है—धर्म विमुखता। इसका एक कारण यह माना जाता है कि, धर्म के दो प्रबल प्रतिद्वन्दी विज्ञान तथा राजनीति के अविर्भाव ने धर्महीनता को ही बीसवीं शताब्दी का युग-धर्म बना दिया है। किन्तु इस चिन्तन के मूल में है—धर्म के वास्तविक उद्देश्य तथा तत्वों के विषय में अज्ञानता। यदि यह बात सत्य है कि धर्म ने मनुष्य को जो-जो वस्तुएं देने की प्रतिज्ञा की थी, वे सारी वस्तुएं उसे विज्ञान तथा राजनीति देने में समर्थ है—तो धर्म को चिरकाल के लिए विदाई ले लेना ही उचित है। इस पुस्तक में मैंने यही स्थापित करने का प्रयास किया है कि वैज्ञानिक, राजनैतिक या अर्थनैतिक प्रगति की अलग-अलग उद्देश्य एवं सीमाएं होती हैं, जो कि धर्म से पृथक हैं। देखा गया है कि जीवन धारण की सारी जरूरतें पूरी होने या वस्तुतांत्रिक प्राचुर्य होने पर भी मनुष्य की आत्मिक क्षुधा रह जाती है[2], जिसे एकमात्र धर्म ही मिटा सकता है। इसलिए विज्ञान की अग्रगति या सामाजिक तथा आर्थिक आवंटन की नवीन परिकल्पनाएं धर्म विमुखता का कारण नहीं हो सकतीं।

1. इस उद्‌देश्य से मैंने 'Essence of Hinduism' नाम के एक पुस्तक की रचना की है, तथा भारत सेवाश्रम की लंदन स्थित-शाखा को इसे अर्पित कर दिया है। जो शीघ्र ही छपेगी।
2. यदि यह सत्य न होता तो नभचारी वैमानिकगण ब्रह्माण्डजयी अभियानों से लौटकर धर्मस्थानों में उपासना के लिए क्यों जाया करते है ? रूस तथा चोन जैसे देश में भी धर्म का पुनराविर्भाव क्यों हो रहा है ?

हिन्दू धर्मानुराग के पथ में अन्तराय :

उपर्युक्त सार्वजनिक कारण को छोड़कर हिन्दू धर्म की कुछ स्वयं की समस्यायें हैं, जिसके कारण विश्व का प्राचीनतम धर्म होकर भी समस्त विश्व की जनसंख्या को दृष्टि से हिन्दू-धर्मावलंबियों का स्थान धीरे-धीरे अवनति की ओर जा रहा है[3], परन्तु इससे भी अधिक दुःख की बात तो यह है कि, जिस किसी भी अन्य धर्म को मानने वालों की तुलना में एक हिन्दू धर्मावलंबी को अपने हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति बहुत ही कम है। आजकल तो आधुनिक शिक्षा में शिक्षित नव्य हिन्दू अपने हिन्दू धर्म का दोष अथवा अयौक्तिकता सिद्ध कर बहुत ही प्रसन्न होते हैं। परन्तु सत्यता तो यह है कि धर्म के विषय में अपनी अज्ञानता के कारण ही वे लोग ऐसा करते हैं।

अज्ञानता का प्रधान कारण तो भाषा की वजह से है। यद्यपि आजकल मुद्रण यंत्र के प्रचलित होने के कारण हिन्दू धर्म के सभी ग्रंथ छपे छपाए मिलते हैं। परन्तु संस्कृत भाषा में एवं देवनागरी लिपि में लिपिबद्ध होने के कारण पाश्चात्य भावधारा में शिक्षाप्राप्त एवं जीविका निर्वाह के काम में व्यस्त आजकल के नागरिकों के लिए उस शास्त्रसमुद्र के मंथन की इच्छा या समय कहां? यह कोई विचित्र बात भी तो नहीं है।

यह बात तो सच है कि आजकल बहुत से शास्त्रग्रंथ बंगला अथवा अन्य आंचलिक भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं। परन्तु लिपिगत यह बाधा दूर होने पर भी भाषा का गुरुत्वपूर्ण अन्तर रह ही गया है। अर्थोपार्जनकारी उपयोगिता नहीं रहने के कारण शिक्षा के क्षेत्र में

---

3. द्वितीय स्थान से तृतीय स्थान में अधोगत हुआ है।

भी संस्कृत भाषा को सरकार[4] और जनसाधारण दोनों ने ही छोड़ रखा है। इन सब कारणों के अतिरिक्त और एक बात तो यह है कि, संस्कृत भाषा व्याकरण-भित्तिक भाषा है एवं इसका प्रत्येक शब्द बहुलार्थ व्यंजक है। इसलिए अच्छी तरह अभ्यास नहीं करने से आजकल के स्कूल के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है—उसके द्वारा शास्त्र के मूल वाक्य समूहों का अर्थ समझना कठिन है। इस विषय में भी प्रकाशकों ने संस्कृत शास्त्रों के श्लोंको का बंगला में अनुवाद करके संस्कृत से अनभिज्ञ बंग बन्धुओं की सहायता की है। परन्तु उससे भी मौलिक समस्या सम्पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुई है, क्योंकि वह बंगलानुवाद प्रत्येक श्लोंको की टीका के रूप में सन्निवेशित हुआ है—प्रांजल भाषा में शास्त्र समूहों के सारांश सम्बलित रचनाओं की संख्या नगण्य है।

सर्वाधिक दुर्लंध्य अन्तराय है हिन्दू धर्म का विशालत्व एवं आपात विरोधी असंख्य मतवाद, जो कि एक ही शास्त्र के श्लोक, पद एव शब्द को मानो आच्छन्न किए हुए हैं। इन सब मतवादों के तथा विभिन्न व्याख्याओं के समन्वय की चेष्टा अवश्य ही युग-युग में हुई है; परन्तु हिन्दू धर्म के औदार्य के कारण कभी भी किसी तरह की यान्त्रिक समता साधन की चेष्टा नहीं हुई। ऐसा भी हुआ है कि दो विरुद्ध मतों में सामंजस्य साधन करने की प्रचेष्टा में एक तृतीय मत की सृष्टि हुई है। इन सब कारणों से मूल "हिन्दू धर्म"

---

4. पश्चाताप का विषय यह है कि, संविधान के ३५१ अनुच्छेद में, हिन्दी भाषा के बाद ही संस्कृत भाषा के विकास एवं सम्प्रसारण के लिए राष्ट्र को सुस्पष्ट निर्देश दिए जाने पर भी, संस्कृत भाषा की उपेक्षा कर उर्दू भाषा के विवर्धन के लिए (इसके अन्दर दूसरे धर्म का जो ग्रंथ है, उनका अनुवाद एवं प्रचार भी है) जन-साधारण से संगृहित राजकोष से अर्थ व्यय कर राष्ट्र के परिचालक वर्ग अब तक संविधान का उल्लंघन किये हैं।

कौन सा है, इस विषय में विभ्रान्ति जनसाधारण के मन में रह ही गयी है।

धर्मविमुखता दूर करने का उपाय, सार तत्व संकलन :

दूसरी तरफ यह भी सत्य है कि, शास्त्रकारगण अथवा विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवक्ता-गणों के बीच जिन सब विषयों में वितर्क अथवा मतभेद की अवतारणा हुई है उसका बहुत सा अंश ही प्राथमिक सूत्रों से असंलग्न किसी सूक्ष्मतर अथवा गौण समस्या से सम्पर्कित है, जिससे साधारण मनुष्यों का कोई प्रयोजन नहीं है। कारण बहुत वर्ष ही नहीं बल्कि बहुजन्म की अग्रगति के द्वारा आध्यात्मिक जगत के उच्चतर प्रदेश में आरोहण करने के पूर्व यह सब सूक्ष्म विचार अथवा गवेषणा निरर्थक है। इसलिये हिन्दुओं में अज्ञानता के कारण उत्पन्न इस विपत्तिकारक धर्म-विमुखता को दूर करने का एकमात्र उपाय है—हिन्दू धर्म की मर्मवाणी समूहों का संकलन कर उनके सामने परिवेशन करना तथा प्रशस्त मार्गों का निर्देश देना। इस कालजयी धर्म के इतिहास में युगों-युगों के लब्ध ज्ञान का भंडार अपरिसीम होगा एवं इस ज्ञान के आधार पर रचित शास्त्र भी अनंत होंगे—यह कौन सी विचित्र बात हैं ?

इस हिन्दू धर्म शास्त्र का सबकुछ जानना किसी भी मनुष्य के लिए संभव नहीं है। वर्तमान युग में तो यह और भी असंभव है।

यह सब जानकर ही शास्त्रकारों ने स्वयं इन सभी शास्त्र-सिन्धुओं से सार ग्रहण करने के उपदेश दिये हैं[5]।

---

5. वृ. (४/४/२१)—'···नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान्···तत्' ; भा० (११/८/१०)—'अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः···षट्पदः'; सा० प्र० (४/१३)—'वहुशास्त्र···षट्पदवत्' ; श० वि० (५८-६०) —'अविज्ञाते···शब्दजालं महारण्यं चित्रभ्रमणकारणम्'।

सार तत्व का अर्थ क्या है ? :

उपर्युक्त आलोचना से यह प्रतीत हो रहा है कि, हिन्दू धर्म के सारतत्वों का संकलन कार्य अत्यन्त दुरूह है, एवं इस अभियान में प्रत्येक पद में समालोचना अथवा वितर्क के सम्मुखीन होने की संभावना है। कारण प्राचीन धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय समूह जिन मतवादों के ऊपर प्रतिष्ठित हैं, वे मतवाद भी इतने प्राचीन हैं कि समन्वय में बहुत से व्रती महापुरूष भी इनके अन्तर्द्वन्द्व की आत्यन्तिकता को लाघव करने में सम्पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके हैं। परन्तु कुछ सर्ववादि-सम्मत तथ्य स्मरण रखने से पाठकों का संशय अधिकांशतः दूर होगा।

संकलन की पद्धति :

पहली बात तो यह है कि हिन्दू धर्म की प्रत्येक शाखा श्रुति अर्थात् वेदों से ही उत्पन्न हुई है, एवं सबों ने ही श्रुति को प्रमाण स्वरूप स्वीकार किया है।[6] जो कुछ मत विरोध हुआ है वह व्याख्या को लेकर हुआ है। अतएव इस पुस्तक में जहां तक संभव था वहां तक व्याख्या अथवा टीका के मतभेद का वर्जन कर, श्रुति का ज्ञान कांड अर्थात् उपनिषद के मूल मंत्रों से मौलिक तत्वों का चयन कर सुस्पष्ट भाषा में प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया है। जो लोग अधिकतर अनुसंधान करना चाहते हैं वे लोग

---

6. मनु (२/८)—'श्रुति प्रामाण्यतो विद्वान्…(२/१३)—'…धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परम श्रुतिः'; भा० मा० (२/६७)—'वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा…'; (११/३/४३)—'वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्…'; भा० (१०/६३/२५, ३४)—'ब्रह्मलिंगं…गूढ़ ब्रह्मणि वाङ्मये'; (१०/८४/१८-२०)—'स्वलीलया वेदपथं… शास्त्रयोनेः…।'

पादटीका समूहों में उद्धृत शास्त्र का अपने आप अध्ययन कर सकते हैं।[7]

दूसरा द्रष्टव्य यह है कि, इस ढंग का संकलन कभी भी गाणितिक सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव जिन तत्वों का इस पुस्तक में "हिन्दू धर्म का सारतत्व" के रूप में उल्लेख किया गया है उन्हें छोड़कर भी सर्वजन ज्ञात एवं सर्वसंप्रदाय-स्वीकृत तत्वों का रहना संभव है। परन्तु प्रारंभ में ही कहा गया है कि—मैं हिन्दू धर्म के सार तत्वों का ल० सा० गु० निर्णय करने के लिए व्रती हुआ हूँ। अतएव इस छोटी सी पुस्तक में ऐसे कुछ तत्वों को सन्निवेशित किया गया है, जिनको न जानने से अथवा न मानने से कोई भी मनुष्य अपने को हिन्दू कह कर परिचय देने में समर्थ नहीं होगा।[8]

दूसरी ओर अतिन्यून किन-किन तत्वों के आधार पर सभी शाखाएं एवं प्रशाखाएं एक स्थान पर सम्मिलित हो सकती हैं, उनपर विशेष ध्यान रखकर ही यह संचयन किया गया है।

---

7. शास्त्रपारंगत लोगों के लिए, अथवा ग्रंथकार के पाण्डित्य का परिचय देने के लिए इस ग्रंथ की रचना नहीं हुई है। "अनेक मुनियों के अनेक मत" इस मतवाद-बहुलता के कारण तथा सब मतवादों की नींव एक है, यह बात विश्व को बतलाने के निमित्त, हर एक तत्व अथवा प्रतिपाद्य विषय के पद टीका में श्रुति-प्रमाण एवं उसके बाद गीता, भागवत् इतिहास, पुराणादि अन्य शास्त्रों के वचनामृतों को सन्निवेशित किया गया है।

8. यथा, 'वेद' को प्रमाण शास्त्र न मानने के कारण बौद्ध, जैन, सिक्ख धर्म को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत नहीं माना जाता है। दूसरी तरफ जन्मगत जाति-विचार नहीं मानने से भी श्री चैतन्य एवं रामानुज अनुगामी वैष्णवों को भी "अहिन्दू" नहीं कहा जाता है। अतएव 'वेद' की प्रामाणिकता हिन्दू धर्म का एक सार तत्व है, परन्तु जन्म जातिभेद "सार तत्व" नहीं है।

(जातिभेद के सम्बन्ध में अधिकांश आलोचना परिशिष्ट ४ में है)!

इस धर्म का शास्त्रीय नाम "सनातन" धर्म [मनु० (४/१३८); भा०

धर्म एवं आचार :

इस पुस्तक में कौन सी कसौटी से सार तत्व का निर्णय किया गया है उसे अच्छी तरह समझने के लिये पहला प्रयोजन संक्षेप में यह जानना है कि, धर्म और आचार में क्या प्रभेद है। विभिन्न धर्मों के बीच आचार को लेकर प्रभेद रहने पर भी मूलतः सब धर्मों का

(८/१/४४); म० भा० (अनु० १४१/६५)] है। इसका कोई भी प्रवर्तक नहीं है, इसीलिए यह अतिन्द्रिय अनुभूतियों से प्राप्त हुआ है, एवं युग परम्परा से "वेद" रूप में प्रकटित हुआ था, वह अविनाशी है। कारण यह किसी भी व्यक्ति विशेष धारणा की तरह सीमित और विकारशील नहीं है। इसलिए भी हिन्दू-धर्म शाश्वत और सनातन है। इसी ऐतिहासिक कारण से इस सनातन धर्म को "हिन्दू" धर्म के नाम से पुकारा जाता है। वेद धर्मी आर्यलोग जिस भूखण्ड में निवास करते थे, उसको मनु (२/१७) ने "ब्रह्मावर्त" के नाम से पुकारा। यह ब्रह्मा-सरस्वती एवं दृषद्वति नदी के मध्यवर्ती "सिन्धु" नद की उपत्यका में अवस्थित था। सिन्धु नद के पश्चिम में रहने वाले ईरानी "सिन्धु" शव्द को "हिन्दू" उच्चारण करते थे (भा० स० (पृ० ५४)। इस तरह सिन्धु उपत्यका निवासी आर्यगण "हिन्दू" एवं उनलोगों का वेद-प्रतिष्ठित धर्म "हिन्दू धर्म" के नाम से परिचित हुआ है। "हिन्दू" शब्द का इस तरह का पारिभाषिक व्यवहार कई एक सौ वर्ष तक चलने के फलस्वरूप अवस्था ऐसी हुई कि, परवर्ती पुराण शास्त्रों में (यथा—भविष्य पुराण) शास्त्रकारों ने यवनगणों से अलग समझने के लिए आर्यगणों को "हिन्दू" नाम से अभिहित किया। अतएव, वर्तमान काल में जो लोग वेद प्रामाणिक इस धर्म में विश्वास करते हैं, वे "हिन्दू" हैं। (सनातन धर्म से पैदा हुआ परन्तु वेद को नहीं मानता है–अतः वर्तमान काल में हिन्दू धर्म से विच्युत ऐसे कुछ धर्मों के परिचय के लिए देखिए–परिशिष्ट–२)

उद्देश्य एक ही है। वह है "मानव" को उच्चत्तर स्तर में[9] ले जाना, अथवा यह भी कह सकते हैं कि, मनुष्य के अन्तर्निहित देवत्व को विकसित करना। सृष्टि के विवर्तन में मनुष्य जिस जैविक स्तर में पहुचा है, मनुष्य का प्रयास उसे रोक नहीं सकता, परन्तु मनुष्य का आत्मिक उन्नयन अथवा विकास होना संभव है। यद्यपि यह कार्य सरल नहीं है, तथापि विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदाय इसी एकमात्र लक्ष्य पर पहुंचने के लिए विभिन्न पथ एवं उपाय बतलाते हैं। यह समस्या आध्यात्मिक या अतींद्रिय दुनियां से सम्बन्ध रखती है, और देशकाल भेद से मात्र जाति समूहों के मध्य हो नहीं वरन् हर एक व्यक्ति के मध्य पारस्परिक वैशिष्टय और विभेद है। इसलिए किसी भी दिन बहुधर्म एवं बहुसम्प्रदायों के स्थान पर "एक ही धर्म" की प्रतिष्ठा करना संभव नहीं, चाहे क्यों न एक विशाल पत्थर द्वारा सब को एकसाथ पीसा जावे। परन्तु यदि आदर्श अथवा लक्ष्य वस्तु को सर्वदा अपने मनरूपी चक्षु के सामने रखा जाय, तो मतवाद रूपी जंगल में भटक जाने की आशंका नहीं होती, यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

हिन्दू धर्म के इस लक्ष्य का आविष्कार करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है, एवं उसी लक्ष्य को अच्छी तरह सरल भाव से समझाने के लिए सम सूत्रों में ग्रथित जिन तत्वों का उल्लेख करना प्रयोजनीय है, वर्तमान पुस्तक में उन्हें ही "हिन्दू धर्म का सार तत्व" कहा गया है।

हिन्दू धर्म के प्रथम सोपान में ही, संस्कृत भाषा को उर्वरता एवं शब्द के विचित्रध्योतकत्व का परिचय हमलोगों को मिलता है, जब हम "धर्म" शब्द का अर्थ खोजने लगते हैं। इस धर्म शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है—जो वस्तु धारण करके रखती है।[10] परन्तु

9. Cf. Hick, Philosophy of Religion (1979), PP. 76-77.
19. महा० (कर्ण ६६/५८)—धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः'।

विभिन्न शास्त्रकारों ने इस अर्थ की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है।

हिन्दू मत में "धर्म" शब्द का अर्थ :

इस पुस्तक का उद्देश्य सीमित होने के कारण आरंभ में ही इस तरह के विभिन्न प्रकार के व्याख्या जाल में उलझना समीचीन नहीं होगा। अतएव हमलोग "धर्म" शब्द का वही अर्थ निर्देश कर रहे हैं जो इस पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल है।—वह अर्थ है—"धर्म" उसी को कहते हैं, जिसके द्वारा मनुष्य-जीवन का अभ्युदय और मुक्तिलाभ होता है।[11]

हिन्दू धर्मीय विवर्तन मत में मानव जीवन का परवर्ती स्तर है देवत्व[12]; परन्तु इस देवत्व स्तर में चढ़ने के लिए किसी भी जड़ सीढ़ी की आवश्यकता नहीं है। इसका कारण यह है कि जैविक देहधारी होने पर भी मनुष्यों के अन्दर देवत्व अंतर्निहित है।[13]

---

11. वै० द० (१/१/२)—'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' (निःश्रेयस अर्थ मुक्ति या मोक्ष)। इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है मोक्ष प्राप्ति; अतएव कर्मकांड के यज्ञादि द्वारा जो इहलौकिक अभ्युदय लाभ होता है, उन सब क्रिया-कर्मों को प्रधानता न देकर "मोक्ष प्राप्ति" के लिए जो साधनाएं अनुकूल हैं, मुख्यतया उन्हीं सबों की आलोचना की जाएगी।
12. इस "देवत्व" शब्द का अर्थ स्वर्गवासी देवताओं का गुण अथवा भाव नहीं है–उन देवताओं का भी जो ईश्वर अथवा स्रष्टा है, उस ब्रह्म का ब्रह्मत्व है।
13. भूमिका को संक्षेप में लिखने के कारण यह सब तथ्य अल्प समय में समझने में असुविधा हो सकती है, परन्तु बाद में जो परवर्ती अध्याय हैं उनमें इन सब का विस्तार पूर्वक विश्लेषण दिया जाएगा। पहले उपक्रमणिका का अध्ययन करने के बाद बीच-बीच में पुनरावृत्ति करने से यह सहज ही बोधगम्य होगा।

आत्म जिज्ञासा :

जैविक सृष्टि चक्र में "मनुष्य समस्त जीवधारियों में सर्वश्रेष्ठ है" यह तथ्य निर्विवाद रूप से मान्य है[14] इन सब उर्द्धतन स्तर में अधिरोहण कर मनुष्य जिन-जिन विशेषताओं का अधिकारी हुआ है,—उन सबों के बीच अन्यतम है—आत्म जिज्ञासा और आत्मबोध।[15]

---

14. ऐ (१/२/३)—'ताभ्यो गामानयत्···पुरूषो वाव सुकृतम्···' ; महा० (शान्ति–१८०/८; ३२१/८०) ; वृ० ना० पू० (३०/२१) ; भा० (१०/८७/२)—"बुद्धीन्द्रियमनः ···आत्मनेऽकल्पनाय" (११/६/२८/२९) —'सृष्ट्वा पुराणि ···ब्रह्मावलोकधिषणं···लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहु-सम्भवान्ते मनुष्यमर्थदम्...' ।

15. ऊ० गी० (२/४४)–'ज्ञानं नराणां···पशुभिः समानाः' ; भा० (६/१६/-५८)—'लब्ध्वेह मानुषीं···ज्ञान विज्ञान सम्भवाम्'। इसका अर्थ यह नहीं है कि, प्रत्येक मानव शिशु जन्म लेने के साथ-साथ आत्मज्ञान लाभ करेगा। ऐसा होने से मोक्ष प्राप्ति के लिए उसे कुछ भी नहीं करना पड़ता। इसका अर्थ यह है कि, पशु योनि से मनुष्य योनि में बुद्धि की सूक्ष्मता होती है अतः [भा० (१०/८७/२)—'बुद्धीन्द्रियमनः··· आत्मनेऽकल्पनाय च'], मनुष्य के अन्दर हित-अहित, धर्म-अधर्म (महा०-शांति, २९४/२९) या 'आत्मा-अनात्मा के विचार की जो शक्ति अथवा संभावना (भा०–६/१६/५८) है, वह पशु के अन्दर नहीं है। परन्तु यह संभावना माया और पूर्व संस्कार से पैदा हुए अज्ञान के द्वारा ढकी हुई है। साधना के द्वारा [भा० (११/२०/१४-१७)—'एतद् विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः···न तरेत् स आत्महा'] उसी आत्मज्ञान को उद्‌बुद्ध करने में ही मुक्ति अथवा ब्रह्मप्राप्ति होगी। [वृ० (४/४/२२)—'तमेतं वेदानुवचनेन···विदित्वा··· ; मु० (३/१/५)—'सत्येन लभ्यस्तपसा···क्षीणदोषाः' ; (२/२/७)—'···तद्विज्ञानेन···धीरा···' ; श्वे० (१/१५-१६) ; ब्रह्म (२)—'तिलेषु तैलं···आत्मविद्यातपोमूलं···' ; के० (२/४)—'प्रतिबोधविदितं ···विंदतेऽमृतम्'; मनु (१२/१०४)–'तपसा किल्विषं हन्ति···अश्नुते' ; यो० वा० (२/१०/२२) ; कुलार्णव तन्त्र (१म उ०) ; विष्णु० (७/६१-६५) — 'विष्णुशक्तिः ··· पशुभ्यो मनुजाश्चातिशक्त्या ··· प्रभावितः']।

पशु अपने शरीर को ही सब कुछ समझता है, और उस देह-सुख के अनुकूल उपकरणों को लेकर संतुष्ट रहता है, उसके अतिरिक्त और कोई जगत् या सत्ता है या नहीं, इस तरह का प्रश्न उसके मन में उत्पन्न नहीं होता। अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य को भी आहार, निद्रा, मैथुन और भय स्वभावगत क्रियाएं हैं—परन्तु यह सब होने पर भी—मैं कौन हूँ? कहां से आया हूँ? मरने के बाद कहां जाऊंगा?—इत्यादि प्रश्न मानव मन का चिरन्तन प्रश्न है।[16] यह सब प्रश्न ही मनुष्य को अध्यात्म मार्ग पर परिचालित करते हैं। आध्यात्मिकता अथवा आत्मानुसंधान ही पशु से मनुष्य का स्वातंत्र्य सूचित करता है।

धर्म जिज्ञासा :

आत्म जिज्ञासा से ही धर्म जिज्ञासा उत्पन्न होती है। दैहिक सुखों का आकण्ठ भोग करके भी मनुष्य सुखी नहीं होता है। इसलिए मानव मन की यह चिरन्तन जिज्ञासा है—मनुष्य जीवन से ऊपर कोई चिरन्तन आनन्दमय अस्तित्व है या नहीं? इसी प्रश्न को महर्षि जैमिनी ने "धर्म जिज्ञासा" का नाम दिया है।[17] अतः जब तक किसी के मानस में यह प्रश्न तीव्रतम भाव से उदित नहीं होता तब-तक, परमात्मा हैं या नहीं, वे निर्गुण हैं अथवा सगुण,

---

16. श० (चर्पटपंजरिका, १२)—'कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः'।
17. पू० मी० (१)—'अथातो···धर्मजिज्ञासा'; महर्षि व्यास ने ब्रह्मसूत्र में इसी को "ब्रह्म-जिज्ञासा" कहा है। [ब्र० सू० (१/१/१)—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा']; परन्तु साधारण बुद्धि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि, प्राथमिक स्तर में धर्म जिज्ञासा के द्वारा परिचालित होकर ही जिज्ञासु मनुष्य साधन चतुष्टय अर्जन करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, एवं उन सब साधन सम्पदों से सम्पन्न होकर स्वयं को ब्रह्म जिज्ञासा के उपयुक्त बनाते हैं। 'शमदमादि' सम्पत्ति का अधिकारी बनने के लिए कितने सोपान पार करने पड़ते हैं, यह सब बातें इसके परवर्ती अध्यायों में

साकार हैं या निराकार—इत्यादि इस प्रकार के तर्क-वितर्क मात्र निरर्थक ही नहीं वरन् कपटपूर्ण आचरण के परिचायक भी होंगे। इसीलिए कहा गया है कि, हिन्दू धर्म में अध्यात्म जीवन का प्रथम सोपान धर्म जिज्ञासा ही है।

ब्रह्म जिज्ञासा :

यही जिज्ञासा जब मनुष्य के मन में होती है, तब मानव आविष्कार करता है, कि मनुष्यत्व के ऊर्ध्व में है देवत्व, जिस स्तर पर पहुंचने से मनुष्य-जीवन से सभी प्रकार के दुःख एवं अशान्ति की समाप्ति हो जाती है।

भूमा :

यह जिज्ञासा ही मनुष्य को "भूमा"[18] (अर्थात् महत्तम,

व्याख्यातित होंगी। दूसरी तरफ, चूंकि प्रवृत्तिमूलक यज्ञकर्मादि "धर्म के अन्तर्भुक्त" हैं एवं उन सब कर्मों के द्वारा पाप-खण्डन एवं पाशववृत्ति जय एवं चित्तशुद्धि होने पर ही निवृत्तिमूलक "ब्रह्म जिज्ञासा" का अधिकार जन्म लेता है, इसलिये "धर्म जिज्ञासा" को व्यापकतर प्राथमिक स्तर समझना ही उचित है। ब्रह्म जिज्ञासु व्यक्ति के मन में जिन सब प्रश्नों का उदय होना अवश्यंभावी है—उन प्रश्नों का संकलन कर एक पूरे उपनिषद् की रचना की गई है जिसका नाम—"प्रश्नोपनिषद्" है। [द्र० केन (१/१/१) ; श्वे० (१/१) ; क० (१/१/२०)]

18. इस 'देवत्व' शब्द का अर्थ स्वर्गलोकवासी देवताओं का सुखावस्थान नहीं है, क्योंकि उनलोगों का वह जीवन भी अनित्य है, एवं मुक्तिप्रद नहीं है। यज्ञ इत्यादि पूण्यकर्म के फल से मनुष्य देवलोक में जाने की शक्ति पाते हैं। परन्तु अर्जन किया हुआ पुण्य समाप्त होने पर फिर से उन्हें मर्त्य लोक में आना पड़ता है। [गी० (९/२०-२१)] —'त्रैविद्या···मर्त्यलोकं विशन्ति···' ; भा. (११/२१/३३)—'इष्ट्वेह ···तस्यान्त इह भूयास्म···' ; (११/१०/२३-२६)—'···स्वर्लोकं याति याज्ञिक···कालचालितः') । इसलिए देवतालोग अमर अथवा शाश्वत सुख के अधिकारी होते हैं, यह धारणा ठीक नहीं है। परन्तु वे देवता

अपरिसीम, अनन्त)[19]-[20] की खोज में लगाता है। कारण भूमा की अपेक्षा अल्पतर किसी भी वस्तु से प्रकृत एवं अक्षय सुख आहरण नहीं किया जा सकता है।[21] यह जो "ब्रह्म जिज्ञासा" नामक प्रश्न है—यही मनुष्य को और भी कुछ विशेष बातें सिखाता है। शरीर वाहन मात्र है—अर्थात् रथ की तरह चलती-फिरती एक गाड़ी है और उसको चलानेवाला रथी (चालक) एक और सत्ता है जिसे आत्मा कहकर संबोधित किया जाता है।[21] जबतक हम-लोग "मैं" कहने का तात्पर्य केवल अपने शरीर को ही समझते हैं, एवं उसी बोध से देह (भौतिकता) ही सर्वस्व है समझ कर, जीवन-यापन करते हैं[22], तबतक हम स्वय में निहित पशुता से ऊपर नहीं उठ सकते। इस तथ्य का हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

भी मोक्षाभिलाषी हैं। क्योंकि मानव शरीर ही एकमात्र ज्ञान भक्ति और योग के द्वारा मोक्ष साधना के लिए उपयुक्त है। इसलिए देवता भी मर्त्यभूमि में जन्मग्रहण करने की इच्छा करते हैं। [भा० (११/२०/२२)—'स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं···']। अतएव मनुष्य यदि उन्नत स्तर में उठना चाहता है, तब उसे इच्छा करनी होगी—"अमृतत्व" की। जिसे पाने का एकमात्र उपाय है, ब्रह्मप्राप्ति। (भा० (२१/२६/१८-२२) —'सर्वं ब्रह्मात्मकं···मर्त्येनाप्नोति मामृतम्], अतएव इस स्थान पर देवत्व शब्द का अर्थ "ब्रह्मत्व" समझना होगा।

19. छा० (७/२३/१-७/२४/१)—'यो वै भूमा तत्सुखम्···अमृतम्···'; भा० (६/१०/१३; १०/१४/५; १०/८४/१२; ११/२१/३७; ७/६/४८)।
20. "ब्रह्म" शब्द का अर्थ भी वृहत्तम—"वृहत्वात् वृंहनत्वाद ब्रह्म'; अर्थात् अनंत है। [तै० (२/१/३)—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म']।
21. क० (१/३/३)—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु···'; (२/२/४-५)—'अस्य···यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ'; श० वि० (१५५-१६०) —'पूर्वं···ब्रह्माऽहमित्येव मतिः सदात्मनि'।
22. छा० (८/१२/१-२)—'···न वै सशरीरस्य···अशरीरो...स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते।'

जीवात्मा-परमात्मा :

दूसरी तरफ, शरीर आत्मा का आधार या वाहन मात्र है, यह ज्ञान होते ही मनुष्य का 'स्वरूप' उपलब्धि[23] एवं देवत्व में उत्तरण का अभियान आरंभ हो जाता है। कारण इन्द्रिय-चालित प्रत्येक देह के अन्तस्थल में जो आत्मा छिपी हुई है[24] एवं जिसे जीवात्मा कहा जाता है, विश्वस्रष्टा परमेश्वर अथवा परमात्मा का ही अंश विशेष है। इसलिए यह जीवात्मा भी परमात्मा की तरह जन्म-मृत्यु-जरा-शोक इत्यादि से रहित है।[25] अतएव उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर[26] अथवा उस आत्मा के साथ नित्ययुक्त होने पर ही मनुष्य अनासक्त हो, वीतशोक देवत्व को प्राप्त कर सकता है।[25-27]

उपर्युक्त विचारों से यही सिद्ध होता है कि, मनुष्य के लिये अपने जीवन के दुःखों एवं दुश्चिन्ताओं से मुक्ति पाने का एक मात्र

---

23. छा० (८/३/४)—'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय···स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यन्ते··· ।'
24. ब्रह्म० (१४-१५)—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ···निर्गुणश्च'; अ० वि० (२०)—'घृतमिव···भूते भूते वसति···'; प० (१०)···'परमात्मात्म-नेवैकत्व ज्ञानेन···'; श्वे० (१/१५)—'तिलेषु तैलं···योऽनुपश्यति'; योग० (८-११)—'निष्फलं···जीवरूपेण···परमात्मनि'। भा० (१६/२१/५)—'···आब्रह्म···शारीरा आत्मसंयुक्ताः'; (७/६/२०-२१) 'परावरेषु···एक···अव्ययः'।
25. अथ० (१०/४४) '···अमर···यूवानम्'; वृ० (४/४/२२)—'स वा एष महानज···सर्वस्याधिपतिः'; (४/४/२५)—'स वा एष···आत्माऽ-जरोऽमरोऽमृतोऽभयो···वेद'; भा० (११/२८/११)—'आत्मऽव्ययगुणः शुद्धः···'।
26. छा० (८/७/१)—'य आत्मा···विजरो विमृत्युर्विशोको···स विजिज्ञा-सितव्य···विजानातीति··· ।'
27. क० (१/२/१२,२२)—'तं दूर्दर्श···न शोचति।'

उपाय है स्वयं को पहचानना[28] एवं उसी स्वरूप में व्यवस्थित रहना।[29]

संक्षेप में सार तत्व यही निकलता है कि—

पशु की तरह मनुष्य का शरीर भी जैविक उपादानों के द्वारा गठित है। अतएव शुरू से संस्कार विहीन मनुष्यों की वृत्ति और क्रिया पशुओं की तरह ही होती है। उस पशुत्व का आचरण एवं जैविक इच्छाएं मानव को संसार के चक्र में बांध कर बार-बार शरीर धारण करने को बाध्य करा रही हैं। दुर्भाग्यवश साधारण मानव उसी रक्त-मांस के पिण्ड शरीर को ही उसकी अपनी "सत्ता" अथवा "मैं" समझकर पुकारता है, और आत्मा से उस मैं को पृथक समझता है।[30]

धर्म की प्रयोजनीयता :

इस पशु देह के आवरण में ही प्रत्येक मनुष्य का आत्मिक देवत्व छिपा है। अत: जन्म-मृत्यु रूपी संसार चक्र से मुक्तिलाभ का उपाय है—उसी अन्तर्निहित देवत्व का विकास अथवा आत्मा की सार्वभौमिकता प्रतिष्ठित करना।[30-31] आत्मा जन्म अथवा मृत्यु से परे है।[32] इसलिए वे कार्य ही मनुष्य के लिये नि:श्रेयस या सच्चा

---

28. वृ (३/७/१५)—'यः सर्वेषु भूतेषु···आत्माऽन्तर्याम्यमृत···' ; कै० (१७-२८)—'ब्रह्माऽहमिति ज्ञात्वा...परमात्मरूपम्' ; अ० वि० (११, २१)—'एक एवाऽत्मा मंतव्यो···तद् ब्रह्माहमिति···'।
29. भा० (२/१०/६)—'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' ; छा० (८/१२/३)—'···स्वेन रूपेणभिनिष्पद्यते' ; पा० यो० (कै० ३४)—···कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति'।
30. श्वे० (१/६-१२)—'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा···ब्रह्ममेतत्'।
31. भा० (१२/५/८-१२)—'न तत्रात्मा···पृथगात्मनः'।
32. छा० (६/११/३)—'···न जीवो म्रियते···' ; क० १/२/१८ ; गी० (२/२०)—'न जायते म्रियते वा...शरीरे ; भा० (१२/५/४)—'ह्यजोऽमरः'।

मंगल ला सकते हैं, जिस कार्यप्रणाली के द्वारा जैविक आच्छादन से आत्मा को निकाल कर उसके[33] देवत्व रूपी शतदल (पद्म) को प्रस्फुटित करने में सहायता प्राप्त हो। उन सभी कार्यों अथवा उपायों का सम्यक प्रयोग प्रत्येक हिन्दू का "धर्म" है।[34] वास्तव में जिन-जिन सत्कर्मों के द्वारा मानव के अन्तर्निहित देवत्व का विकास होता है, उन्हें जीवन में क्रियाशील करने पर, एवं व्यक्तिगत जीवन में प्रत्येक मानव में देवत्व का विकास होने से, मात्र उस व्यक्ति की ही नहीं बल्कि समस्त जगत् की रक्षा होगी।[34] अतः अहिंसा, सत्य, ऋत,[35] तपस्या, इन सब में ही विश्व जगत् की प्रतिष्ठा है।[36] भगवान के वैचित्र्यमय इस सृष्टि चक्र में पशुता से विवर्तन के परिणामस्वरूप मानवत्व में उत्तीर्ण होने के लिए सत् और असत् व्यक्ति एवं उनलोगों का सत् और असत् कर्म—सृष्टि के प्रारंभ से ही था[37] एवं अनन्तकाल तक रहेगा। असत् कार्य यानि पापों का ढेर—मानव सभ्यता को ध्वंस के मुख-गह्वर में ढकेलना चाहता है। इधर हमारे मठ-मंदिरादि ब्रह्मचर्याश्रमों में रहने वाले साधु अथवा सद् गृहस्थों के द्वारा जो सत्कर्म अनुष्ठित होते हैं, वे विश्व का ध्वंस होने से रक्षा करते हैं। जो नीतियां मनुष्य को सृष्टिचक्र

---

33. स० सा० (१)—'···देहादीनात्मत्वेनाभिमन्यते···बन्धस्तन्निवृति-र्मोक्षः'··· ; क० [२/३/१७]—'तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेत्···' ।

34. महा० (कर्ण, ६९/५८)—'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः' ।

35. 'ऋत' वह शक्ति है जो सम्पूर्ण विश्व की नियामक शक्ति के नाम से पुकारी जाती है। शृंखला अथवा नियम जिसके बन्धन में सूर्य-चन्द्र आदि अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। (अथ-१४/१/१)—'ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि···' ।

36. अथ (१२/१/१)—'सत्यं वृहदृतम्...पृथिवीं धारयन्ति' ।

37. वृ० (४/४/५)—'...धर्ममयोऽधर्ममयः...साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति··· ।'

के अनुकूल कर्त्तव्य के पालन में प्रवृत्त करती हैं, उन सब नीतियों की समष्टि को "धर्म" कहा जाता है। अतः यह धर्म ही अखिल-विश्व की प्रतिष्ठा है।[38] इसके अतिरिक्त और कुछ भी शक्तिशाली नहीं है।[39]

हिन्दू धर्म का लक्ष्य :

हिन्दू धर्म का लक्ष्य है, जन्म-मरण बंधन से मुक्ति अर्थात् मोक्ष लाभ।[40] ब्रह्मज्ञान[41] अथवा ब्रह्मप्राप्ति[42] नहीं होने से इस संसार के बंधनों को तोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु ब्रह्म पूर्णतम एवं

---

38. म० ना० (७९/७)—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा··· ।'
39. वृ० (१/४/१४)— '···धर्मात् परं 'नास्ति' ।
40. वृ० (१/३/२८)—'मृत्योर्माऽमृतं गमय' ; मु० (३/२/९)—'विमुक्तोऽमृतो भवति' ; श्वे (१/६-११)—'सर्वजीवे···आप्तकामः'; क० (१/३/८)—'···तत् पदमाप्नोति यस्मात् भूयो न जायते' ; (२/३/१४-१५)—'···अथ मर्त्योऽमृतो···भवत्येतावद्ध्यानुशासनम् ।' (इस लक्ष्य तक पहुचने के लिए जो सिद्धान्त एवं उपकरण अपरिहार्य हैं, उन सवों को ही हिन्दू धर्म का सार तत्व कहना होगा।)
41. क० (१/३/१५)—'अशब्दम्···मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' ; (२/३/८-९) —'···यं ज्ञात्वा···अमृतास्ते भवंति' ; के० (२/५)—'इह चेदवेदीदथ··· अमृता भवंति' ; श्वे० (३/७-८) '···तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति···मृत्युमेति अयनाय' ।
42. क० (२/३/१८)—'···ब्रह्मप्राप्तो···अभूद्विमृत्युः···' ; मु० (३/२/५-७) —संप्राप्यैनम्···एकीभवंति' ; गी० (८/१५-१६) 'मामुपेत्य···पुनर्जन्म न विद्यते' ।
43. श्वे० (२/१५)—'···सर्वतत्वैर्विशुद्धं···' ; (६/१९)—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं···अमृतस्य परं सेतुम्···' ; क० (२/१/१५)'·· शुद्धे शुद्धमासिक्त'' ; मु० (३/१/८)—'विशुद्धसत्वस्तुतस्तु...' ; (३/२/६)'·· शुद्धसत्वाः परिमुच्यन्ते' ; भा० (४/३/२३)—'सत्वं विशुद्धं···अपावृतः' ; (१०/२७/४-११)—'विशुद्धसत्वं···विशुद्धज्ञानमूर्तये' ; ईश० (८)—'शुद्धमपापविद्धम्···' ।

शुद्धतम सत्ता हैं। अतएव ब्रह्म को पाने के लिए[44] अथवा ब्रह्म के साथ एकाकार होने के लिये ब्रह्म की तरह पूर्णत्व अथवा शुद्धत्व अर्जन करना होगा, यही है हिन्दू धर्म की मर्म वाणी।[45]

---

44. 'ब्रह्म' ज्ञान और 'ब्रह्म' प्राप्ति पृथक बोध नहीं है, क्योंकि जो ब्रह्म को जानते हैं, वे ब्रह्म की तरह ही हो जाते हैं। [मु० (३/२/९—')... ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति···' ; वृ० (४/४/२५)—'ब्रह्म भवति य एवं वेद' ; तै० (२/१/३)—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्···' ; श्वे (१/७-८)—'ब्रह्मविदो विदित्वा·· मुच्यते सर्वपाशैः' ; कौ० (१/४)—'ब्रह्मविद्वान् ब्रह्माभिप्रैति]। फिर एक विशेष बात है, ब्रह्म की तरह शुद्ध नहीं होने से "ब्रह्म ज्ञान" अथवा "मैं ही ब्रह्म हूं" यह आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, अथवा अपना स्वरूप जाना नहीं जा सकता (मु० (३/१/५)—'सत्येन क्षीणदोषाः' ; (२/१/८-९) 'न चक्षुषा·· विशुद्धे विभवत्येष आत्मा' ; वृ० (१/४/१०)—'तदात्मानमेवावेत्·· अहं ब्रह्मास्मीति··· ।'

45. बहुतों के मत में, भक्तिमार्ग में मोक्ष अथवा ब्रह्म प्राप्ति साधक का उद्देश्य नहीं है ; इस पुस्तक में अनेक स्थानों पर यह दिखाया गया है कि, उपरोक्त धारणा भ्रान्त है। भक्त मोक्ष नहीं मांगते, यह सत्य होने पर भी, त्रिगुणों से मुक्त नही होने पर भगवद् कृपा की प्राप्ति नहीं हो सकती। (भा० (११/२५/३५-३६)—'···गुणैर्मुक्तो—जीव विनिर्मुक्तो···मयैव ब्रह्मणा पूर्णो···') एवं उस स्तर में पहुंच जाने पर, अयाचित रूप से ही साधक को पुनर्जन्म से मुक्ति मिलेगी। इसका कारण, इस तरह के त्रिगुण मुक्त व्यक्ति ही भगवद्भाव को प्राप्त हुए हैं। [भा० (११/२५/३२) —'निर्जिताः सौम्यमद्भावाय प्रपद्यते' ; (११/२९/३४)—'मर्त्यो··· तदमृतत्वं, प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै।] यही उपनिषद् में कहा गया है, "ब्रह्माप्यय" अथवा गीता की "ब्रह्मभूत" अवस्था। अतः भक्ति मार्ग में भी चरमपरिणति "मुक्ति" ही है। (भा० [१२/१३/१८-२१) —'···भक्त्या विमुच्येन्नरः···विष्णुरातममूमुचत्'] । अधिक तो क्या, मोक्ष लाभ में सहायता के लिए ही अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति में सहायता करने के लिए ही "श्रीमद्भागवत्" या "पूराणों" की रचना की गयी है, यह भागवत् रचयिता श्री व्यास जी का वचन है···[भा० (१/३/४०) इदं भागवतं···ब्रह्म सम्मितम्···निःश्रेयसाय लोकस्य···'] ।

ब्रह्म-सायुज्य (ब्रह्म-सदृश्यता) :

"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति[46]।" अर्थात् ब्रह्म की तरह होने पर ही ब्रह्म प्राप्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्ति संभव है।[47] इस तरह से हिन्दू धर्म ने भगवान को सुदूर स्वर्गराज्य में सार्वभौम सिंहासन पर न बैठा कर उन्हें मनुष्य जीवन के आदर्श एवं लक्ष्य पर पहुंचने के उपाय स्वरूप निर्णीत किया है। मनुष्यत्व से देवत्व में उन्नीत होने के लिए हमें दुर्गुणरहित होना होगा—इस बात का साधारणतया ही अनुमान कर सकते हैं। परन्तु इस दुर्गुणरहित बनने का आदर्श भगवान स्वयं हैं, अतएव वे असीम एवं अपरिमेय हैं। हिन्दू धर्म के इस मूल तथ्य को दूसरे धर्मावलंबियों के लिए समझना सरल नहीं है, यहां तक की अनंतशास्त्रों को विधि एवं निषेध और मंत्र-तंत्र के बोझ में हिन्दू धर्मावलंबियों के लिए भी भूल जाना स्वाभाविक है। परन्तु प्रामाणिक शास्त्र समूहों ने बार-बार सतर्क वाणी में कहा है कि, केवल मात्र याग-यज्ञ, मंत्र-तंत्रों के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है।[48] इसके लिये एकमात्र उपाय है, ब्रह्मसायुज्य प्राप्ति। दूसरे प्रकार से कहने पर हिन्दू-धर्म का उद्देश्य

---

46. बृ० (४/४/६) ; नृ० (ऊ—५/३)।

47. जैसे—दो वस्तु समधर्मी और समभावापन्न न होने से सम्पूर्ण रूप से सम्मिलित नहीं हो सकते हैं, यथा—शुद्ध जल के साथ शुद्ध जल का [क० (२/१/१४-१५): 'यथोदकं···आत्मा भवति···'] अथवा नदी के साथ समुद्र का, (मु० ३/२/८)—'यथा नद्यः···दिव्यम्' ; प्रश्न-(६/५), मिलन होता है। उसी तरह मनुष्य को ब्रह्म के साथ एक होने के लिए ब्रह्म के "सदृश्य" अर्थात् ब्रह्म भाव की उपलब्धि करनी होगी। [मु० (३/२/९)—'···ब्रह्मैव भवति···विमुक्तोऽमृतो भवति' ; भा० (११/-२५/३५-३६)—"सत्वं···ब्रह्मणा पूर्णो···"]

48. बृ० (१/४/१०)—'···योऽन्यां देवतामुपास्ते···न स वेद···' ; मु० (१/२/१२)—'परीक्ष्य ··नास्त्यकृतः कृतेन'। यज्ञ, तपस्या आदि आत्मिक विकास के सहायक हैं, इसमें सन्देह नहीं है [श्वे० (६/३)—'तत्कर्म···

यही है कि, प्रत्येक मनुष्य को श्रेष्ठ आदर्श स्वरूप में उन्नीत कराना होगा। इस तथ्य में किसी भी प्रकार के मतभेद का अवकाश नहीं है। इसका कोई भी विकल्प संक्षिप्त

सूक्ष्मैः'] परन्तु ब्रह्मज्ञान न होने तक मुक्ति लाभ नहीं होगा। [वृ० (४/४/२२)--'यज्ञेन दानेन···मुनिर्भवति' ; श्वे० (४/८)···'यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति'] । वाह्यिक-पूजा आदि से इच्छित-वस्तु लाभ, पूण्यलाभ, स्वर्गलाभ भी हो सकता है, परन्तु उसका क्षय है। [विष्णु (५/५)—'···स्वर्गेऽपि पातभीतस्य···'] । ब्रह्मप्राप्ति के विना मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है। [गी० (४/१२)—कांक्षन्तः··· देवताः ··' ; (९/२३-२४)—'येऽप्यन्यदेवताभक्ता···च्यवन्ति ते' ; (४/२४)–ब्रह्मार्पणं··· 'ब्रह्मकर्मसमाधिना।' ; (२/४२-४३)— 'यामिमां···जन्मकर्मफलप्रदाम्···' ; (९/२०-२१)—'त्रैविद्या···क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति···' ; (८/१६)—'आब्रह्मभुवनल्लोकाः पुनर्जन्म न विद्यते' ; (भा० ४/१४/४१)—'कर्मवल्लीमवलम्ब्य··· गतोऽपि' ; (११/१०/२६)—'तावत्···कालचालितः'; (३/२९/२५) —'अर्चादावर्चयेत्तावत्···यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्' ; मनु (१२/८३-८५)—'वेदाभ्यासस्तपो···ह्यमृतं ततः' ; (१०४) 'तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते' ; (१२५)—'एवं यः···परं पद्म' ; मैत्रा (४/१)—'···आत्मन्येव सायुज्यमुपैति': ; (४/६)—'···एकत्वमेति ···पुरूषस्य···',) । यहां तक कि, तंत्रशास्त्र के अन्यतम प्रधान ग्रंथ महानिर्वाण तंत्र में एक स्थान पर लिखा हुआ है—कलिकाल में वेदमंत्र निष्फल है एकमात्र तंत्र के द्वारा ही सभी कर्म काण्डों में सिद्धि लाभ होगा (२/७, १४-२०) । परन्तु उसी ग्रंथ में यह भी घोषणा की गयी है कि—ब्रह्मोपासना के विना मोक्ष लाभ नहीं हो सकता है उसके लिए किसी प्रकार के आचार, नियम, उपवास की आवश्यकता नहीं है। (२/४०, ५२–५५) : सौ बार जप करने से, होम या उपवास करने से मुक्ति नहीं होती है। एकमात्र "मैं ही ब्रह्म हूं" यह ज्ञान होने पर तभी मुक्ति लाभ होता है—'न मुक्तिर्जपनाद्धोमादुपवासशतैरपि। ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति देहभृत्॥ (१४/११५) । चतुर्दश उल्लास का ११५-१२४ तक के प्रत्येक श्लोक को उपनिषद् तथा हिन्दू धर्म का निर्यास कहा जा सकता है।

कार्यक्रम नहीं है। मैंने पहले भी कहा है कि मनुष्य को देवता के रूप में रूपान्तरित करने के लिए बाहर से कुछ उपकरणों के आहरण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्रह्म मनुष्य की आत्मा में ही प्रतिष्ठित है[49]। ब्रह्मत्व ही मनुष्य का स्वरूप है।[50] अतएव ब्रह्म की तरह होने[51] का अर्थ है [52] मनुष्य की प्रकृत सत्ता अथवा स्वरूप को उद्घाटित करना या विकसित करना। सर्वप्रकार असत् वृत्तियों तथा अज्ञानता के जैविक आवरणों को दूर करने से[53] वही ब्रह्मत्व अपने आप प्रकट अथवा अभिव्यक्त होता है।

यह भी सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि, किसी भी व्यक्ति के लिए मनुष्य जीवन की सीमा अतिक्रमण करके एवं मानव शरीर के रक्त-माँस के सभी विकारों तथा संकीर्णताओं से मुक्त होकर देवत्व में आरोहण करने के लिए, उनके सर्वांगीण उन्नयन की आवश्यकता है। जिन असंख्य सोपानों एवं उपायों का

---

49. वृ० (४/४/५)—'स वा अयमात्मा ब्रह्म···' ; क० (२/२/१२–१३) ; श्वे० (६/१२)—'···तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति···' ; छा, (८/७/४) —'आत्मेति·· एतद् ब्रह्म···' ; मु० (२/२/७)—'दिव्ये ब्रह्मपुरे··· आत्मा प्रतिष्ठितः' ।

50. छा० (८/३/४ ; ८/१२/३)—'···स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते···' ; वृ० (४/४/२२–२५)—'स वा एष महानज आत्मा···एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्मिच्छेते·· ब्रह्म भवति य एवं वेद'। (द्रः टी० २१-२३)।

51. गी० (१४/२) '···मम साधर्म्यमागताः' ; भा० (५/१/२७— 'प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः।'

52. शिव० (६२/६)—'आत्मस्वरूपावस्थानं मुक्तिरित्याभिधीयते।'

53. पा० यो० (१/३)—'···स्वरूपेऽवस्थानम्' ; (४/३४)—'···स्व-रूप प्रतिष्ठा' ; वृ० (४/४/८) ; क० (२/३/१४-१५)—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते·· एतावद्ध्यनुशासनम्' ; भा० (२/१०/६) ; (१/३/३४) —'महिम्नि स्वे महीयते' ; ब्र० सू० (४/४/१)—'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' ! (द्र० टी० २६)।

अवलंबन करने से इस अभियान के शोर्ष देश में पहुंच सकते हैं, उसकी प्राथमिक परन्तु आवश्यक सीढ़ी है—सदाचार अनुष्ठान ।[54]

आचार :

आचार, आचरण, चरित्र शब्द एक हो चर धातु (अर्थ-चलना) से उत्पन्न हुए हैं। अतः आचार शब्द का प्रयोग करने से जीवन-यापन की पद्धति को समझा जाता है, एवं जो व्यक्ति जैसे आचरण का पालन करता है, उसका चरित्र भी उसी तरह से तंयार होता है।[55] अर्थात् अहिंसा, सत्याश्रय, अद्रोह, क्रोधहीनता, सरलता अतिथि सेवा इत्यादि सदाचारों का अनुष्ठान करने से दैव भाव व "दैवी-सम्पद" ; एवं दंभ, दर्प, अभिमान, अशुचि प्रभृति कदाचार अनुसृत होने पर असाधु चरित्र अथवा "आसुरी-सम्पद" उत्पन्न होता है। सिर्फ इतना ही नहीं, उन सद् अथवा असत् सम्पदों को लेकर ही प्रत्येक मनुष्य दूसरे जन्म में जन्म ग्रहण करता है।[56] अर्थात् यदि कोई सदाचार-निष्ठ होता है, तो उसे मोक्ष-यात्रा में सुविधा होती है और जल्द-से-जल्द वह मुक्त हो जाता है। किन्तु कदाचार-लिप्त होने से उन्हीं आसुरी संपदों का बोझ उसके बंधन का कारण होता है एवं उसकी मोक्ष प्राप्ति को विलम्बित करता है।[57]

---

54. मनु (१/१०८-११०)—'आचारः परमो धर्मः···सर्वस्य तपसो मूलमाचारं·· '; तै० (१/११/२)—'···यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि···नो इतराणि'।
55. वृ० (४/४/५)—यथाचारी तथा भवति···'।
56. गी० (१६/२-४)—'अंहिसा···आसुरीम्' [सदाचार के द्वारा इस लोक में एवं परलोक में कौन -कौन सा श्रेयलाभ होता है, इस संबंध में महाभारत में विशेष रूप से व्याख्या की गयी है। (अनु० १-४/६-६, १५४-६)]
57. गी० (१६/५)—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय···मता'।

सदाचार :

इसलिए चारित्रिक उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए जीवन के प्रत्येक चरण में सदाचार का पालन करना होगा, इसमें किसी तरह के प्रश्न का अवकाश नहीं है ; परन्तु "सदाचार" से "किस वस्तु" का बोध होता है—विभिन्न देशों के धर्म एवं सम्प्रदायों में, इस विषय में व्यापक मतभेद मनुष्य जाति के इतिहास में एक चिरंतन समस्या के रूप में उपस्थित है। धर्म ध्रुवतारे के जैसा एक अविचलित, अनुकरणीय आदर्श है, पर "सदाचार" वैसा नहीं हो सकता। कारण देश, काल, जातिगत वशिष्ट्य इत्यादि बहुविध कारणों से मनुष्य का अभाव-अभियोग, खाद्याखाद्य, सामाजिक समस्यायें, इत्यादि विभिन्न प्रकार की समस्याओं का होना स्वभाविक ही है।[58] इसलिए उन समस्याओं के समाधान को प्रणाली भी एक ही प्रकार की नहीं हो सकती है। इसीलिए ही सर्वज्ञानमय मनु-महाराज ने सदाचार को धर्म का लक्षण एवं तपस्या का मूल[59] कह कर अभिहित करने के उपरान्त इसे देश-काल सापेक्ष कह कर भी समझा दिया है। मनु संहिता में उन सब आचारों को ही श्रीमनुजी ने सदाचार कह कर अभिहित किया है जो आचार अनुष्ठान-परम्परा के अनुसार ब्रह्मावर्त नामक भूखण्ड में उनके जीवन काल में वहां की जनता में प्रचलित थे।[60] श्री मनु

58. उदाहरण स्वरूप—एक देश में जो अभक्ष्य है दूसरे देश में वही वस्तु ऋतु भेद से अथवा दूसरे खाद्य के अभाव में भक्ष्य हो सकता है ; जिस रीति का विवाह (यथा, महाभारत युग का स्वयंवर) अथवा जिस रूप में कन्या के साथ विवाह एक युग में अथवा एक देश में वैध या निषिद्ध था वही दूसरी जगह अवैध अथवा उचित हो सकता है। ब्रह्म-वैवर्त पुराण में (१८०/१८५), कलियुग में अश्वमेध, गोमेध इत्यादि यज्ञ तक निषिद्ध किया गया है।

59. मनु (१/१०८-११० ; २/६, १२)।

60. मनु (२/१८)—'तस्मिन् देशे···सदाचार उच्यते'।

महाराज ने यह भी साफ-साफ शब्दों में कहा है कि, जीवन का उद्देश्य है मोक्ष लाभ, एवं उसका उपाय है ब्रह्मज्ञान या आत्म-ज्ञान।[61] अतः लक्ष्य ही मूल है और उस पर पहुंचने का उपाय गौण है। आध्यात्मिक जगत् के निवृति मार्ग में पहुंचने के बाद जो लोग आत्मज्ञान में यत्नवान हैं उनके लिए शास्त्रोक्त कर्म आचार अनुष्ठानों को त्याग देना दोष नहीं है।[62]

यह कहना बाहुल्य है कि "श्रुति" ही ब्रह्म ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान की जन्मभूमि है, एवं यदि किसी भी विषय में देशाचार अथवा लोकाचार श्रुति-विरूद्ध प्रतीत होता है, तो उस समय वेद ही ग्रहणयोग्य होगा एवं मानव-सृजित शास्त्रों का विधान परित्याज्य होगा।[63] सदाचार क्या है? अवस्था के भेद से उस विषय में संशय उत्पन्न हो सकता है, यह बात वेद में भी लिखी गयी है। उस संदेह की अवस्था में—धर्म परायण तथा निष्काम महापुरुषों के द्वारा आचरित पथ के अनुसरण का उपदेश दिया है।[64]-[65] यह प्रश्न

61. मनु (१/६७)—'···ब्रह्मवेदिनः'; (१२/१०४)—'·· विद्ययामृतमश्नुते'।
62. मनु (१२/६२)—'यथोक्तान्यपि ·· आत्मज्ञाने ··यत्नवान्'। इसलिए ही सन्यासी के लिए शिखा, यज्ञोपवीत, प्रणव को छोड़कर कोई भी उपासना, यज्ञादि एवं क्रियादि वर्जनीय है। (ना० प० (३/७७-८५); (६/३३-३५)—'न स्नानं न जपः संत्यजत्···लोकाचारं···'; जा० (१३); स० (५); प० (४, १३)—'···शिखा···यागंच··· सर्वकर्माणि संन्यस्य···नावाहनं न विसर्जनं न मंत्रो···'; जा० (१८) —'···शिखा यज्ञोपवीतंच·· परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्'।
63. मनु (१२-१४-१६)—'पितृदेवमनुष्याणां·· निष्फलान्यनृतानि च'; (१२/१०६)—'···वेदशास्त्रविरोधिना नेतरः'; (२/१२-१३) —'वेदः स्मृतिः ··प्रमाणं परमं श्रुतिः'।
64. तै० (१/११/३-४)—'अथ वृतविचिकित्सा वा स्यात् यथा ते तेषु वर्तेरन्···वर्तेथाः'।
65. विष्णुपुराण में, निष्पाप साधु व्यक्ति के आचरण को ही सदाचार कहा गया है। "साधवः क्षीणदोषास्तु···स उच्यते' (३/११/३)।

अवश्य उठ सकता है कि, शास्त्र ही यदि प्रमाण है तो महापुरुषों के आचरण की तरफ दृष्टिगत होने से क्या लाभ है ? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत के वन पर्व में दिया हुआ है।[66] विभिन्न शास्त्रों के मध्य भी मतभेद प्रतीत होता है। इस तरह आपात-विरोधी मतों से विभ्रान्त होने पर, साधारण मनुष्य के लिए—महापुरुषों ने अपने अपने जीवन में उन सब मतभेदों में से जिस मार्ग का अनुसरण कर सिद्धि लाभ किया है—उसी का अनुसरण करना उचित है। इसीलिए ही महाजन अनुसृत सदाचार हिन्दू धर्म के उत्पत्तिस्थलों के मध्य अन्यतम है।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्थापित हुआ कि जैसे सत्यभाषण, अहिंसा प्रभृति कुछ सदाचार के नियम हैं, जो देवत्व पद में पहुँचने के लिए अपरिहार्य हैं ; उसी तरह धर्म के मूल उद्देश्य को भूलकर शास्त्र में लिखित प्रत्येक आचार को ही "धर्म" मान लेने से, उसकी अतिशयता मनुष्य को अवश्य ही विपथगामी कर सकती है (उदाहरण-स्वरूप—शुचिवायु)। परन्तु यदि यह स्मरण रहे कि प्रत्येक आचार की सृष्टि के पीछे कुछ न कुछ विशेष उद्देश्य निहित होता है एवं तत्कालिन समाज में उत्पन्न किसी विशेष समस्या के समाधान का प्रयास होता है, तब अवस्था भेद में उन आचारों का संशोधन तथा परिवर्तन करने से भी धर्म की कुछ हानि नहीं होगी अथवा मोक्ष प्राप्ति में बाधा नहीं होगी।[68]

---

66. महा० (वन, ३१३/११७)—'तर्कोऽप्रतिष्ठः महाजनो येन गतः स पन्थाः' ; गी० (३/२१)—'यद् सदाचरति वा श्रेष्ठः…' ।

67. द्रः वि० वा० र० (५/६३-४) ।

68. उदाहरण स्वरूप उल्लेख किया जा सकता है कि मनुमहाराज के समय में कन्या के पिता वरपक्ष से दहेज अथवा शुल्क ग्रहण करते थे, इस कुप्रथा को समाज से हटाने के लिए मनु जी ने इस प्रथा को "अपत्य-विक्रय" के नाम से अभिहित करके एवं पाप कह कर निंदित किया

संक्षेप में धर्म के प्रथम स्तर में आचार पालन आवश्यक कर्त्तव्य एवं सदाचार धर्म का सोपान स्वरूप है। परन्तु धर्म का उद्देश्य आचार अनुष्ठानों से कहीं ऊंचा है। स्थान, काल, पात्र भेद से आचार का परिवतन हो सकता है। परन्तु धर्म शाश्वत एव विकारहीन नोति के ऊपर प्रतिष्ठित है। अतः सामाजिक अथवा मौलिक तत्व को ही हम धर्म का सार तत्व कह सकते हैं।

पूण्य कर्म :

इस प्रसंग में पूण्यकर्म के सम्बन्ध में भी उल्लेख करना उचित है। किसी-किसी धर्म में लोकहितकर कार्य अथवा सत्कर्म को धर्म की चरम अवस्था के रूप में माना जाता है। परन्तु हिन्दू शास्त्रों में धर्म का उद्देश्य पूण्य कर्म से भी ऊपर है—वह है "ब्रह्म प्राप्ति"। उसका कारण यह है कि एकमात्र ब्रह्मप्राप्ति से ही मोक्ष अथवा जन्म-मरण

हैं [मनु० (३/५१-५२)—'न कन्यायाः पिता···यान्त्यधोगतिम्' ; ९/९८]। किन्तु मनु संहिता में वर पिता के अनुरूप (कन्या के पिता को तरह) दहेज ग्रहण करने के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अनुशासन नहीं है क्योंकि तात्कालीन समाज में वर दहेज का प्रादुर्भाव नहीं था जो अभी प्रचलित है। हिन्दू धर्म में वर दहेज ग्रहण कोई सदाचार नहीं है कारण कन्या के पिता को यदि शुल्क लेने पर "अपत्य-विक्रय" का पाप लगता है, तव वर के पिता को भी वही पाप लगेगा।

दूसरी तरफ सत्यनिष्ठ एवं धर्ममूलक होने पर भी अप्रिय सत्य-भाषण सदाचार नहीं होगा। (मनु—४/१३८)। महाभारत में अपनी प्राणरक्षा के लिए असत्य बोलना अधर्म कहा गया है। (म० भा० शान्ति—११०/११ , परन्तु दूसरे की प्राणरक्षा के लिए मिथ्या भाषण का अनुमोदन किया गया है। कर्ण (६९/२३, ५७, ६०)—'प्राणिनामवधस्तात अनृतां वा वदेद् वाचम्···'। क्योकि जो जीवों को "धारण" या रक्षा प्रदान करे, वही धर्म है (कर्ण—६९/५८)।

के चिरंतन दुःख से परित्राण मिलता है।[69] केवल मात्र पूण्यकम अथवा सात्विक क्रिया करने से "पूण्यलोक" अथवा स्वर्गलाभ हो सकता है।[70] परन्तु उस पुण्य की सुकृति समाप्त होने पर फिर से जन्म ग्रहण करना होगा।[71] अत: समस्या का समाधान नहीं हुआ।

हिन्दू धर्म के इस तत्व की गंभीरता को न समझ कर कुछ विधर्मी समालोचकों ने कहा है कि—हिन्दू धर्म स्वार्थपरता का धर्म है, इस धर्म के द्वारा जगत् का अथवा आर्त्त मानव जाति का कोई कल्याण नहीं होगा। इस भ्रांत धारणा को और भी बढ़ाचढ़ाकर अति-रंजित करके आजकल के अशिक्षित हिन्दूलोगों को लोभ दिखाकर धर्मान्तरित किया जा रहा है। किन्तु इस दुष्कर्म के लिए मूलत: शिक्षित हिन्दू ही उत्तरदायी हैं, क्योंकि वे हिन्दू धर्म के आदर्श को भूलकर एकान्त स्वार्थी हो जीवन यापन कर रहे हैं। अपने धर्म के सम्बन्ध में ज्ञान नहीं होने के कारण 'भारत सेवाश्रम संघ' अथवा 'रामकृष्ण मिशन' कि तरह सर्वजनादृत सेवा प्रतिष्ठानों को सहायता न करके, जो लोग छल-बल और कौशल के द्वारा धर्मान्तरण के माध्यम से हिन्दू जाति को बलहीन कर रहे हैं, उन सब विधर्मी प्रतिष्ठानों को दानादि द्वारा परिपुष्ट कर रहे हैं। इन सब स्वधर्म

69. गी० (२/७२)—'एषा ब्राह्मी स्थितिः··· ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'; कौ० (१/४)—'···वित्सुकृतो···ब्रह्मविद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति'; भा० (३/-२७/२६-२९)—'एवं विदिततत्वस्य···कैवल्याख्यं मदाश्रयम्···यद् गत्वा न निवर्त्तेत।'

70. छा० (२/२३/१)—'त्रयो धर्मस्कन्धा···ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'।

71. गी० (९/२०-२१)—'त्रैविद्या···ते तं भूक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति···'; भा० (५/१४/४१)—'कर्मवल्लीमवलम्ब्य ···पुनरप्येवं···नरलोकसार्थमुपयाति···'; (११/१०/२६)—'तावत् स मोदते स्वर्गे···क्षीणपुण्यः···'; (११/२५/२१-२२)—'उपर्युपरि गच्छन्ति···स्वर्यान्ति'।

विद्वेषी हिन्दुओं के व्यक्तिगत आचरण को देखकर "हिन्दू-धर्म" के संबंध में निजी धारणा नहीं बनानी चाहिए।

सेवा धर्म :

अतः यह देखना चाहिए कि हिन्दू धर्म में "सेवा-प्रकल्प" की स्थिति क्या है ? हिन्दू धर्म के मत में, जन सेवा केवल मात्र सामाजिक कर्त्तव्य अथवा पुण्यकार्य नहीं है। यह सेवा कार्य, मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति अथवा ईश्वर प्राप्ति के लिए जो साधना की जाती है—उसका चरम सोपान है। अर्थात् धर्म के विभिन्न अनुशासनों एव नियमों का पालन करके साधक जब देवत्व का स्पर्श लाभ कर लेता है, तब भी मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्ति के लिए और भी कुछ बाकी रह जाता है, और वह है लोक-संग्रह[72] अथवा सर्वभूतहित-साधन-रूप कार्य।[73]

सर्वभूत में या सर्वत्र ब्रह्म दर्शन :

चूंकि लोक सेवा हिन्दू धर्म का सोपान है, इसलिए इस प्रकल्प की विस्तृत व्याख्या के लिए हमें अन्तिम अध्याय तक प्रतीक्षा करनी होगी, तथापि यहां इस मौलिक तत्व का आभास देना आवश्यक है। यम-नियमादि तपस्या की सहायता से साधक जब देहाभिमान निःशेष रूपसे त्याग करके सर्व-कामना से मुक्त होता है तब वह आत्मस्वरूप की उपलब्धि करके "अहं ब्रह्मास्मि" की घोषणा करने में समर्थ होता है। तब ब्रह्म-सम्पादन में बाकी रह ही क्या गया ? इस प्रश्न का उत्पन्न होना स्वभाविक है। गीता में कहा गया है—जब साधक सभी जगह सम दर्शन अथवा सर्वभूतों के बीच ईश्वर को सम-भाव में अवस्थित देख सकेगा तभी ब्रह्म-सम्पादन होगा।[74]

---

72. गी० (३/२०,२५)।
73. गी० (५/२५,६/३१)—'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं··सर्वभूतहिते रताः'।

इन दोनों उक्तियों में असामंजस्य कुछ भी नहीं है, परन्तु आत्म-दर्शन एवं सर्वत्र ब्रह्मदर्शन एक ही साधना के दो अंग हैं, जिनपर युगपत् अर्थात् एक साथ ही अनुशीलन यानि अभ्यास करना होगा, एवं एक को छोड़कर एक मे सिद्धि लाभ करना असम्भव है। कारण ये दोनों परस्पर परिपूरक हैं। अर्थात् जब अपने अन्दर एवं अन्यों के मध्य भी ब्रह्म को समान भाव से दर्शन करने की क्षमता विकसित होगी, तभी साधक को ब्रह्म-प्राप्ति होगी या मोक्ष-साधना की पूर्णाहुति होगी।[74]

स्वामी विवेकानंद ने हिन्दू धर्म की इस द्विमुखी धारा को एकाकार करके कहा था—"आत्मनः मोक्षार्थं जगद्धिताय च"[75] अर्थात् अपने हृदयाकाश में आत्मा के अवस्थिति की उपलब्धि करने से साधक की कामना एवं वासना की शृंखलाएं छिन्न होकर[76] उसे जीवन मुक्ति प्राप्त कराती हैं। परन्तु इतना होने पर भी उसका ब्रह्म-ज्ञान सम्पूर्ण नहीं हुआ है। कारण, ब्रह्म जैसे उनके अन्दर विराजमान हैं, उसी प्रकार वे सभी सृष्ट-जीवों में अवस्थित हैं।[77-78] इसलिए ब्रह्मदर्शन अथवा ब्रह्मज्ञान को सम्पूर्ण कर मोक्ष लाभ करने हेतु "मेरे अन्तर में जो हैं वही सबमें हैं" यह अनुभूति प्रत्यक्षीभूत करनी होगी।[78-79] जो व्यक्ति इस प्रकार की

74. गी० (१३/२७-३०)—'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्···ब्रह्म सम्पद्यते तदा'; श० अ० (५३,५५)—'आत्मत्वेन सदा सर्वं···ब्रह्मैव सर्वात्मकतया स्थितः··· ।'
75. वि० वा० र० (६/४८); (१०/१४३)।
76. मु० (२/२/७-८)—'यः सर्वज्ञः···ब्रह्मपुरे···प्रतिष्ठितः···तस्मिन् दृष्टे परावरे।'
77. श्वे० (३/११)—'सर्वभूत गुहाशयः···सर्वगतः शिवः'; (६/११)—'सर्वभूतेषु गुढः··· ।'
78. क० (२/२/१०-१२)—'···सर्वभूतान्तरात्मा···तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति···तेषां सुखं शाश्वतम्··· ।'

अपरोक्षानुभूति करने की क्षमता पाते हैं, वे ही जन्म मृत्यु रूप संसार चक्र से मुक्त होकर अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं।[79]

हम सृष्टि तत्व प्रसंग में देखेंगे कि—हिन्दू धर्म के मतानुसार ब्रह्म एकाधार में सृष्टि का कारण एवं उपादन हैं—वे अपने को ही विस्तृत करके विभिन्न रूप में प्रकाशित हुए हैं। अत: इस जगत् में जीव ही नहीं बल्कि जड़-चेतन के प्रत्येक अणु में भी वे ही विद्यमान हैं। मनुष्य भेद बुद्धि द्वारा प्रेरित होकर अर्थात् उस सर्वव्यापी ब्रह्म से मैं पृथक हूँ—ऐसी धारणा के वशीभूत होकर उन्हें खो बैठा है।[80]

परन्तु जिस क्षण साधक का देहबोध समाप्त हो जाता है एवं आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है, तभी उसकी भेद-बुद्धि स्वत: नष्ट हो जाती है एवं वह सभी के अन्तस्थल में एक को ही (ब्रह्म को) प्रकाशमान देखता है।[81] तब उसे यह अनुभूति होती है कि उसकी कोई पृथक सत्ता नहीं है। वह एक असीम चित्समुद्र में एक अविच्छिन्न बुलबुले की तरह है, और वही अनन्तराशी समग्ररूप से ब्रह्म है तथा उसका प्रतिकण भी ब्रह्ममय है। पृथक नाम एवं उपाधि ग्रहण करके जिस शरीर के अभिमान में वह दूसरे या अपर जीवों से अपने को पृथक समझने लगा था, वह एक भ्रम है और वही बुद्धि उसे विभिन्न देहों में बार-बार जन्म ग्रहण करने को बाध्य करती है।[82] अब वह स्वय में ही प्रकृत रूप से अनुभव करता है कि, परिशुद्ध जलराशि के प्रत्येक कणों के मध्य कोई अन्तर नहीं है।[83]

79. के० (२/५)—'···भूतेषुभूतेषु विचित्य···अमृता भवन्ति।'
80. क० (२/१/१४)—'···धर्मान् पृथक ··अनुविधावति।'
81. गी० (१३/३०)—'यदा भूतपृथग् भावमेकस्थमनुपश्यति···ब्रह्मसम्पद्यते तदा।'
82. क० (२/१/१४-१५)—'यथोदकं···शुद्धेशुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति···'।
83. वृ० (२/४/१२)—'स यथा···न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति···'।

वह मंदिर में जिसकी विग्रह रूप से उपासना कर रहा था वह ब्रह्म ही बहुरूप से उसके सामने अविभूॅत हुए हैं।[84] इस अवस्था में द्वैत उपासना की और आवश्यकता नहीं रहती है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[85] इस महावाक्य का तात्पर्य सम्यक उपलब्धि करके कुत्ते आदि नीच जीव अथवा चण्डालादि हीन वृत्ति के मनुष्य, जिनसे वह इतने दिनों तक घृणा करता रहा, आज वह निष्कपट चित्त से उन सभी के चरणों में प्रणत होकर उनकी उपासना अथवा सेवा करके "सब कुछ ही ब्रह्ममय है"—इस तत्व की प्रत्यक्ष अभिज्ञता अर्जन करके निःसंशय होता है[86] एवं स्वय भी ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।[87]

इसीलिए "अहं-ब्रह्मास्मि"[88] इस ज्ञान लाभ के बाद भी, जीव-जगत् से मुक्त व्यक्ति मृत्युपर्यन्त लोगों के कल्याण[89] के लिए इस भौतिक शरीर को धारण किए रहते हैं। उनकी अपनी कुछ भी कामना नहीं होती है, एवं दूसरे लोग उनके पास प्रार्थी नहीं होने पर भी, वे वसन्त ऋतु की तरह[90] अयाचित भाव से सर्व जीवों की सेवा करके एवं उनलोगों का दुःख दूर करके—"आत्म-बोध एवं सर्वत्र ब्रह्म दर्शन"—इन दोनों प्रकार के (द्विमुखो) साधना

84. श्वे (४/१३-१७)—'यो देवानामधिपो··ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषुगूढं ··एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति'; वृ० (२/४/१४)—'यत्र हि द्वैतमिव··· केन कं विजानीयात्···'।
85. छा० (३/१४/१)—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म···'।
86. भा० (११/२९/१३-१८)—'इति सर्वाणि भूतानि··प्रणमेद् दण्डवत् भूमौ ··सर्वं ब्रह्मात्मकं··· मुक्तसंशयः।'
87. गी० (५/१८)—'··शुनि चैव श्वपाके च···समदर्शिनः'।
88. वृ (१/४/१०)—'···य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मिति स इदं सर्वं भवति'।
89. भा० (१/४/१२)—'शिवाय लोकस्य...जीवन्ति नात्मार्थम्...'।
90 श० वि० (३७-३८)—'···वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः···स्वत एव यत् परश्रमापनोदप्रवणम्...अवति क्षितिं किल।'

में जीवन उत्सर्ग करते हैं। साधक जब तक इस लोक सेवाव्रत को ग्रहण नहीं करते हैं तब तक भगवत् प्राप्ति सम्पूर्ण रूप से नहीं होती है ; क्योंकि जिसे अपने पराये का ज्ञान है उसे तो एकात्मबोध नहीं हुआ है।[91] जब वह भेद बुद्धि नष्ट होगी तभी वह महापुरुष दूसरे के दुःख में स्वय के दुःख की तरह व्यथित हो सकता है।[92] आशा है उपरोक्त सभी विचारों के अवलोकन के बाद अब इस पुस्तक के विषय वस्तु की परिधि स्पष्ट हो गई है।

सक्षेप में कहा जाय तो इस पुस्तक में मात्र एक ही गीत गाया गया है—"मनुष्य का ब्रह्मत्व मे आरोहण।" "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"[93] अन्य जो कुछ भी इस पुस्तक में कहा जाएगा, वह सब उस गीत का ही आलाप, तान, विस्तारादि मात्र होगा। क्योंकि वह गीत आयत्त होने पर और कुछ भी गाने की आवश्यकता नहीं होगी। अमृतलाभ के महामंत्र का संधान जिन्हें एक बार मिल गया है, वे क्या दूसरी बातों[94] की चर्चा करेंगे ? जो सर्वज्ञाता तथा आदि-

---

91. गी० (६/२६-३१)—'सर्वभूतस्थमात्मानं...मां भजत्येकत्वमास्थितिः...'; भा० (३/२८/४२/—'सर्वभूतेषु···तदात्मताम्' ; (११/२/५२)—'न यस्य स्वः परः इति···भिदा। सर्वभूतसमः शान्तः···भागवतोन्तमः'।
92. गी० (६/३२)—'आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति···मतः।'
93. वृ० (४/४/६) ; नृ (ऊ ५/३)। [आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को सद्‌गुणी होना होगा। यह बात प्रायः सब धर्मों में ही कही गयी है किन्तु यदि कोई यह कहे कि "मैं ईश्वर के समान सद्‌गुणी होऊगाँ", तब कुछ धर्मों में उसे ईश्वर द्रोहिता के अपराध में चरम दण्ड भोगना होगा। दूसरी तरफ हिन्दू धर्म का मत सभी प्रकार से युक्ति सम्मत है, क्योंकि कणमात्र आविलता रहने पर, ईश्वर के पास जाऊंगा, अथवा उसके साथ मिलूंगा या उसकी कृपा प्राप्त करूंगा, ऐसी आशा ही नहीं कर सकते।]
94. मु० (२/२/५)—'···तमेवैकं जानथ···अन्या वाचो विमुंचथ···' ; वृ० (४/४/२१)—'तमेव धीरो विज्ञाय···नानुध्यायाद् वहूच्छब्दान्···' ; मु० (३/१/४)'···विद्वान् भवते नातिवादी···'।

अंत का भी ज्ञाता है, यदि उसे ही जान लिया जाय तो फिर जानने के लिए कुछ रहता ही नहीं[95], क्योंकि उन्हें जान लेने से सभी ज्ञान स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं।[96]

अंत में निवेदन यह है कि हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में कुछ भी नयी बात कहने की संभावना अथवा गुंजाइश नहीं है। क्योंकि विभिन्न युगों में त्रिकालदर्शी ऋषि, मुनि एवं महापुरुष सभी प्रकार के परीक्षणों के द्वारा इस धर्म के प्रत्येक तथ्य पर आद्योपान्त विचार, समीक्षा एवं पर्यालोचन कर गए हैं। अतः लेखक का एक-मात्र उद्देश्य है—उन सब तथ्यों का न्यूनतम सर्वजन-ग्राह्य सार संकलन करके हिन्दुओं के सामने उपस्थित करना। यह पुस्तक वेदान्त दर्शन का भाष्य नहीं है, वरन् विशाल हिन्दू धर्म का सार तत्व प्रस्तुत करने का प्रयास मात्र है।

———

95. गी (१०/४२)—'···अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन···'।
96. छा० [६/१/३-६/१६/३]—'येनाश्रुतं श्रुतं ··अविज्ञातं विज्ञातमिति··· 'स यथा···स आत्मा तत्वमसि। वृ० (१/४/७)—'अनेन ह्येतत् सर्वं वेद···'

प्रथम अध्याय

हिन्दू धर्म सार्वजनिकता का एक विश्वकोष

हिन्दू धर्म का विशालत्व :

विश्व में हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में जितनी भ्रान्त धारणाएं व्याप्त हैं, उतनी शायद ही किसी अन्य धर्म के विषय में हों। इसका कारण यह नहीं कि, हिन्दू धर्म व्याख्यातीत, दुर्बोध्य अथवा युक्ति-हीन है, बल्कि इसका कारण है हिन्दू धर्म का विशालत्व। हिन्दू धर्म ने किसी एक अनन्य मतवाद या अनुशासन की सृष्टि नहीं की। कुछ विश्वव्यापक मौलिक सत्यों एवं उन सत्यों से उद्‌भूत विभिन्न दृष्टिकोण के द्वारा जो-जो सिद्धान्त निरूपित हुए हैं, उन सभी की समष्टि पर ही हिन्दू धर्म प्रतिष्ठित है। यह एक विशाल अश्वत्थ वृक्ष की तरह है, जिसकी शाखाएं-प्रशाखाएं इतनी असंख्य हैं, कि हिन्दू-धर्मावलम्बी व्यक्तियों को भी बीच-बीच में स्मरण कराना पड़ता है कि, इस धर्म की कोई एक शाखा अथवा उपशाखा मात्र ही हिन्दू धर्म का पूर्ण परिचय नहीं है। शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य, वैष्णव प्रभृति कितने सम्प्रदाय ; कर्म, भक्ति, राजयोग इत्यादि कितने मार्ग इस धर्म के उदर में समाए हुए हैं, इसका कोई अन्त नहीं है। ऐसी परिस्थिति में एक निष्ठावान हिन्दू के लिए कौन सा पथ अवलम्बन करने योग्य है, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। परन्तु इस दुरूह प्रश्न की भी मीमांसा है। इस सम्बन्ध में हमें यह मानकर चलना होगा कि इसमें से किसी एक को भी छोड़ देने से हिन्दू धर्म का समग्र रूप प्राप्त नहीं होगा। दूसरी तरफ यह सब आपात-विरोधी मतवाद

स्वयं ही सम-सूत्र में ग्रथित हैं; उस सूत्र का आविष्कार कर लेने से ही, हिन्दू धर्म क्या है, इस प्रश्न का समाधान हो जाएगा।

वेद, वेदान्त, उपनिषद् :

इस विराट महीरूह का मूल केन्द्र चारों वेदों में निहित है। 'वेद' शब्द का अर्थ है "ज्ञान"। इसी वेद से ही 'हिन्दू धर्म' उत्पन्न हुआ था, ईसा मसीह के सहस्त्रों वर्ष पहले, जब कि बहुत से देशों में सभ्यता का अरूणोदय भी नहीं हुआ था। वेदरूपी यह विश्वकोष—कर्म काण्ड एवं ज्ञान काण्ड, इन दो अंशों में विभक्त है।[1] संहिता और ब्राह्मण को लेकर कर्मकाण्ड एवं उपनिषद् अथवा वेदान्त को

---

1. चारों वेदों में ऋग्वेद प्राचीनतम है एव ऋक् और अथर्व इन दोनों वेदों के रचनाकाल के मध्य एक वृहद् अन्तराल है। ईसा के जन्म के अनेक सहस्र वर्ष पूर्व ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव के कारण ऋग्वेद का काल-निर्धारण गवेषणा व अनुमान के सापेक्ष है। वर्तमान युग के ग्रन्थ समूहों की तरह, ऋग्वेद की समुदय सूक्तियां समष्टिगत रूप से एक ही समय मे नहीं रची गयीं। यहां तक कि चारों वेदों की रचना भी एक ही युग में नहीं हुई। सामवेद के अन्तर्गत मैत्रायणी उपनिषद् में (६/५) एवं मनु संहिता में (१/२३) मात्र ऋक्, यजु एवं साम, इन्हीं तीन वेदों का उल्लेख किया गया है। इतना ही नहीं, अमरकोष में भी तीन ही वेदों का उल्लेख है। दूसरी ओर सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद् में (७/१/२)—अथर्ववेद का भी नाम है।

   इन उपरोक्त घटनाओं को छोड़कर, व्यास-कृत वेद संकलन एवं विभाजन ऋग्वेदीय सभ्यता से परवर्ती काल की घटना है। जो लोग वैदिक सभ्यता के काल को स्वेच्छानुसार अर्वाचीनता में आवद्ध करना चाहते हैं, वे लोग इन मौलिक तथ्यों की ओर ध्यान देने को भी तैयार नहीं हैं।

   किसी-किसी पाश्चात्य अनुसंधानकर्ता के अनुसार ऋग्वेद का रचनाकाल ई० पूर्व, १५वीं शती है। परन्तु यह यदि व्यास जी द्वारा रचित ग्रंथ का ही समय हो, तो भी गुरू-शिष्य परम्परा में प्रचारित होने के कारण, इस रचना का आदिकाल अनेक युग पूर्व होने को बाध्य है। हड़प्पा,

ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। आरण्यक नामक दूसरे अंश में कर्म एवं ज्ञान दोनों की ही बात कही गयी है।[2] याग-यज्ञ प्रभृति क्रियायें एवं मंत्र इत्यादि संहिता और ब्राह्मण में हैं। प्रत्येक वेद के अन्तिम भाग में वेदान्त अवस्थित है। समस्त वेदों से मंथन करने के बाद "ज्ञान का अमृत भण्डार" उत्पन्न हुआ है, इसे भगवत् विषयक गवेषणा कहा जा सकता है। इसी का दूसरा नाम "उपनिषद्" है, अर्थात् वह विद्या जो गुरूगृह में रहकर सीखी जाती है। जगद्गुरू शंकराचार्य के मत में 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ हैं ऐसी विद्या जिसके द्वारा अविद्याजन्य मोह को दूर किया जाता है एवं जन्म-मृत्यु रूपी सांसारिक बंधन को तोड़ा जाता है। इसकी दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—जो विद्या ब्रह्म के निकट पहुंचाती है। इसलिए समस्त वेदों म श्रेष्ठ इस विद्या का अभिप्राय "ब्रह्म विद्या" से है।[3]

मोहनजोदड़ो प्रभृति स्थानों पर पुरातत्व आविष्कारों के कारण क्रमशः यह धारणा दृढ़तर होती जा रही है कि, वैदिक सभ्यता का समय ईसा के जन्म से ४००० वर्ष पूर्व था।—[जगदीश्वरानंद—ऋग्वेद (३)-(४); हिरण्मय वन्द्योपाध्याय—ऋग्वेद परिचय (हरफ ऋग्वेद संहिता; १ म खण्ड, ३३—४६); वि० वा० र० (६/११३); उ० गी० (१)—भूमिका, ११-१२]। इस सिद्धान्त के अनुसार हिन्दू धर्म की आयु छः हजार वर्ष होती है। यह पृथ्वी के वर्तमान धर्म समूहों के मध्य सर्वाधिक प्राचीन है; इस विषय में संदेह का कोई अवकाश नहीं है।

2. ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् को तीन भिन्न-भिन्न विषय कहना उचित नहीं है, क्योंकि आरण्यक ब्राह्मण में ही निहित है। जिस विद्या को गुरू वाणप्रस्थी शिष्य को वनों में निवास करते हुए प्रदान करते थे, वेद के उसी अंग को 'आरण्यक' की संज्ञा से अभिहित किया है एवं उपनिषद् इसी आरण्यक के अंगीभूत है। परन्तु उपनिषदों में ब्रह्मविद्या अथवा ब्रह्मज्ञान का प्राधान्य है, इसीलिए इसे ज्ञान काण्ड भी कहा जाता है।

3. के० (४/७)—'उपनिषद् ब्राह्मीं वाव···अब्रूमेति'; छा० (३/११/३)—'···ब्रह्मोपनिषदम् वेद'।

हिन्दू धर्म के अन्य सभी शास्त्र वेद से उत्पन्न हुए हैं, एवं वेद ही उन शास्त्रों का परम प्रमाण है।[4] अतएव वेद के साथ दूसरे किसी शास्त्र का किसी भी विषय में मतभेद उपस्थित होने पर "वेद ही प्रामाणिक होगा"।[5] इसलिए यदि कोई भी मतवाद अथवा भावादर्श वेद को प्रमाण स्वरूप नहीं मानता है अथवा उप-

---

4. मनु, (२/१३)—'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' ; (२/८) '......श्रुति प्रामाण्यतो विद्वान्......' ; भा०—'वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः' ।

5. जिन कारणों से, हिन्दू धर्म के अनंत शास्त्रों के मध्य वैषम्य होने पर, वेद के मत को ही ग्रहण करना होगा संक्षेप में उन कारणों का उल्लेख किया जा सकता है—(क) वेद किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं ; परन्तु अन्य सभी शास्त्र किसी-न-किसी व्यक्ति विशेष की रचनाएं हैं। किसी-किसी सूक्त में जिन ऋषियों के नाम का उल्लेख किया गया है, वे उसके रचयिता नहीं बल्कि उद्‌गाता मात्र हैं। (ख) युगों-युगों से सत्यद्रष्टा ऋषियों ने अपने अतीन्द्रिय अनुभूति के द्वारा जिन पारमार्थिक सत्यों का आविष्कार किया था, परवर्ती काल में वे ही सत्य वेद के रूप में प्रकाशित हुए। इनकी विषयवस्तु मोक्ष प्राप्ति अथवा ब्रह्मज्ञान है, इसके अतिरिक्त इसमें जो भी है वह सब ही इसी लक्ष्य पर पहुंचाने वाला आनुष्ठानिक उपाय मात्र है। (ग) वेद में निहित सत्य इसलिए शाश्वत या सनातन है कि, सामाजिक, ऐतिहासिक अथवा अनुरूप परिवर्तनों के पश्चात् भी वैदिक सत्यों में किसी प्रकार के विकार अथवा संशोधन का प्रश्न नहीं उठ सकता। दूसरी ओर वेद द्वारा निर्देशित मार्ग पर मनुष्य को परिचालित एवं प्रस्तुत करने के लिए जिन अनुशासनों एवं विधिनिषेधों की आवश्यकता होती है, विभिन्न युगों में परिवेशानुसार उन्हें परिवर्तित करने के प्रयोजन वश अनेक शास्त्रों की रचना हुई है, जैसे, स्मृति, इतिहास, पुराण इत्यादि। प्रत्येक युग के धर्म प्रवक्ताओं एवं समाज व्यवस्थापकों ने इन सभी शास्त्रों को युगोपयोगी बना कर प्रणयन किया। इन शास्त्र समूहों का 'चरम' लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है, किन्तु इनके द्वारा निर्देशित उपाय शाश्वत नहीं हैं। अतः विभिन्न शास्त्रों के अनुशासनों को ग्रहण करते समय सदैव वेद की वाणी को पटभूमिका में रखना होगा।

निषद् में संग्रहित वेद के सार-तत्वों को नहीं मानता है[6], तो उसे हिन्दू धर्म का अंग नहीं माना जाएगा।

श्रुतिः यह कोई विशिष्ट धर्म गुरू की वाणी नहीं है, कुछ सार्वजनिक सत्यों का समूह है :

उपनिषद् सहित सम्पूर्ण वेदों को श्रुति कहा जाता है। इसलिए कि यह व्यक्ति-विशेष की बनाई हुई पुस्तक नहीं है। यह परमार्थ-तत्व जिज्ञासु ऋषियों की स्वयं की उपलब्धि, गुरू-शिष्य परम्परा में सुनी हुई (लिखी हुई नहीं) होने के कारण ही इसका नाम श्रुति है। सत्य-द्रष्टा ऋषियों ने ध्यान अथवा अतीन्द्रिय उपलब्धि के द्वारा जिस ज्ञान का अर्जन किया था, युग-युग से ऋषि-मुख-निःसृत वही ज्ञान की वाणी ही वेद का कलेवर (शरीर) है।[7] इन सब वाणियों में थोड़ा बहुत अंतर रहना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है; कारण अतीन्द्रिय ज्ञान को पदार्थ विज्ञान की तरह वास्तविक परीक्षा-निरीक्षा से निश्चयोभूत करना कठिन है। अतएव विभिन्न द्रष्टाओं की अनुभूति भी गाणितिक अभिन्नता प्राप्त नहीं कर

---

6. इसी कारण से, अर्थात् वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करने के कारण ही, हिन्दू धर्म से उद्भूत होते हुए एवं इसके अनेक मतवादों को ग्रहण करते हुए भी [वि० वा० र० (६/४६, २६३)] बौद्ध एवं जैन धर्म को हिन्दू धर्म के अंग के रूप में स्वीकृति नहीं दी जाती, फिर भी परम सहिष्णु हिन्दू धर्म इन धर्मों के प्रतिष्ठाताओं को उनकी साधना के उत्कर्ष के कारण अवतार के रूप में मान्यता देते हुए किंचित् मात्र भी द्विधाग्रस्त नहीं होता।
7. वेद के विभिन्न अंशों में कुछ ऋषियों के नाम का उल्लेख होते हुए भी वेद का कोई प्रणेता नहीं है क्योंकि यह "महाभूत-निःश्वसित वाणी" है [वृ० (२/४/१०)], जो ध्यानयोग में ऋषियों के समक्ष प्रकाशित या श्रुत हुई थी। अर्थात् ऋषिगण वेद मंत्रों के द्रष्टा हैं, कर्ता या रचयिता नहीं। मनुष्य द्वारा रचित न होने के कारण ही वेद को 'अपौरूषेय' की संज्ञा दी गयी है। दूसरी तरफ परवर्ती शास्त्र समूह उदाहरणार्थ-स्मृति, इतिहास, पुराण आदि के रचयिता क्रमशः मनु, वाल्मीकि, व्यास

सकती। तथापि इन विभिन्न अनामी ऋषियों की पूंजीभूत अनुभूति के समुदाय स्वरूप नाना प्रकार के उपनिषद्—मौलिक भावधारा, नीति और सिद्धान्तों के विषय में आश्चर्यजनक रूप से एकमत हैं, एवं उनका यही एकमत होना तुरीय दर्शन की सत्यता का प्रमाण है। इसी कारण से वेद को स्व-प्रकाश और स्व-प्रमाण माना जाता है। सर्व सम्मत औपनिषदीय सिद्धान्तों को लेकर ही मेरा यह ग्रंथ रचित है।

हिन्दू धर्म के विभिन्न शाखाओं के प्रवक्ताओं के मध्य जो मतभेद है, वह मौलिक स्वतःसिद्ध प्रतिज्ञा-समूह के विषयों में नहीं, बल्कि गौण अनुसिद्धान्त एवं आनुषङ्गिक अनुज्ञा-समूह और क्षेत्रानुयायी उनकी व्याख्या तथा प्रयोग के विषयों में है। परन्तु हमलोगों की

इत्यादि हैं। इन सभी ऋषियों ने यह उद्घोषणा की है कि, उनका उद्देश्य है वेद के अर्थ को सर्वजन बोध्य भाषा में व्याख्या करना। 'स्मृति' शब्द का अर्थ ही होता है वेदार्थ का स्मरण करना ('वेदार्थ-स्मरणात् स्मृतिः')। अतएव यदि किसी स्थान पर स्मृति के वाक्य श्रुति विरोधी प्रतीत हों तो वहां 'श्रुति' अर्थात् वेद को ही प्रधानता देनी होगी क्योंकि धर्म जिज्ञासु व्यक्ति को श्रुति की प्रामाणिकता स्वीकार कर अपने मार्ग पर अग्रसर होना होगा [मनु० (२/८)—'···श्रुति प्रमाण्यतो विद्वान्··· निविशेत वै']। यहां तक कि यदि दो श्रुति वाक्य ही परस्पर विरोधी प्रतीत हों तो वहां किसी भी वाक्य का वर्जन नहीं किया जा सकता [मनु० (२/१४)—'श्रुतिद्वैधन्तु···सम्यगुक्तौ मनीषिभिः']—वरन् दोनों के मध्य समन्वय करने का प्रयास करना होगा [ब्र० सू० (१/१/४)—'तत् तु समन्वयात्']। इसी प्रकार पुराणों को भी वेद का अर्थप्रकाशक कह 'पंचम वेद' माना गया है [छा० (७/१/२)—'इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्···']। इतिहास के सम्वन्ध में भी इसी प्रकार की एक उक्ति महाभारत में है [म० भा० (आदि०) १/१८–२१—'···वेदार्थैर्भूषितस्य···वेदैश्चतुर्भिः संयुक्ताम् ···']; (आदि०) १/२६६—'इतिहास·· वेदं समुपवृंहयेत्···'। अतः इतिहास अथवा पुराण इत्यादि में श्रुति वाक्य से आपात विरोधी कोई उक्ति हो तो श्रुति को ही प्रधानता देनी होगी।

तरह साधारण मनुष्य के लिये इस विषय में विचलित होने का कोई कारण नहीं है। आध्यात्मिक जीवन के जिस स्तर पर प्रतिष्ठित होने से इन वितर्कमूलक सूक्ष्म प्रश्नों का उदय मन में हो सकता है, उस स्तर में पहुंचने के लिए हमें अनेक वर्ष, यहां तक की अनेक जन्म भी लग सकते हैं। अतएव हमलोगों का कर्त्तव्य होगा कि इस उत्तुंग गिरि के उस तल-देश से ही अविलम्ब यात्रा आरंभ करें, जहां किसी तरह का वाद-विवाद हमलोगों के इस अभियान को विघ्नित न कर सके।

सत् आचार व्यवहारों से पूर्ण, यहां तक कि कुसंस्काराच्छन्न इस महादेश में, समस्त उपनिषद् काल के अमोघ, अक्षय एवं अनेक असहिष्णु विजातीय मतवाद के पौनःपुनिक आक्रमणों की उपेक्षा करके अभ्रभेदी हिमाद्रि की तरह युग-युग से उन्नतमस्तक होकर खड़ा है। इस अविनाशी शक्ति का मूल है, उपनिषद् की वाणियों का सार्वभौमत्त्व। हमें हिन्दू धर्म के इस मूल काण्ड के साथ श्रीमद्भगवत गोता का अध्ययन करना भी उचित है। क्योंकि गीता में वेदान्त का सार तत्व[8] निहित है एवं गीता को ही स्वामी विवेकानंद ने वेदान्त का "देव-भाष्य" कहा है।[9]

8. गी० मा० (१९)—'सर्वशास्त्र सारभूता' ; (६)—'सर्वोपनिषदो गावः···'।

9. इसी कारण से गीता 'स्मृति-प्रस्थान' होने पर भी, श्रुति के मर्मोद्घाटन के लिए तथा समन्वय साधन के लिए, इसे उपनिषद् के परिपूरक के रूप में पाठ करना चाहिये। हां, यह अवश्य है कि किसी क्षेत्र में विरोध की अनुभूति होने पर उपनिषद् के ही महावाक्य को ग्रहण करना होगा। यह भी उल्लेखनीय है कि 'पुराण' होने पर भी, श्रीमद्भागवत् की वाणी को इस पुस्तक के पादटीका में प्रायः उद्धृत करके भागवत् धर्म जो एक स्वतंत्र धर्म नहीं है, परन्तु वेदोपनिषद् का सारजात है, इसे प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। [भा० मा० (२/६७)—'वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा' ; ग० पु०—सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते'] ;

हिन्दू धर्म के इन मूल उत्सों में कोई भी साम्प्रदायिक अथवा याजकीय नीति नहीं है; इनमें कुछ देवात्मा मनुष्यों की निर्वैक्तिक पारमार्थिक अनुभूति हैं, जिनमें सर्वोच्च स्तर के दर्शन, कविता, संगीतादि एकीभूत होकर विद्यमान हैं। इन्हीं कारणों से उपनिषदों की वाणी ने, प्राच्य और पाश्चात्य भू-खण्ड में अतीत और वर्तमान काल में, ऐसे असंख्य मनीषियों को अनुप्राणित किया है जो इन्द्रियग्राह्य मृत्तिकामंडित पृथ्वी के ऊपर उठना चाहतें हैं। जर्मन दार्शनिक सोपेनहर[10] ने कहा है—

"समस्त पृथ्वी पर वेदान्त के समान उन्नत एवं मंगलदायी अध्ययन-ग्रंथ दूसरा कोई नहीं है। जीवन पर्यन्त मैं इससे सांत्वना पाता रहा हूँ और मृत्यु के समय इससे मुझे महाशान्ति की प्राप्ति होगी।"

प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर[11] ने भी कहा है—"जितने दार्शनिक मतवाद पृथ्वी पर हैं उनमें सबसे महान्, एवं जितने धार्मिक मत हैं, उनमें सर्वाधिक शान्तिदायक है—वेदान्त।"

हिन्दू धर्म की उदारता :

एक प्रश्न हो सकता है कि, हिन्दू धर्म अवतारवाद में विश्वासी हो कर भी[12] एक सुनिर्दिष्ट मार्ग का निर्देशन क्यों नहीं करता?

---

10. Max Muller कृत Sacred Books of the East के Introduction, P lxvi एवं Collected works (Lect. VII) : P. 254 में उद्धृत है। (Abhedananda, India and Her people (1968), PP.233-4.
11. Max Muller—India, What it can teach us, P. 253.
12. कुछलोग यह भी कहते हैं कि, श्रुति में अवतार का कोई उल्लेख नहीं है और यह परवर्ती इतिहास-पुराण आदि में लोकरंजनार्थ कल्पित हुआ है। किन्तु यह धारणा निर्मूल है।
ऐसा अवश्य है कि अवतारतत्व, का उल्लेख उपनिषद् में प्रत्यक्ष रूप से नहीं प्राप्त होता है, परन्तु शुल्कयजुर्वेद के अन्तर्गत समस्त मूक्तिकोप-

'पृथ्वी पर जब-जब धर्म का ह्रास एवं अधम के प्रभाव में वृद्धि होती है, तब-तब धर्म की संस्थापना के लिए भगवान् स्वयं मनुष्य रूप में अवतरित होते हैं, यह वाणी पूर्णावतार श्री कृष्ण जी के मुख से निःसृत तथा गीता में अंकित है।[13]

निषद् ही भगवान् श्री रामचन्द्र जी द्वारा हनुमान के समक्ष वेदान्त तत्व की व्याख्या है।

सामवेद के अन्तर्गत वासुदेवोपनिषद् में 'सर्वेश्वर' वासुदेव के द्वारा नारद जी को मंत्रादि के विषय में तथा वासुदेव जी को ब्रह्म के अवताररूप की पूजा की सार्थकता के विषय में उपदेश दिया गया है।

द्वितीयतः उपर्युक्त प्रत्येक उपनिषद् में अवतार-उपासना एवं ब्रह्मोपलब्धि के सामंजस्य का विश्लेषण किया गया है। इनका अनुधावन करने से पाएंगे कि अवतारतत्व, अद्वैततत्व परस्पर विरोधी नहीं हैं। जिस प्रकार साकारब्रह्म या मूर्तिपूजा अद्वैततत्व के सहायक एवं परिपूरक हैं, उसी प्रकार अवतार उपासना भी ब्रह्मज्ञान में सहायक होता है। मुक्तिकोपनिषद् में विशद्रूप से कहा गया है कि, जिसप्रकार सभी जीवों में एवं सर्वभूतों में, "तिल में तेल के समान" ब्रह्म विद्यमान हैं, उसी प्रकार वासुदेव (गोपीवल्लभ कृष्ण) भी विष्णुरूप में सर्वत्र अवस्थित हैं। इस प्रकार की धारणा बना कर परमेश्वर का ध्यान करने से, परिणामस्वरूप जीवात्मा एवं परमात्मा के एकत्व की उपलब्धि कर ब्रह्म के सदृश्य हो, साधक मोक्ष की प्राप्ति करता है। (वासु०—'क्रमादेवं स्वात्मानं भावयेन्मां परं हरिम्···स्वप्रभं सच्चिदानंदं भक्त्या जानाति चाव्ययम्···स सम्यग्ज्ञानं च लब्ध्वा विष्णुसायुज्यमवाप्नोति न च पूनरावर्तते···।' ठीक उसी के अनुरूप ही मुक्तिकोपनिषद् में (२/७०-७३ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं·· भावय')—कहा गया है कि श्री रामचन्द्र जी ही ब्रह्मस्वरूप हैं एवं उनकी उपासना इस रूप में करने से निर्वाण की प्राप्ति होगी। अथर्ववेद के रामपूर्वतापनीयोपनिषद् के प्रथम मंत्र में ही ('ॐ चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ ···'), जो चिन्मय महाविष्णु हरि हैं वे ही संतों के उद्धार और राक्षसों के वध हेतु राजा दशरथ के गृह में जन्म ग्रहण किए थे। इसके पश्चात् अब अवतारवाद के सम्बन्ध में क्या बाकी रहा ?

13. गी० (४/७)—'यदा यदाहि धर्मस्य···सृजाम्यहम्' ; भा० (६/४/३३) योऽनुग्रहार्थं भजतां···जन्मकर्मभिर्भजे।'

अवतारवाद :

जिन देशों में किसी विशिष्ट धर्मीय महापुरुष को 'ईश्वर' का एकमात्र पुत्र अथवा दूत माना जाता है; उन सब देशों में उस अनन्य प्रवर्तक की वाणी को ही धर्म के सम्बन्ध में चरम तत्व कह कर स्वीकार किया जाता है। एवं उसे जो लोग नहीं मानते हैं, उन लोगों को "अविश्वासी" की संज्ञा देकर दण्डनीय अपराधी कहकर उत्पीड़ित किया जाता है। इन सब सर्वात्मिक धर्मों में प्रश्नों के समाधान का कोई स्थान नहीं।

दूसरी तरफ हिन्दू मत में अवतार भी अनन्य नहीं हैं।[14] अधर्म का अभ्युदय जिस तरह युग-युग में होता है, उसी तरह उसके प्रतिकार के लिए भगवान को भी प्रत्येक युग में विभिन्न रूपों में अवतीर्ण होना पड़ता है। जिस प्रकार प्रत्येक युग की समस्या भी एक जैसी नहीं होती है, उसी प्रकार उसके समाधान के लिए भगवान की वाणी भी क्षेत्रकाल से परे रहकर निरपेक्ष नहीं हो सकती है। यहीं हिन्दू धर्म की उदारता है। हिन्दू शास्त्र के अनुसार अवतार एकाधिक हैं; जिस मनुष्य के अन्तर में देवत्व अथवा भगवत् शक्ति की आन्तरिक अभिव्यक्ति देखी जाय एवं जिन्हें मानव देह धारण करने पर भी अमूर्त ब्रह्म की निकटतम् प्रतिमूर्ति अथवा प्रतिभू[15] कहा जा सके; वही अवतार हैं। किसे अवतार कहेंगे इस

---

14. भा० (१/३/२६-२७)—'अवतारा ह्यसंख्येया···हरेरेव···'; (१०/१०/३४)—'···अतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः'; वा० रा० (आ० १८/११)—'·· लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तोष्ठं दुन्दुभिस्वनम्'; (११/४०) 'तेजः श्री·· मेऽंशकः'।

15. कथा० (५/१०३,१३०)। एक ही कारण से, विभिन्न शास्त्रों में अवतारों की तालिका एवं संख्या समान नहीं—मत्स्य, गरूड़, भागवतादि पुराण, महाभारत, जयदेवकृत दशावतार स्त्रोत, भा० (१/३/६-२८; ११/४/१७-२३) द्रष्टव्य हैं।

संबंध में शास्त्रों में विचार किया गया है।[16] वे सभी लक्षण जिस पुरूष में मिलते हैं—उस व्यक्ति को हम हिन्दू अवतार कहकर स्वीकार करते हैं। चाहे वह व्यक्ति दूसरा धर्मावलंबी ही क्यों न हो। इसलिए ही हिन्दू श्री राम, श्री कृष्ण की तरह गौतम बुद्ध को भी अवतार कह कर मान्यता देते हैं। हिन्दूलोग, बौद्ध अथवा इसाई न होकर भी, बुद्ध अथवा योशु की मूर्ति के प्रति श्रद्धा निवेदन करते हैं।[17] इसका कारण सुस्पष्ट है, प्रत्येक मनुष्य में अन्तर्निहित देवत्व का परिपूर्ण विकास ही हिन्दू धर्म का चरम लक्ष्य है।[18] इसलिए जिन मानव शरीर धारियों के अन्दर उस देवत्व का पूर्णरूप से परिचय एव लक्षण मिलेगा, स्थान-काल-जाति निर्विशेष से वे हो हिन्दुओं के नमस्य एवं पूज्य हैं। उसी एक नियम के अनुसार ही यदि कोई व्यक्ति किसो एक अवतार अथवा भगवत् प्रतिनिधि के द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण न कर दूसरे किसी अवतार या महापुरूष की वाणी का अनुसरण करे तो वह व्यक्ति धर्म से च्युत हो जाएगा अथवा स्वर्गद्वार उसके लिए बंद हो जाएगा—यह बात हिन्दू धर्म नहीं मानता है।

सर्वधर्म में समदर्शन :

भगवत् प्राप्ति यदि धर्म का लक्ष्य है एवं नररूपी भगवान अथवा भगवत् प्रेरित कोई देवदूत विभिन्न देशों में, विभिन्न युगों में, विभिन्न पंथ दर्शाते हैं, तब तो उनमें से किसी एक धम या पंथ को निष्ठा के साथ अवलबन करने से मनुष्य एक ही लक्ष्य पर पहुंचेगा। यह बात श्री मद्‌भगवत् गोता में पूर्णावतार श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

"जो जिस भाव से मेरा शरणापन्न होता है, वह उसी भाव से

---

16. जयदेवकृत दशावतार स्त्रोत।
17. वि० वा० र० (८/३३७, ३४१,३४५,३५२-३)।
18. वृ० (४/४/६)—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।

मुझे पाता है, और मैं भी उस पर उसी प्रकार से अनुग्रह करता हूँ।"[19]

इस उदारतम महावाक्य का तात्पर्य न समझने के कारण कुछ समालोचकों ने कहा है कि—यदि जो मन में आवे वैसा ही करना हिन्दू धर्म है, तो हिन्दू धर्म नाम का कोई विशेष धर्म ही नहीं है। परन्तु इस महावाक्य में "जो कुछ मन में आए, उसे करने से ही भगवत्प्राप्ति होगी" इस प्रकार की बात कहीं नहीं कही गयी है। इस श्लोक में "प्रपद्यन्ते" शब्द का व्यवहार किया गया है—इस शब्द का अर्थ यदि मुझमें "शरणागत" होता है, तब तो सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। श्री मद्भगवत् गीता के अन्य बहुत से श्लोकों में जो वैकल्पिक शब्द व्यवहृत हुए हैं, उनसे यही अर्थ लेना समीचीन है, उदाहरणार्थ—'मामुपेत्य'[20] 'मां व्यपाश्रित्य'[21] 'मामाश्रित्य'[22] अतएव यदि निष्ठा एवं श्रद्धा के साथ भगवान का आश्रय ग्रहण किया जाय तो "ज्ञान-कर्म और भक्ति" प्रभृति जिस किसी भी मार्ग का अवलंबन क्यों न किया जाय, उसी से सिद्धि अनिवार्य है।

उस एक ही कारण से, दूसरा धर्म भी यदि ऐकान्तिकता के साथ पालन किया जाए, तो एक ही लक्ष्य पर पहुँचा जा सकता है। श्रीमद्भगवत् गीता ने यही आश्वासन दिया है।[23-24] इसका कारण यह है कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सबकी सृष्टि करने वाला स्रष्टा है, तब एक से अधिक दूसरे ईश्वर का अस्तित्व संभव

19. गी० (४/११)—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते ··भजाम्यहम्'।
20. गी० (८/१५/१६)।
21. गी० (९/३२)।
22. गी० (७/२९)।
23. गी० (९/२३)—'येऽप्यन्यदेवताभक्ता···यजन्त्यविधिपूर्वकम्।'
24. तु: भा० (११/२७/९)—'अर्चायां···माममायया।'

ही नहीं है। यदि ईश्वर-प्राप्ति ही प्रत्येक धर्म का उद्देश्य है, तब तो किसी भी धर्म के प्रवक्ता एक नये ईश्वर की परिकल्पना करके उनको भजन करने का उपदेश नहीं दे सकते। दूसरी बात यह है कि, प्रत्येक धर्म के अनुयायी यदि समझें की अन्य धर्मवाले भी एक ही ईश्वर की उपासना कर रहे हैं, तो फिर धर्म के कारण किसी तरह की साम्प्रदायिकता उपज ही नहीं सकती। अत: यही सिद्ध होता है कि, साम्प्रदायिक संघर्ष रोकने का एकमात्र उपाय है, धर्म के विषय में भेद-बुद्धि नाशक सच्चे ज्ञान का उपदेश देना एवं चारों तरफ उसका प्रचार करना।

इन अकाट्य युक्तियों के आधार पर, ऋषियों के विभिन्न अनुभूति-लब्ध सिद्धान्तों के ऊपर हिन्दू धर्म प्रतिष्ठित है—कभी भी एकनायकत्व का कोई प्रयास न हुआ है, और न होगा। सत्य विश्वजनीक है एवं उसका संधान भी चिरंतन है। विभिन्न पथों पर एवं विभिन्न धाराओं में यही संधान युग-युगों तक चलता रहा है। हिन्दू धर्म की विशेषता की नींव यही है कि—इस धर्म में किसी सांचे में ढाला हुआ कोई विशेष सुरबंधन नहीं है; यह कोई एक मात्र ईश्वर प्रेरित धर्मप्रवक्ता की वाणी नहीं है। इस मूल सूत्र से निर्गत हिन्दू धर्म का और भी कुछ वैशिष्ट्य द्रष्टव्य है, जिसके द्वारा इसके सार-तत्व के मंथन का उद्योग सहज होगा।

धर्म-जिज्ञासा :

(क) हिन्दू धर्म के मत में अध्यात्म-मार्ग का प्रथम सोपान है, धर्म-जिज्ञासा एवं सश्रद्ध प्रश्न। कोई भी एक मत विशेष ग्रहण करने से अविश्वासी संबोधित कर दंडित होने की आशंका तो है ही नहीं, परन्तु हिन्दू धर्म अध्या.म मार्ग में आरोहण करने की इच्छा

---

25. गी० (४/४१,४२)।

करने वाले व्यक्ति को उसके हृदय की समस्त शंकाओं को दूर कर शान्त रहने का निर्देश देता है। कारण निःसंशय न होने तक भगवत् चिन्ता की आवश्यकता है या नहीं, यह बात ही स्थिर नहीं होगी। इस उक्ति को सुस्पष्ट भाव से श्री कृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है कि—ज्ञान लाभ के लिए "श्रद्धा एवं जिज्ञासा" दोनों वस्तुओं की ही आवश्यकता है।

"तद् विद्धि प्रणिपातेन सेवया।"[26] संशय से दोलायमान मनुष्य इहलोक, परलोक किसी भी विषय में सफल नहीं हो सकता है, उनका विनाश अनिवार्य है।[27]

सश्रद्ध प्रश्न :

(ख) इसीलिए समग्र प्रश्नोपनिषद् ही प्रश्नोत्तर रूप में ग्रथित है, एवं अन्य कुछ उपनिषदों में भी यही धारा अनुसृत हुई है। पहले ही कहा गया है कि, उपनिषद्रूपी विराट विश्वकोष गुरू जो के मुख से निःसृत वाणी है, जो शिष्य लोग उनके आश्रम में रहकर प्राप्त करते हैं। प्रश्नोपनिषद् के प्रथम अध्याय में जो प्रश्नोत्तर है, उससे यही समझ में आता है[28] कि—जब तक शिष्य के मन में श्रद्धा एवं जिज्ञासा का उदय नहीं होता है, तब तक अध्यात्म तत्व का कोई भी पाठ श्री गुरू जो के पास से नहीं प्राप्त होगा।

अतएव यह बात सिद्ध हुई कि "हिन्दू धर्म" में अन्ध-विश्वास का स्थान नहीं है। उपर्युक्त सभी बातों को सुनने के बाद मेरे

---

26. गी० (४/३४)।
27. गी० (४/४०) 'नायं लोकोऽस्ति···संशयात्मनः।'
28. प्रश्न (१/२)—'···भूय एव तपसा···संवत्स्यथ···' ; तै० (१/४/३)—'आ मायन्तु ब्रह्मचारिणः···दमायन्तु···शमायन्तु' ; भा० (११/१०/५-६)—'यमानभीक्ष्णं··· गुरूं शान्तमुपासीत···दृढसौहृदः··· अमोघवाक्' ; मु० (१/२/१२-१३)— 'निर्वेदमयात् ··· तद्विज्ञानार्थं स गुरूसेवाभिगच्छेत्···प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय...ब्रह्मविद्याम्।'

तार्किक बन्धु प्रसन्न हो सकते हैं। परन्तु जो लोग पानी में न उतरकर मात्र वाद-विवाद करना चाहते हैं; जो लोग पराजित होने के बाद भी तर्क-वितर्क करते हैं[29], अथवा तर्क करना ही जिनका एकमात्र उदेश्य है, उनलोगों के प्रश्न की मीमांसा का कोई प्रयोजन नहीं है। जिन व्यक्तियों को धर्म की प्रयोजनीयता की उपलब्धि हुई है, परन्तु खोजने पर भी मार्ग नहीं मिल रहा है—उनलोगों के ही प्रश्न की मीमांसा का प्रयोजन है। एवं उन व्यक्तियों के भाग्य में यदि उपयुक्त गुरू अथवा आचार्य मिल जायं, तो फिर उनके उपदेशों पर विश्वास स्थापन करना होगा। उदाहरणस्वरूप—पवर्तारोहण काल में जैसे लौटने वाले अग्रगामी दल से आगे के रास्ता का पता आस्था के साथ न लेकर उपाय नहीं है[30], उसी प्रकार धर्म पथ के उन्नत मार्ग में पहुंचे हुए आचार्यों के उपदेश को श्रद्धा के साथ न मानने से सारा जीवन परीक्षण-निरीक्षण में समाप्त हो जाएगा, लक्ष्य पर पहुंचना कभी भी संभव नहीं होगा। व्यवहारिक ज्ञान के विषय में भी तर्कशास्त्र में लिखा गया है—प्रत्यय के बिना ज्ञान लाभ सम्भव नहीं हैं।[31]

यदि व्यवहारिक ज्ञान के विषय में ही यह स्थिति है, तब अतीन्द्रिय जगत् में ज्ञान-लाभ के लिए "परिप्रश्न" के साथ थोड़ा सा "प्रणिपात"[32] का भी प्रयोजन होगा—इसमें अवैज्ञानिक कुछ भी नहीं है। श्रीमद्भगवत्गीता में बार-बार श्रद्धा की प्रयोजनीयता

---

29. 'For e'en though vanquished he could argue still' (Goldsmith The Deserted Village, P. 211).
30. छा० (६/१४/२)—'···आचार्यवान् पुरुषो वेद···' ; भा० (११/१०/१२)—'आचार्योऽरणिराद्यः···सुखावहः ।'
31. 'Credence is essential to knowledge' [Carveth Reid, Logic]
32. गी० (४/३४) ; भा० (११/३/२१-२२)—'तस्माद् गुरूं प्रपद्येत जिज्ञासुः···गुर्वात्मदैवतः ।'

का स्मरण कराया गया है।[33] शुष्क तर्क के द्वारा इस तुरीयज्ञान का लाभ नहीं हो सकता है, इस बात को उपनिषदों ने बार-बार घोषित किया है[34], क्योंकि जिसे प्रत्यक्ष करने के लिए धर्म का अभियान है, वे तो "अवाङ्मनसगोचर"[35] हैं, वे सभी प्राणियों के अन्तर में छिपकर रहते हुए भी सरलता से या सहज रूप से प्रकाशित नहीं होते।[36]

गुरुवाद :

(ग) अतएव, यह बात मानना ही होगा कि सद्गुरु की प्राप्ति हिन्दू धर्म का एक प्राथमिक सोपान है।[37] कालक्रम से आचार्यत्व का यह विशेष गुरुत्वपूर्ण कार्य वंश-परम्परा के द्वारा होने के कारण, बहुत से लोग कौलिक गुरू अथवा पुरोहित-सम्प्रदाय के साथ इसको अभिन्न समझकर, गुरूवाद हिन्दू धर्म के सारतत्व का अंग है अथवा नहीं, इस विषय में संदेह पोषण करते हैं। परन्तु उपनिषद् अथवा गीता में आचार्य की प्रयोजनीयता के विषय में जो कहा गया है, उस

---

33. गी० (४/३६ ; ४/४०, ६/३)
34. क० (१/२/८)— '‥ अतर्क्यमनुप्रमाणात्' ; (१/२/६)—'नैषा तर्केण मतिरापनेया…' ; क० (१/२/२३) ; मु० (३/२/३)— 'नायमात्मा प्रवचनेन…श्रुतेन।'
35. क० (१/३/१५)—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्…' ; के० (१/३ ; ५-६)—'न तत्र चक्षुर्गच्छति…न मनुते…'।
36. क० (१/३/१२)—'एष सर्वेषु भूतेषु…न प्रकाशते' ; (१/२/१२)— 'तं दुर्दर्शं…जहाति'।
37. छा० (६/१४/२)—'आचार्यवान् पुरुषो वेद…' भक्तिमार्ग में इसका प्रयोजन नहीं है इस प्रकार की धारणा भ्रान्त है [भा० (११/१०/ ५-६) —'यमान् अभीक्ष्णं सेवेत…मदभिज्ञं गुरूं शान्तमुपासीत…… अमोघवाक्' ; (११/१७/२७-३२)—'आचार्यं मां विजानीयात्…अग्ने गुरावात्मनि…अपृथग्धीरूपासीत…' ; (११/१८/३८-३९)—'…गुरूं मूनिमुपाव्रजेत्…यावद् ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरूमादृतः।'

कार्य के लिए कोई भी वंशगत दावा नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं मात्र शास्त्रों में पाण्डित्य-लाभ करने से ही अध्यात्म-विद्या के गुरू होने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता है। श्रीमद्भगवत् गीता में लिखा हुआ है कि, आध्यात्मिक गुरू को तत्वदर्शी होना पड़ता है।[38] जिन्होंने स्वयं ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, जिनको आत्मदर्शन नहीं हुआ है, वे दूसरे व्यक्ति को इस मन-बुद्धि से परे[39] अनुभवात्मक ब्रह्म-विद्या का स्फुलिंग कैसे स्पर्श करायेंगे? हमलोग यह भी विश्वास करते हैं कि, परमार्थ जिज्ञासा में यथार्थ व्याकुलता न आने तक शिष्य को भी उपयुक्त गुरू की प्राप्ति नहीं हो पाती है। जब संसार रूपी अग्नि में जलकर, रोग, शोक, जरा, ज़न्म-मरण के अमोघ बन्धनों से परित्राण पाने के लिए शिष्य के मन में मुमुक्षा (मुक्ति की इच्छा) उत्पन्न होती है, तभी वह गुरू के पास जाने का अधिकारी होता है।[40] दूसरी ओर वे ही गुरू होमे के अधिकारी होते हैं जो "ब्रह्मनिष्ठ"[41] प्रशान्तचित्त, शमान्वित एवं ब्रह्मपरायण हैं, कारण उनको तो ब्रह्मविद्या का दान करना है। अतएव इस दुर्ज्ञेय ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने के लिए गुरू एवं शिष्य दोनों को ही यथानुक्रम से योग्यता सम्पन्न और कुशली होना पड़ेगा।[42] इस तथ्य पर

---

38. गी०(४/३४)—'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ; भा० (११/१०/५)—'···मदभिज्ञं गुरूं शान्तमुपासीत मदात्मकम्।'
39. गी० (३/४२)—'बुद्धेः परतस्तु सः' ; तै० (२/६) ; क० (१/२/२३ ; २/३/१२)।
40 मू० (१/२/१२-१३)—'परीक्ष्य लोकान्···गुरूमभिगच्छेत्···' ; वे० सा० (३१) ; भा० (११/१०/६-७)—'अमान्यमत्सरो···सर्वेस्वर्थमिवात्मनः।'
41. मु० (१/२/१२-१३)—'···श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्···प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय···' ; वे० सा० (३२) ; श० वि० (३३-४४)—'यो ब्रह्मवित्तमः' ; (१५)—'···गुरूं ब्रह्मविदुत्तमम्' ;।
42. क० (१/२/७-८)—'श्रवणायापि···कुशलानुशिष्टः···अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र' ; भा० (११/३/२१)—'तस्माद् गुरूं···ब्रह्मण्यपशमाश्रयम्।'

भी ध्यान देना होगा कि उपयुक्त गुरूलाभ होने पर भी जो लोग गुरूवाक्य में श्रद्धा और भक्ति नहीं रखते उनके लिए ब्रह्मविद्या बहुत दूर है।[43] परन्तु किसी भी एक गुरू का आश्रय प्राप्त कर लेने पर ही धर्म-पथ-यात्री का सब कर्त्तव्य समाप्त हो गया, बहुत से लोग ऐसो धारणा बनाते हैं, किन्तु यह भो गलत धारणा है। शिष्य के लिए भगवत् प्राप्ति के उपाय स्वरूप कोई एक सरल-सुलभ अर्थपुस्तक की रचना करना अथवा शिष्य का समस्त पाप क्षण मात्र में धो देना गुरू का कार्य नहों है। मोक्ष-प्राप्ति शिष्य के स्वयं के प्रयास से ही संभव होती है।[44]

गुरू का प्राथमिक कर्त्तव्य तो यह है कि, शिष्य के मन में धर्म-पिपासा का उद्रेक हुआ है या नहीं—एवं यदि हुआ है तो प्राक्तन कर्मों के अनुसार वह धर्म-जगत् के कौन से स्तर पर पहुँचा है, और उसकी चित्तवृत्ति एवं मानसिक धारणाशक्ति के अनुसार कौन सा मार्ग उसके लिये उपयोगी है—यह निर्णय करना। हिन्दू धर्म में गुरू की कार्यकारिता के दो कारण हैं।

प्रथम कारण पहले ही कह दिया गया है—हिन्दू धर्म में इतनी शाखाएँ, उपशाखाएँ, मार्ग एवं मतवाद प्रचलित हैं कि, यदि अभिज्ञ कर्णधार सहायता न करें तो शिष्य अथाह समुद्र में मार्ग भूल जायेगा। इस तथ्य को छोड़कर और भी कुछ विशिष्ट बात हैं। हिन्दू धर्म के प्रत्येक मार्ग की कुछ विशिष्ट पद्धतियाँ हैं, जिन्हें विशेषज्ञ गुरू के बिना केवल किताबें पढ़कर आयत्त करना संभवपर नहीं है, वरन् वह विपत्ति का कारण भी हो सकता है—जैसे राज-योग की प्राणायाम समाधि।

---

43. श्वे० (६/२३)—'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ···'।

44. तेज० (२-३, १२-१३)—'दुःसाध्य···जिताहारो···लोभं ब्रह्म तत्परमिति'; श० वि० (५४/५५) वस्तुस्वरूपं···कल्पकोटिशतैरपि'। [अवश्य ही अलौकिक शक्ति सम्पन्न महापुरूषों की बात स्वतंत्र है]।

गुरूवाद का दूसरा कारण है—अधिकार भेद। यह हिन्दू धर्म का एक दूसरा सारतत्व है। आधुनिक राजनैतिक धुरन्धरों के मत में व्यक्ति-साम्य को छोड़कर दूसरा कोई सिद्धान्त ग्रहण योग्य नहीं है। परन्तु वह साम्य तो मात्र गणतांत्रिक वोटाधिकार के समय में ही प्रयोज्य है।

अधिकारवाद :

(घ) आत्मिक एवं आध्यात्मिक जगत् में इस तरह का साम्यवाद अभ्रान्त नहीं है। यह सिर्फ हमलोगों के देश में ही नहीं, बल्कि ग्रीक दार्शनिक अरिस्टॉटल (अरस्तु) ने भी इस बात को प्रमाणित किया हैं। प्रत्येक मनुष्य समगुण अथवा समतुल्य अवस्था में भूमिष्ठ होता है, यह बात सत्य नहीं है। परन्तु प्रत्येक के शरीर के अन्दर ही जिस तरह शरीर की अपेक्षा आत्मा का प्राधान्य है, उसी तरह जन्म से ही मनुष्य-मनुष्य में इन्द्रियादि, मेधा, चित्तवृत्ति, प्रभृति बहु-विषयों में वैषम्य पाया जाता है।[45] इसका कारण जो कुछ भी हो, यह विषमता विज्ञान-सम्मत है। जो लोग इस विषय में अनभिज्ञ हैं, उन्हें जिस किसी भी प्रसूति-सदन में जाने से इस विषय का प्रमाण मिलेगा। यह अधिकारवाद हिन्दू धर्म की वह मौलिक नीति है, जिस नीति के साथ इस धर्म के प्रत्येक अध्याय का सिद्धान्त ओत-प्रोत भाव से सम्बन्धित है। फलस्वरूप, अधिकारवाद को भूल जाने से दूसरा कोई तत्व ही सम्यक् रूप से उपलब्धि नहीं किया जा सकेगा, वरन् विरूप धारणा भी हो सकती है। चूँकि जन्मगत रूप से प्रत्येक मनुष्य में विचार बुद्धि, प्रवृत्ति तथा आध्यात्मिक तत्व धारण करने की क्षमता समान रूप से नहीं मिलती,[45] इसलिए हिन्दू धर्म के सब रोग एवं रोगियों के लिए एक ही प्रकार की व्यवस्था नहीं की गयी है। इस धर्म में सामान्य व्यक्ति से लेकर सर्वस्व

45. क० (१/२/७)—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः···कुशलानुशिष्टः।'

त्यागी संन्यासी तक प्रत्येक व्यक्ति के लिये उपयोगी पथ्य एवं निरामय होने की व्यवस्था निर्देशित है। अधिकार अनुयायी जिसका जो पर्याय निर्दिष्ट है, श्रीमद्‌भगवत गीता में उसे ही "स्वधर्म"[46] कहा गया है। उस स्वधर्मनिर्दिष्ट मार्ग का परित्याग करके यदि कोई उच्चाभिलाषी व्यक्ति, ऊर्ध्वतन श्रेणी में उन्नत न होकर, उस श्रेणी का पाठ्य-क्रम अनुशीलन करने का प्रयास करता है, तो वह कपटाचार होगा[47] एवं आध्यात्मिक उन्नति के स्थान पर उसका विनाश होगा। ऊपरी स्तर में उठने के लिए एक-एक कर सोपानों का अधिरोहण करना होगा।

इस न्याय संगत वैषम्य को हृदयंगम करने में असमर्थ होने की वजह से कुछ विधर्मी समालोचकों ने कहा है कि, "हिन्दू धर्म" नाम का कोई धर्ममत नहीं है। परन्तु इस पुस्तक में विभिन्न स्तरों एवं विभिन्न प्रवृत्तियों के मनुष्यों के लिए एक ही प्रकार की व्यवस्थापना न करने के युक्तिसंगत कारणों का बार-बार निर्देश किया जाएगा।

यदि ईश्वर ने ही प्रत्येक मनुष्य की सृष्टि की है, तो जन्म से ही विभिन्न शिशुओं में गुणजात वैषम्य क्यों होगा? यह प्रश्न मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु हिन्दू शास्त्रों में इसके जो कारण दिखाए गए हैं, उनको समझने के लिए कुछ मौलिक तत्वों को समझना आवश्यक है।

सृष्टितत्व :

(ङ) प्रथम—सृष्टितत्व। किसी-किसी धर्म के अनुसार समग्र ब्रह्माण्ड एक दिन में अथवा एक सप्ताह में एक संग ही उत्पन्न हुआ

46. गी० (३/३३, ३५)—'प्रकृतिं यान्ति भूतानि···स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'; (१८/४६-४८)—'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां···स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य···सहजं कर्म···न त्यजेत्।
47. तु० गी० (३/६)—'कर्मेन्द्रियाणि···विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते'।

था।[48] परन्तु पाश्चात्य विज्ञान ने ही बाइबिल की इस उक्ति को मिथ्या प्रमाणित कर दिया है। पदार्थ जगत् का विवर्तन अनेक स्तरों में एवं अनेक युगों के पश्चात् संभव हुआ है। हिन्दू धर्म का यह सिद्धान्त पाश्चात्य विज्ञान ने स्वीकार किया है। और वह विवर्तन अभी भी चल रहा है, तथा वह सृष्टि के लय अथवा ध्वंस तक चलेगा। इस कारण से ही विभिन्न समय में उत्पन्न जीवों के मध्य जीवाणु, कीटाणु से प्रारंभ करके मनुष्य, हाथी, गैंडे, विभिन्न आकृति एवं स्वभाव के जीव एक ही समय में विद्यमान हैं। उपनिषदीय सृष्टितत्व की विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की जाएगी।

द्वितीय कारण है—कर्मफलवाद। इस मतवाद की विस्तृत आलोचना करने के लिए "जन्मान्तरवाद" के व्याख्या की प्रयोजनीयता है।

जन्मान्तरवाद :

(च) वैज्ञानिकों ने इस गुणागुण के वैषम्य का कारण 'वंशगत' कहकर निर्धारित किया है। परन्तु हिन्दू ऋषियों ने अन्य समस्याओं की तरह, इसके अनुसंधान में भी अतिगंभीर निगूढ़ प्रदेश में प्रवेश किया। केवल मात्र संतान का गुण-अवगुण ही नहीं, वरन् उसके पितृ परिचय अथवा वंशगत परिचय में भी क्यों वैषम्य होता है, इसका भी कारण वे लोग निर्देशित किए हैं। एक ही कारण से दोनों वैषम्य हुआ करता है—इसी का नाम है 'जन्मान्तरवाद'[49] और यह हिन्दू धर्म का दूसरा भित्ति-प्रस्तर है।

---

48. यथा, Genesis, I. 1-31, II. 1-3.
49. क० (१/२/६)—'न साम्परायः पुनः पुनर्वशमापद्यते मे'; (२/२/७) —'योनिमन्ये···यथाकर्म यथाश्रुतम्'; वृ० (३/२/१३)—'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा···पापेनेति'; (४/४/६)—'तदेव सक्तः···तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे'; कौ० (१/२)—'स होवाच···एतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम्···'; गी० (२/१३; ६/४१-४७; ८/६); पा० यो० (२/१२-१३)—'क्लेशमूलः···जात्यायुर्भोगाः'।

अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य का शरीर भी क्षिति, जल, तेज, मरूद् एवं व्योम् इन पंचभूत अथवा प्राकृतिक उपादानों से गठित है, एवं उन सभी उपादानों की तरह विनाशशील भी है। अतएव जन्म के समय ही प्रत्येक प्राणी की मृत्यु तिथि यथा समय निश्चित हो जाती है।[50]

आत्मा का अविनश्वरत्व :

(छ) परन्तु जन्म, वृद्धि, विनाशादि शरीर के किसी भी प्रकार के विकार आत्मा को स्पर्श नहीं करते।[51] कारण, परमात्मा का प्रतिरूप अथवा प्रतिफलन[52] होने के नाते जीवात्मा भी अव्यय एवं अविकारी है।[53] अतः वह अविनश्वर है। यह प्रश्न उठ सकता है कि, अविनाशी आत्मा जब इस शरीर में विद्यमान है, तब इस शरीर का विनाश कैसे और क्यों होता है ? हिन्दू धर्म के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त सरल है—मेरे अन्दर नित्य चैतन्य

---

50. गी० (२/२७)—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः···' ; भा० (१०/१/३८) —'मृत्युर्जन्मवतां···ध्रुवः।'
51. भा० (७/७/१८)—'जन्माद्याः···देहस्य नात्मनः।'
52. क० (२/२/९-१२)—'अग्निर्यथैको···रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव···एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' ; श्वे० (६/११-१२)—'एको देवः···बहुधा यः करोति···' ; ब्र० वि० (१)—'एक एव जलचन्द्रवत्' ; मु० (२/१/१) —'यथा सुदीप्तात्···प्रजायन्ते' ; (२/२/१)—'आविः सन्निहितं गुहाचरं···जानथ···' ; गी० (१३/३१-३३)—'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः···कृत्स्नं प्रकाशयति···' ; (१३/१२)—'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः'।
53. क० (२/२/१२-१३)—'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा···नित्योऽनित्यानां···' ; (२/२/१८)—'न जायते म्रियते···शाश्वतः···' ; गी० (२/१७-२४)—'अविनाशी···सनातनः' ; भा० (७/७/१९)— 'आत्मा नित्योऽव्ययः···अनावृतः'।

विद्यमान है, एवं मेरी असली सत्ता उन्हीं के अनुरूप है,[54] इस परम सत्य को भूलकर, अज्ञानतावश (अथवा माया के प्रभाव से)[55] क्षणभंगूर शरीर को ही सर्वस्व समझकर एवं इन्द्रियभोग्य विषय में आकृष्ट होकर, जीव कर्मजाल में आबद्ध होता है। इसलिए जितने दिन तक 'मैं अजर, अमर एवं नित्य-चैतन्य ब्रह्म स्वरूप हूँ, देहधारी शोक-भाक् नहीं हूँ'[56], इस ज्ञान के उदय द्वारा जीव परमात्मा के साथ युक्त नहीं हो पाता, उतने दिन तक अपने-अपने कर्म के फलानुसार जन्म-जरा-मरण संयुक्त देह बंधन से जीव की मुक्ति नहीं हो पाती।[57]

देहधारी जीव के कर्मों के द्वारा जीवात्मा लिप्त नहीं होती, वरन् वह तो परमात्मा के साथ संयुक्त एवं लीन [57] होने तक जीव के जन्म-जन्मान्तर गमन में अध्यक्षता करती है। मरने पर पंचभूत निर्मित शरीर के विनाश के पश्चात्, जीवात्मा मृत जीव के सूक्ष्म अथवा लिंग शरीर का (लिंग शरीर—जीव के मन, कर्म इत्यादि सूक्ष्म उपादानों से बना होता है—रक्त, मांस आदि स्थूल उपादानों

---

54. क० (१/२/२२)—'अशरीरं शरीरेषु···न शोचति' : (२/२/१२-१३) —'एको वशी···तमात्मस्थं योऽनुपश्यन्ति···नेतरेषाम्' ; ईश (१६) —'योऽसावसौ पुरूषः सोऽहमस्मि' ; वृ० (१/४/१०)—'अहं ब्रह्मास्मि ···ईशते' ; श्वे० (१/१०-१२)···'तत्वभावाद्···विश्वमायानिवृत्तिः··· ···नित्यमेवात्मसंस्थम्···' ; श० ब्रह्मानुचिन्तनम् (७)—'अहमात्मा··· ब्रह्मैवाहं···सच्चिदानन्दरूपोऽहं···' ; श० निर्वाणषट्कम् (५-६)—'न मृत्युर्न···जन्म···चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।'
55. गी० (१३/२२)—'पुरूषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते···सदसद्योनिजन्मसु' ; (७/१४-१५)—'···मम माया···माययापहृतज्ञाना···।'
56. अ० वि० (८–१० ; १५)—'तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा···चैकत्वमेक एवानुपश्यति।'
57. श्वे (६/१५)···'एको हंसो···सलिले सन्निविष्टः तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति···' ; क० (२/२/१)—'पुरमेकादशद्वारम्···विमुच्यते।'

से नहीं) आश्रय ग्रहण करके उस शरीर से निकलता है[57क] एवं उस जीव के स्वयं कृत कर्म-फलानुसार उपयुक्त नये शरीर में प्रवेश करता है। संक्षेप में यही है जन्मान्तर की प्रक्रिया।[57ख] अपने-अपने कर्मफल के द्वारा जीव केवल अपने इस जीवन को ही गठित करता है ऐसा नहीं—बल्कि वर्तमान जीवन के कर्म एवं कामनाओं-वासनाओं के द्वारा अपने मरणोत्तर जीवन को भी रूपायित करता है! भगवत्-सृष्ट प्रत्येक प्राणी ही एक दिन पूर्णत्व प्राप्त करके सृष्टिकर्ता के साथ एकाकार होगा। जितने दिनों तक वह पूर्णता अपनी-अपनो प्रचेष्टाओं के द्वारा प्राप्त नहीं होती है, उतने दिनों तक जीव को जन्म-चक्र में उलझना पड़ता है। मृत्यु के बाद भी जीव की अविनश्वर आत्मा सूक्ष्म अथवा भौतिक शरीर का अवलंबन करके विद्यमान रहती है, एवं वस्त्र परिवर्तन की भांति नये-नये कलेवर में पुनर्जन्म ग्रहण करती है।

इसी कारण से, अर्थात् वर्तमान जीवन में सभी लोगोंके क्रिया-कलाप समान नहीं होने के कारण, अगले जन्म में जन्म-मुहूर्त से ही वैषम्य आरंभ होता है। मात्र इतना ही नहीं—कौन, किस वंश में, कौन से परिवार में जन्म लेगा वह भी वर्तमान जीवन के कर्म के द्वारा ही निर्धारित होता है। उदाहरण स्वरूप—यदि कोई व्यक्ति शराब के पात्र में डूब कर रहने पर भी जीवन में शराब पीने की इच्छा को समाप्त नहीं कर पाता है, तो फिर वह व्यक्ति अगले जन्म

57क. जब अध्यात्मसाधना में जीवात्मा एवं परमात्मा का संयोग होता है और देहधारी "ब्रह्मभूय" हो, ब्रह्म में लीन हो जाता है तब संस्कार निर्मित उसका पार्थिव शरीर लुप्त हो जाता है। चु० (२१)—'···ते लयं यान्ति ···लीनास्या ब्रह्मशायिने'।

57ख. भा० (१/३/३२-३४)—'···स जीवो यत् पुनर्भवः···तद् ब्रह्म-दर्शनम्···स्वे महीयते'; (११/२२/३७)—'मनः···तदनुवर्त्तते'; गी० (१५/८-६)—'शरीरं यदवाप्नोति···विषयानुपसेवते'; सा० प्र० (३/१६)—'पुरूषार्थं संसृतिर्लिंगानां सूपकारवद्राज्ञः।

में शुण्डी-गृह में जन्म लेगा यह कोई विचित्र बात नहीं है। दूसरी ओर यदि कोई योगी पुरुष अपनी साधना में सिद्धि लाभ करने से पूर्व ही किसी भूल के कारण अकाल मृत्यु को प्राप्त करता है, तो वह अपने योगी-जीवन की चरम-सार्थकता के उपयुक्त परिवेश में ही जन्म लेता है।[58]

कर्म-फलवाद :

(ज) अभी-अभी जो प्रसंग आलोचित हुआ है, उसकी स्वतंत्र व्याख्या की प्रयोजनीयता है। कारण यह "कर्मफलवाद" हिन्दू धर्म का अन्यतम भित्ति प्रस्तर (नींव) स्वरूप है।

कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता एवं किसी कार्य को करने से वह एक दूसरे फल का कारण होता है—यह एक वैज्ञानिक सत्य है। इसे हेतुवाद[59] अथवा कार्यकारणवाद कहा जाता है। हिन्दू धर्म इस सिद्धान्त पर पहुंचा है कि, सत् अथवा असत् सभी कर्म का कुछ फल अवश्य होगा एवं कोई व्यक्ति जो भी कर्म करेगा, उसे उस कर्म का फल भोगना पड़ेगा।[60] इस फलभोग को पूर्ण रूप से नहीं भोगने तक मोक्ष प्राप्ति अथवा जन्म मृत्यु रूप संसार चक्र से मुक्ति नहीं

---

58. गी० (६/४१-४३)—'शुचीनां श्रीमतां गेहे···पौर्वदैहिकम्···'।
59. वै० द० (१/२/१)—'कारणाभावात् कार्याभावः'; सा० प्र० (१/१३५)—'कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात्'; प० ब्र० (३०)—'···कारणाभिन्नरूपेण कार्यं कारणमेव हि'; ब्र० सू० (२/१/१५)—'भावे चोपलब्धेः।'
60. वृ० (४/४/५)—'यत् कर्म कुरूते तदभिसम्पाद्यते'। शुभाशुभ कर्मों का ऐहिक एवं पारत्रिक फल किस प्रकार का होता है, वह महाभारत में विस्तृत रूप से वर्णित है। [अनु० १०२, १०४ अः; आश्व० १७ अः; आश्वः (१८/१, १२-१३)—'शुभानामशुभानांच···यद् यच्च कुरूते ···प्रचीयते···'; शान्ति (१८१/८–१६)—'सुशीघ्रमपि·· कर्तारमनु—गच्छति']।

प्राप्त होगी।[61] कारण शुभाशुभ सभी कर्मों का फल भोगने के लिए देह-धारण करना पड़ता है, एवं भोग के द्वारा ही कर्म-फल का क्षय होता है।[62]

जीवात्मा परमात्मा का अंश होने पर भी[63] देहधारी होकर इन्द्रिय आदि के विषयों से आहरण किये हुए सुख दुःखादि का भोक्ता[64] बनकर जन्म-मरण युक्त संसार में[65] आबद्ध हो जाता है। अनेक लोगों की यह धारणा है कि, केवल मात्र असत् कार्य अथवा पाप कर्म के दण्ड-स्वरूप पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है, पुण्य कार्य करने से तो सद्गति प्राप्त होती है अथवा स्वर्ग में निवास होता है। इस तरह की धारणा सत्य नहीं है।[66] हिन्दू धर्म के अनुसार सु अथवा कु

---

61. ब्र० वै० (श्री कृष्ण जन्म—८५/३४)—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि' ; श० वि० (४५३) …'प्रारब्धं वलवत्तरं… भोगेन तस्य क्षयः ; महा [आश्व० (१८/१२-१३)]—'यद् यच्च कुरूते…यावत् तन्मोक्षयोगस्थं धर्मं…' ; श्वे० (६/४)—'…कर्मक्षये याति ‥अन्यः'।
62. महा० [आश्व० (१७/३५)– 'ततः स्वकर्मभिः' ; (१८/१)—'शुभानामशुभानांच…तथा' ; शान्ति० (२०१/२४)—'…मत्स्यो यथा…पूर्वमुपैति कर्म।
63. गी० (१५/७)—'ममैवांशो‥सनाततः' भा० (११/११/४)—एकस्यैव ममांशस्य…।'
64. क० (१/३/४)—'इन्द्रियाणि…भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'।
65. क० (१/३/७)—'…संसारं चाधिगच्छति' ; महा० [आश्व० (१८/२३)—'एवं पूर्वकृतं कर्म… विकृतोऽयमिहागतः]।
66. वृ० (१/४/१५)—'यदि…महत् पूण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयते…' ; छा० (८/१/६)—'तद् यथेह…अमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते…' ; (५/१०/५)…'तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वा ‥पुनर्निवर्तन्ते…' : मु० (१/२/९-१०)…'क्षीणलोकाश्च्यवन्ते…नाकस्य पृष्ठे… हीनतरं वा विशन्ति' ; गी० (९/२१) ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं…क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' ; भा० (११/१०-२६)—तावत् स मोदते… कालचालितः'।

इन उभय प्रकार के कर्मों में ही फल निहित है एवं दोनों की समष्टि को ही कर्मबन्ध अथवा कर्मबन्धन कहा जाता है ।[67] जितने दिनों तक यह कर्मबन्धन समाप्त नहीं होता उतने दिनों तक जन्म ग्रहण करना ही होगा, कारण सभी प्रकार के कर्मों के मूल में कामना होती है एवं किसी भी प्रकारके कामनायुक्त कर्म का (जिस किसी भी प्रकार की कामना प्रणोदित कर्म, चाहे धन के लिए अथवा पुण्य के लिए) फल होता है—जन्म एवं पुनर्जन्म ।[68]

देहधारी मानव के लिए एक क्षण भी कर्महीन होकर रहना संभव नहीं है,[69] एवं उसके सभी कार्य सत्कम ही होंगे, यह भी आशा नहीं की जा सकती है। कारण हमलोगों के निःश्वास-प्रश्वास के साथ अनिच्छाकृत रूप से भी कितने जीवाणुरूपी प्राणिओं का वध हम से हो जाता है। इस रूप से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में किये गए कर्मों का समूह, शुभ-अशुभ मिश्रित हुआ करता है, शुभ कर्म के फल से स्वर्गारोहण कर पुनर्जन्म से सामयिक अव्याहति पाने पर भी[66] भोग के द्वारा उस सुकृति का फल कालक्रम से क्षय हो जाता है,[70] एवं उसके बाद अपकर्मों के फल भोगने के लिए फिर से जन्म ग्रहण करना पड़ता है—यह नियम सुनिश्चित है ।[66] इसका कारण यह है कि, जैविक विकार हेतु एक जन्म में की गयी समस्त सुकृतों-दुष्कृतों का फलभोग समाप्त होने से पूर्व ही शरीर विनष्ट हो जाता

---

67. गी० (२/३९, ३/९) ; (९/२८)—शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म-वन्धनैः···' ; मनु० (१२/३)—'शुभाशुभफलं कर्म···मध्यमाः' ।
68. गी० (२/४३)—'कामात्मानः···जन्म-कर्म फलप्रदाम्' ; मु० (३/-२/२)—'कामान् यः कामयते···कामभिर्जायते तत्र-तत्र···' ; वृ० (४/४/५-६)—'···यथाकारी यथाचारी तथा भवति···यथाकामो भवति···तत् कर्म कुरूते लोकाय कर्मणे···' ।
69. गी० (३/५)—'न हि कश्चित् अकर्मकृत्···' ।
70. महा० [आश्व० (१७/६)]—आयुः कीर्त्तिकराणीह···क्षीणेषू सर्वशः' ।

है। फलस्वरूप अन्य पूर्व जन्मों[71] के कृतकर्मों के अभुक्त फलों का बोझ (इसे ही "प्रारब्ध-कम" कहा जाता है) एक धारावाहिक हिसाब की तरह जन्म से जन्मान्तर तक जीवात्मा के फलभोग का इतिहास रचता है।[72] तो इस प्रकार के दुर्निवार जन्म-मृत्यु के चक्र से परित्राण का उपाय क्या है? इसका उत्तर यही है कि—इस प्रकार से कर्म करना होगा, कि फलभोग करना ही न पड़े। पहले ही कहा गया है कि, फल भोग के मूल में कामना है। अतएव यदि कामना-शून्य होकर, फललाभ के लिए किसी भी प्रकार की आशा न कर कार्य किया जाए, तो वह कर्म "बन्धन" का कारण नहीं होगा।[73] और थोड़ी सी गहराई से देखने पर पाते हैं, कि सभी कामनाओं का मूल है 'देहाभिमान' अर्थात् शरीर को ही 'मैं' अथवा कर्ता समझना[74]; जो वस्तु शरीर के लिए काम्य है उसे करने की इच्छा को ही "कामना" कहा जाता है। यह शरीर "मैं" नहीं हूँ, वरन इसके अन्दर छिपी हुई आत्मा को ही प्रकृत रूप से 'मैं' कहा जा सकता है, एवं यह आत्मा परमात्मा का अंश है; इस ज्ञान को भूल

71. श० वि० (२७६, ४४५-६, ४५१-४, ४५८-६३), ब्र० सू० (४/१/१५)—'अनारब्धकार्ये···तदवधेः'।

72. महा० [अनु० (७/३-४)—'येन येन शरीरेण···जन्मनि जन्मनि'; (७/१२)—'यथा धेनुसहस्रेषु···कर्त्तारमनुगच्छति'; शान्ति (१८१/१६)]; भा० (४/२६/५८-६२)—'कर्मण्यारभते···पुनर्भवः'।

73. गी० (६/२८ ; १२/११-१२, ५/१२)—'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा··· निवध्यते ; (३/६, १६)—'···तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार··· असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरूषः' ; (२/५१)—'कर्मजं···फलं त्यक्त्वा···पदं गच्छन्त्यनामयम्'।

74. गी० (३/२७)—'···अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'; भा० (११/११/६-१४)—'सुपर्णावेतौ···देहस्थोऽपिहितद्गुणैः'; (३/२७/२-३)—'स एष···कर्ताहमिति मन्यते···सदसन्मिश्रयोनिषु।'

जाना ही अज्ञानता है।[75] इस अज्ञानता को दूर करने के उपाय एवं सभी प्रकार के संकीर्ण कामनाओं को परिहार करने के उपाय परवर्ती विभिन्न अध्यायों में आलोचित होंगे।

वर्तमान प्रसंग से हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि, प्रत्येक मानव के स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप ही उसे बार-बार संसार में जन्म लेना पड़ता है, तथा उसकी दुर्गति होती है।[76] चूँकि, सभी के सुकृतियों एवं दुष्कृतियों का बोझ समान नहीं है, इसलिए उस अज्ञानता को दूर कर मनुष्य के देवत्व को विकसित करने का उपाय भी एक जैसा या अनन्य नहीं हो सकता। इसी कारण ही हिन्दू धर्म में अधिकार भेद से विभिन्न पन्थों का निर्देश दिया गया है। जो भी हो, प्रत्येक व्यक्ति की मनोवृत्ति या धारणाशक्ति एक सी नहीं होती है, इस विषय में तर्क का अवकाश नहीं है। उम्र एवं अवस्थाओं के भेद से भी व्यतिक्रम होता है। शैशव श्रेणी में जैसे उच्चतर गणित का अध्ययन उपयोगी नहीं होता है, वैसे ही शिक्षा-दीक्षा एवं चारित्रिक हीनावस्था में निष्कल ब्रह्म का ध्यान या ज्ञानयोग[77] उपयोगी नहीं होता है। इसकी अपेक्षा भक्तियोग का प्रेम धर्म[78] उपयोगी होगा, यह तथ्य तो जगाई-मधाई के ऐतिहासिक दृष्टान्त से ही प्रमाणित है। इसी कारण ही हिन्दू धर्म

75. गी० (१५/११)—'यतन्तो···पश्यन्त्यचेतसः' मैत्रा (३/२)—'···अहं यो ममेदम्···परिभ्रमति'···; भा० (११/११/७-८)—योऽविद्यया···स्वप्नदृग् यथा'।
76. महा० (शान्ति०—१८१/८–१६)—'सुशीघ्रमपि धावन्तः···कर्तारमनुगच्छति'।
77. श० वि० (१६)—'मेधावी पुरुषो···उक्तलक्षणलक्षितः'।
78. ना० भ० (८/५८)—'अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ; भा० (७/६/१६)—'न ह्यच्युतं प्रणीयतो बह्वायासः···'; गी० (९/२६) भा० (१०/८१/४)—'पत्रं पुष्पं फलं···अश्नामि···:'।

में विभिन्न मार्गों का प्रवर्तन किया गया है। किसके लिए कौन सा पथ सुगम है, इसके निर्णय हेतु योग्य आचार्य का प्रयोजन है।

व्यक्तिगत प्रयास की प्रयोजनीयता :

परन्तु मार्ग के निर्णित हो जाने पर, उस दुर्गम हिमाद्रि के अभियान में, शिष्य के स्वयं का प्रयास ही उसे सफलता की उपलब्धि कराएगा। हां ! यह अवश्य है कि गुरू उसे ब्रह्म-विद्या दान करेंगे;[79] बीच-बीच में आवश्यकतानुसार उसकी सहायता करेंगे तथा उत्साह प्रदान करेंगे। परन्तु गुरू के पर्वत शिखर पर पहुंचने से ही शिष्य का पर्वतारोहण नहीं हो जाएगा। शिष्य की आत्मा का विकास एवं पूर्णत्व की उपलब्धि, जिसके बिना ब्रह्म प्राप्ति अथवा ब्रह्म-दर्शन संभव नहीं, उसके स्वयं का ही कार्य है।[80] ब्रह्मदशन या ब्रह्मज्ञान के बिना अमृतत्व लाभ का दूसरा कोई उपाय नहीं है[81]; अतः इसके लिए जो प्रस्तुति प्रयोजनीय हैं वह प्रत्येक साधक को स्वयं ही करना होगा[80]।

इतनी विकल्प व्यवस्था क्यों :

(क) हिन्दू धर्म के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति अपने आयास द्वारा आध्यात्मिक जगत के शीर्ष-स्थान पर आरोहण कर सकता है एवं

---

79. मु० (१/२/१३)—'तस्मै स विद्वान्·· ब्रह्मविद्याम्।'

80. वृ० (४/४/६)—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ; मु० (३/१/५–८)···'सत्येन लभ्यस्तपसा ··ध्यायमानः' ; श्वे० (१/१४)—'स्वदेहमरणिं कृत्वा··· ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं प्रश्येन्निगूढवत्' ; गी० (६/५/२८)— उद्धरेदात्मनात्मनं···सुखमश्नुते'; (३/४३)—'संस्तभ्यात्मानमात्मना···'।

81. मु० (२/२/५) ; श्वे० (६/१३/१५)—'···ज्ञात्वा देवं···मुच्यते सर्वपाशैः' ; श्वे० (१/११)—'ज्ञात्वा देवं ··जन्ममृत्युप्रहाणिः···' ; (३/८)—'तमेव विदित्वा·· मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते···' ; क० (२/३/८)—'···यं ज्ञात्वा···अमृतत्व च गच्छति'।

इसी कारण ही प्रत्येक मानव के अवस्थानुसार उपयुक्त विकल्प मार्ग का विधान हिन्दू धर्म में उपलब्ध है। कोई एक विशेष मार्ग किसी के लिए रूचिसम्मत अथवा साध्य न होने पर हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं। गीर्जा अथवा मंदिर में जाना या किसी विशिष्ट रूप से भगवान की उपासना करना ; इसमें से कोई भी मार्ग हिन्दू धर्म के अनुसार एकमात्र मार्ग के रूप में निर्दशित नहीं हुआ है। उदाहरणस्वरूप उल्लेख किया जा सकता है कि, त्याग ही अमृतत्व लाभ का एकमात्र उपाय है[82] भोग नहीं। अतः केवल बाहरी नहीं, आंतरिक रूप से सभी कामनाओं एवं वासनाओं का वर्जन ही[83] हिन्दू धर्म का चरम लक्ष्य है। फिर भी सभी के लिए एवं सभी अवस्थाओं में सन्यास ग्रहण का विधान उपनिषद् या गीता में कहीं नहीं है। क्योंकि सभी मनुष्यों के लिए एकाएक सन्यासी बन जाना संभव नहीं और न ही वह विश्व-हित के अनुकूल ही है।[85]

इसीलिए उपनिषद् में विद्या एवं अविद्या अर्थात् परा एवं अपरा विद्या दोनों की ही प्रयोजनीयता की बात कही गई है।[86] साथ ही प्रत्येक मनुष्य के जीवन के विभिन्न स्तरों में ब्रह्मचर्य, गाहस्थ्य, वाण-प्रस्थ एवं सन्यास अथवा यतिधर्म[87] की व्यवस्था भी की गयी है।[88]

82. के० (१/२-३) ; ना (१२/१४)—'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'।
83. क० (२/१/१-२)—'परांचि खानि···प्रार्थयन्ते'।
84 गी० (५/६)—'सन्यासस्तु···दुःखमाप्तुमयोगतः···' ; भा० (१०/८७/३९)—'यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा···भवतः' ; (११/१८/४०-४१)—'यस्त्वसंयतषड्वर्गः···विहीयते।'
85. वि० वा० र० (१/१६९-७०)।
86. ई० (११) ; मु० (१/१/४)—'···द्वे विद्ये वेदितव्ये······परा चैवापरा च।'
87. 'यति' अर्थात् योगयुक्तात्मा [या० स० (३४)—'···ध्यानयोगेन संपश्येत् सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितः]।
88. भा० (७/१२/१३-१६) ; मनु० (६/८७)—'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वाणप्रस्थो यतिस्तथा···।'

निर्जन एवं सम्मिलित उपासना की उपयोगिता :

(अ) इसीलिए हिन्दूमत में "धर्म" एक व्यक्तिगत व्यापार है। एक साथ-अनेक लोगों को लेकर हम हाट-बाजार अथवा मेले में जा सकते हैं, परन्तु अतीन्द्रिय अनुभूति-गोचर, अव्यक्त, अचिन्त्य[89] परमेश्वर को प्रत्यक्ष करना संभव नहीं। स्वयं के आत्मिक उत्कर्ष साधन के बिना किसी गोष्ठी-सदस्य के रूप में इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं हो सकता। इसीलिए जिन ऋषियों ने याग-यज्ञ-कर्म एवं मंत्र-पाठादि अनुष्ठानों के क्षेत्र में—"संगदच्छध्वं संवदध्वम्"[90] इत्यादि मंत्रों सें सम्मिलित रूप से इन क्रियाओं को करने का निर्देश दिया है; उन्ही ऋषियों ने ही भगवान के दर्शन के लिए एकाकी जन-शून्य स्थानों में आसन लगाकर, इन्द्रियों को निरुद्ध कर समाहित होने के लिए कहा है।[91-92]

हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता में इस प्रकार की आत्म निर्भरता एवं व्यक्ति-स्वातंत्र्य का तात्पर्य न समझ पाने के कारण, अन्य

---

89. कै० (१/६)—अचिंत्यमव्यक्तमनन्तरूपं···'; क० (२/३/१२ 'न मनसा प्राप्तुं शक्यो···'; तै० (२/४/१; २/६/१)—'यतो···अप्राप्य मनसा सह···'; मा० (७)—'...अलक्षणम् अचिंत्यम् अव्यपदेश्यम्···।'
90. ऋक्० (१०/१९१)।
91. कै० (१/४-५); गी० (६-१०-१३; ८/१२); श्वे० (२/१०) मनु० (४/२५८)।
92. भक्तिमार्ग में चित्तशुद्धि एवं भगवदनुरक्ति को शिक्षण के उपायों के रूप में सम्मिलित कर कीर्तन आदि की व्यवस्था की गयी है [भा० (११/२९/११) —'पृथक् सत्रेण वा···पूर्वयात्रामहोत्सवान्'; (११/२७/४४)—'उपगायन्···श्रावयन्श्रृण्वन्···'; (११/१४/२६)—'···यथा···मत्पुण्य-गाथाश्रवणाभिधानैः···']। परन्तु अंत में भक्तिमार्ग में भी मोक्षलाभ के लिए एकाकी ध्यानयोग द्वारा भगवान् के साथ युक्त होना होगा [भा० (३/२८/८-३६); (११/१४/२९)···'विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः'; (११/१४/४५)—'···एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि···']।

धर्मावलंबियों में से किसी-किसी ने इसे "स्वार्थपरता का धर्म" कह कर संबोधित किया है।

इस प्रकार के व्यंग पूर्ण समालोचना का कारण यह है कि, ये समालोचक यह नहीं जानते हैं कि सर्वभूत में समदर्शन एवं सार्वजनिक कल्याण-साधन ही हिन्दू धर्म का चरम लक्ष्य है। भगवान् अपनी सृष्टि के प्रत्येक अणु में विराजमान हैं। अतः प्रत्येक जीव के अन्तर में उसी आत्मा के अस्तित्व की उपलब्धि नहीं होने पर, उन प्राणियों के सृष्टिकर्ता परमेश्वर को देखने योग्य आंखें उन्हें कहां से प्राप्त होंगी ?[94] दूसरी तरफ जबतक सभी के मध्य हम 'स्वयं' की अनुभूति नहीं कर पाएंगे, तबतक क्या निःस्वार्थ भाव से दूसरे के दुःख से हम दुःखी हो पाएंगे[95] ? जो इस प्रकार से स्वयं को अन्यों के लिए संसार में अर्पित कर देना ही सिखाता हो, क्या उस धर्म को "स्वार्थपरता का धर्म" कहा जा सकता है ? केवल मात्र व्यक्तिगत लाभ ही नहीं वरन् साथ ही सम्पूर्ण विश्व का हित भी हिन्दूओं का चरम लक्ष्य है। इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम शिखर पर आरोहण के पश्चात् भी योगियों को लोकसंग्रहार्थ[96] एवं सर्वभूतहित[97] कर्मों में लगे रहने का उपदेश दिया है। इन्हीं कारणों

---

93. ई० (५–६) ; तैं० (२/६) ; मैत्री० (५/२) ; छा० (६/३/३) ; क० (१/२/१२ ; १/३/१२) ; गी० (१०/२०)—'……सर्वभूताशयस्थितः…' ।

94. गी० (४/३५)—'येन भूतान्यशेषेण…मयि' (६/२९–३१) ; भा० (३/२९/२१-२५)—'अहं सर्वेषु भूतेषु…सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।'

95. गी० (६/३२)—'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति…।'

96. गी० (३/२०, २५) ।

97. गी० (५/२५ ; ६/३१) ।

से ही 'जीवन मुक्त' पुरुष दूसरों की मुक्ति एवं कल्याण के लिए देह धारण करते हैं।[98]

सनातन व शाश्वत धर्म :

हिन्दू धर्म को सनातन धर्म कहा जाता है,[99] क्योंकि, इसकी वाणी शाश्वत है, इसका जीवन अनन्त है। ईसा के जन्म से छह-सात हजार वर्ष पहले कब किस विस्मृत दिन में इस धर्म का जन्म हुआ था, कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता। दूसरी तरफ चिरन्तन सत्यों पर प्रतिष्ठित होने के कारण यह अविनाशी है। पहले ही कहा चुका हूँ कि, अनेक घात-प्रतिघात के प्रतिरोध की शक्ति इसमें निहित है। भारतवर्ष की उदारता ने जिस प्रकार से शकों, हूणों, मुगलों, पठानों एवं तातारों का आलिंगन किया; उसी प्रकार अनार्य, पारसीक, इस्लाम, एव इसाई प्रभृति मतवादों से स्वयं की रक्षा करने के निमित्त हिन्दू धर्म ने समय-समय पर कितने ही गौण आचार-विचारों का ग्रहण एव वर्जन किया है। यह नमनीयता एवं संस्कार प्रवणता इसका सहजात धर्म है एवं इसीलिए यह अक्षय एवं अविनाशी है। इतने सघातों एवं परिवर्तनों के पश्चात् भी इसका अस्तित्व विलुप्त नहीं हुआ, कारण इसके सार्वजनीन एवं शाश्वत अन्तरात्मा के परिष्करण की आवश्यकता नहीं पड़ी। हिन्दू धर्म में कौन सा मुख्य एवं कौन सा गौण अंग है इसे समझने का यह एक उत्कृष्ट उपाय

98. द्र० पृ० ३२ ; भा० (७/६/४४)—'...नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको... ; [१०/२२/२५]—'एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहेषु...श्रेय आचरणं सदा'।

99. द्र० पृ० ८।

है। श्री चैतन्य[1] महाप्रभु एवं रामानुज द्वारा प्रतिपादित वैष्णव धर्म में जातिगत विचार नहीं है। परन्तु वेदान्त दर्शन[2] के ऊपर प्रतिष्ठित होने के कारण वैष्णव धर्म की शाखा के रूप में मान्य है। दूसरी तरफ वेद एवं सृष्टि स्थिति संहारकर्ता ईश्वर को स्वीकार न करने के कारण[3] बौद्ध एवं जैन धर्म को हिन्दू धर्म का अंग नहीं माना जाता ; क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व समस्त वेदों एवं उपनिषदों की स्वतः सिद्ध प्रतिज्ञा है (द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य), जिसे त्याग देने से वेद पर आधारित हिन्दू धर्म का अस्तित्व ही नहीं रहता।

आज हिन्दू के रूप में परिचित अनेक व्यक्ति अपने धर्म के प्रति आस्थाहीन हो गए हैं। यह सामयिक है एवं अज्ञानता के कारण हुआ है। यदि हिन्दू धर्म के मौलिक तत्वों को पुरातन पाठ के समान उनके समक्ष रख दिया जाय तो वे समझेंगे कि जिस शाश्वत भावधारा ने भारत वर्ष को "ब्रह्मावर्त"[4] "देवभूमि" इत्यादि नामों का अधिकारी बनाया था, वे ही भावधारायें आज भी भारतवर्ष के नीलाकाश में इन्द्रधनुष के सात रंगों में शोभायमान हैं। भारतवर्ष की धूलि के प्रत्येक कण में वही "मधु" बिखरा हुआ है, जिसे देखकर वर्तमान युग का कवि, वैदिक ऋषियों[5] की वाणी

---

1. चै० च० ४—'नीच जाति का व्यक्ति कृष्ण के भजन में अयोग्य नहीं होता···कृष्ण के भजन लिए जाति-कुल का विचार नहीं होता है ; भा० (३/३३/७)—'अहोवत श्वपचोऽतो गरीयान्··· ; (११/२९/३१)—'···भक्तिस्यात् शूद्रयोषिताम्' ; Abhedananda, India & Her people (1906), P. 66.
2. भा० मा० (२/६७)—'वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा···'।
3. दयानंद सरस्वती, सत्यार्थप्रकाशः, पृ० ७४२, ७४६, ७६४-७८ ।
4. मनु० (२/१७)।
5. वृ० (६/३/६)—'मधुमत् पार्थिवं रजः'।

को प्रतिध्वनित करता हुआ जीवन-सायाह्न में कह सकता है— "मधुमय है इस धरणी की धूलि"।[6]

आज यदि हमलोगों के मध्य कोई हिन्दू धर्म के मूल्यों के सम्बन्ध में संदिग्ध है, तो इसका कारण यह है कि, वह प्रकृति का संहार कर यन्त्र दानवों को उसके स्थान पर प्रतिष्ठित कर रहा है। इस प्रकार के मनुष्य कभी भी प्रतिष्ठा एवं स्थायित्व अर्जन नहीं कर पाते।

पहले ही बता चुका हूँ कि हिन्दू धर्म कोई साम्प्रदायिक अनुशासन नहीं, यह हमारे जीवन का आधार है। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त प्रतिक्षण हम हिन्दू धर्म के आलोक से उद्भासित हैं और इसके संगीत से अनुप्राणित हैं। यदि इसका परिचय चाहते हैं तो पुनः प्रकृति की गोद में चलिए, जहां संध्या काल में कूलवधुएं तुलसी के मंच पर क्षीण प्रकाशमान दीपक जलाकर प्रणाम करती हैं। आलिम्पनरंजित गृह में, दीन-आयोजन के द्वारा सब के लिए मंगल कामना करते हुए उपवास रख कर जगन्माता की कृपा प्राप्ति के लिए व्रत उद्यापन करती हैं। चलिए उस आडम्बर रहित गाँव के खेतों खलिहानों में, जहां वृद्ध कृषक, चरवाहे बालक, अर्धशिक्षित वाऊल-वैरागियों के मुख से वेदान्त की गंभीरतम वाणियां निःसृत होती हैं।

आत्मा की अविनश्वरता, पार्थिव सुखों की अनित्यता, जन्म-मृत्यु के बंधन से परित्राण के लिए भगवत् प्राप्ति ही मनुष्य का लक्ष्य है— ये सब परमसत्य नृत्य, गीत, कहानियों एवं कथोपकथनों के माध्यम से अभी भी उनके द्वारा उच्चारित होती हैं।[7]

---

6. संचयिता (८ म सं०), पृ० ८३१।

7. दुःख का विषय यही है कि, जिस भूखण्ड से हमलोगों ने यन्त्रदानवों की उपासना का आवाहन किया है, उसी स्थान के चिन्तनशील मनीषिगण यह अनुभव कर रहे हैं कि, जिस सर्वांगीण सुख-शान्ति की प्रार्थना उन्होंने इस

भारतवर्ष के आकाश में, वायुमंडल में बिखरा हुआ है—महाभूत निःश्वसित[8] एवं युग परम्परा से सहस्रों ऋषियों के मुख से उद्गीत हिन्दू धर्म का सारतत्व—उपनिषद् की वही अमृत धारा, जो कि असंदिग्ध व्यक्ति के लिए प्राणवायु के सदृश्य सहज एवं सुलभ है।

यंत्र दानव से किया था उसने उसके विपरीत मनुष्य जाति के ध्वंस का रास्ता ही खोल कर रख दिया है। हमलोगों में से अधिकांशतः इस तथ्य से परिचित नहीं हैं। इस ध्वंस से बचने का एकमात्र उपाय है उपनिषदों का अमृतमंत्र, जो समस्त विश्व के निवासियों को 'अमृतस्य-पुत्राः' अभिहित कर, अकृत्रिम सौभ्रातृत्व के बन्धन में आबद्ध किए है। जिन हिन्दुओं ने इस मंत्र को विस्मृत कर दिया है, उन्हीं के जानकारी हेतु वर्तमान काल के विशिष्ट पाश्चात्य विद्वान की एक उक्ति यहां उद्धृत कर रहा हूं—

Today...it is already becoming clear that a chapter which had a western beginning will have to have an Indian ending if it is not to end in the "self-destruction" of the human race. In the present age the world has been united on the material plane by western technology. But this western skill has armed the peoples of the world with weapons of devastating power at a time when they have been brought to point-blank range of each other without yet having learnt to know and love each other. At this supremely dangerous moment in human history, the only way of salvation for mankind is an Indian way...here we have the attitude and the spirit that can make it possible for the human race to grow together into a single family... and in the atomic age, the only alternative to destroying ourselves." [Arnold Toynbee, An Historian's Approach to Religion, PP, 47-48]

8. बृ० (२/४/१०)—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्···'।

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।[9]

येनाऽहं नामृता स्याम्
किमहं तेन कुर्याम् ।[10]

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा:
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु: ।[11]

'आनंदरूपममृतं यद्विभाति' ।[12]

---

9. वृ० (१/३/२८) ।
10. वृ० (२/४/३, ४/५/४) ।
11. श्वे० (२/५) ।
12. मु० (२/२/७)

द्वितीय अध्याय

ईश्वर का अस्तित्व

ईश्वरवाद :

हिन्दू धर्म का प्रथम सिद्धान्त है—ईश्वर का अस्तित्व। परन्तु विश्व के अधिकांश धर्म ही ईश्वरवादी हैं, अतः यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, इसे मात्र हिन्दू धर्म की विशेषता कैसे कही जाय ? हिन्दू-आस्तिक्यवाद की उन्हीं विशेषताओं की चर्चा वर्त्तमान अध्याय में की जायगी।

सर्वप्रथम यह देखना होगा कि, ईश्वर के अस्तित्व के विषय में हिन्दू धर्म के सभी शाखाओं एवं उपशाखाओं के मध्य मतैक्य है या नहीं ? जिससे इसे हिन्दू धर्म के एक सारतत्व या सर्वसम्मत प्रतिज्ञा के रूप में अभिहित किया जा सके। हिन्दू धर्म में निरीश्वरवाद ने कभी सिर नहीं उठाया, ऐसा कहना सत्य को नकारने के जैसा होगा। पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि, धर्ममत की अबाध स्वतंत्रता हिन्दू धर्म की सर्वाधिक विस्मयकारक विशेषता रही है। सत्यद्रष्टा ऋषियों ने ज्ञान के उत्तुङ्ग शिखर पर आरोहण करने के पश्चात् भी अपनी अतींद्रिय उपलब्धियों को अभ्रान्त कह कर प्रचारित नहीं किया। न ही उस ज्ञान को कभी किसी पर थोपने का प्रयास किया। परन्तु उन्होंने स्वयं के अप्राकृत दृष्टिलब्ध सत्यों को सभी प्रकार के वस्तुतांत्रिक युक्तियों, यहाँ तक कि, तर्क-वितर्क के द्वारा भी परीक्षण का अवसर प्रदान किया। इसी कारण हिन्दू धर्म के सहस्र युगव्यापी इतिहास में इतने विभिन्न मतवादों का उद्‌भव संभव हुआ। तथापि इस वाद-विवाद से शाश्वत सिद्धान्तों की

असारता नहीं बल्कि सत्यता ही सुप्रतिष्ठित हुई है, एवं विभिन्न मतवादों के बुलबुलों की भाँति लुप्त हो जाने पर हिन्दू धर्म के सार्वजनिक सारतत्वों के निर्णय के लिये कोई दुरूह गवेषणा की आवश्यकता नहीं है।

निरीश्वरवाद क्यों ग्राह्य नहीं है ?

उदाहरण स्वरूप हम दो नास्तिक मतवादों का उल्लेख करेंगे। इनमें "नास्तिक शिरोमणि"[1] चार्वाक अग्रगण्य हैं। परन्तु उन्हें किसी ने भी ऋषि अथवा धर्मप्रवक्ता के रूप में किसी भी काल में मान्यता नहीं दी। उन्होंने वैदिक मतों के खण्डन के लिए तार्किक युक्तिओं का आश्रय ग्रहण किया और यह घोषणा की इंद्रियसुख ही मानव का एकमात्र कर्त्तव्य है। यह स्वाभाविक है कि उनके मतानुसार ईश्वर तो दूर ही रहे, धर्म का ही कोई स्थान नहीं।[2] यदि उनके विचार सत्य होते तो ऋषिगण मूर्ख प्रमाणित होते और विश्व के अन्य असंख्य धर्मों के प्रवक्ता भी इसी श्रेणी में आ जाते। मानवजाति में इतरप्राणियों के भावानुसारी कुछ व्यक्ति सदा ही थे एवं रहेंगे। इसका कारण यह है कि, मानव का शरीर अन्य पशुओं को तरह ही जैविक है: परन्तु इस अनस्वीकार्य पशुत्व से देवत्व की प्राप्ति का अभियान ही दुर्लभ मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। जिन्होंने उपनिषद् की इस वाणी की घोषणा की एवं आज भी जो इस वाणी को शोक-व्याधि-जरा जर्जरित शरीर का एकमात्र अवलम्बन मानते हैं, उनकी संख्या इतिहास के किसी तमावृत समय में नगण्य होने पर भी, उन थोड़े से देवमानवों ने ही सभ्यता को प्रलय-पयोधि से कल्प-कल्पान्तरों में बचाये रखा

1. मध्वाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २।
2. वि० वा० र० (२/७५) ; दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश (१३८७), पृ० ७३१-४०।

है। क्या यह देवत्व के सम्बन्ध में उपयुक्त परोक्ष प्रमाण नहीं हैं? हिन्दू धर्म के विशाल शरीर में चार्वाक का स्थान नगण्य है। परन्तु चूंकि वतमान समय में इस देवभूमि भारतवष में, विशेषत: गौड़खण्ड में, इन्द्रियसर्वस्व[3] नवचार्वाकियों का प्रादुर्भाव हो रहा है[4], अत: इच्छा न होने पर भी चार्वाक दर्शन के परिणामों का उल्लेख करने को बाध्य हुआ हूँ।

द्वितीय निरीश्वरवाद भी उपनिषद् वहिर्भूत कपिल प्रणीत सांख्य दर्शन है।[5] इस दर्शन की चार्वाक दर्शन की तरह सारहीन

3. गी० (२/६७-६८)—'इन्द्रियानां हि चरतां···प्रतिष्ठिता, ; (३/३४)—'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे···परिपंथिनौ'।

4. अदृष्ट का परिहास यही है कि चार्वाकवादी सम्प्रदाय अनेक युगों पूर्व ही विलुप्त हो गया [वि० वा० र० (४/२३६)], किन्तु वास्तववाद से अनुप्राणित कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकारी वर्ग ने चार्वाक दर्शन को पाठ्यक्रम में महत्व देनें की व्यवस्था की है।

5. वास्तव में ; भारतवर्ष के ६ दर्शनों में, केवल सांख्य में ही नही अपितु पूर्वमीमांसा में भी ईश्वर का स्थान नहीं है और न्याय तथा वैषेशिक दर्शन में भी ईश्वर का स्थान गौण है। परन्तु कालचक्र के आवर्तन से, ये सभी निरीश्वरवादी मतवाद पाश्चात्यार्थक 'दर्शन' या तर्क एवं विचार की सहायता से मानसिक अनुशीलन तक ही सीमित रह गये [Aurobindo, Ranaissance in India, PP. 80-81]। अमृतत्व प्राप्ति के उपाय के रूप में ये अधिष्ठित नहीं हो पाये। उस स्थान को अधिकार किया वेदान्त या उपनिषदों ने और हिन्दू धर्म के इस विवर्तन में गीता का अवदान भी कम नहीं है।

समन्वयवादी गीताने निरीश्वरवादी दर्शनों को पृष्ठ भूमि में रखकर ही वेदान्त के ईश्वरवाद को सगुण ईश्वर की अध्यक्षता में सुप्रतिष्ठित किया है। भगवत् नि:सृत वाणी के माध्यम से श्रीमद्भगवद् गीताने पूर्व मीमांसा के कर्मयोग और सांख्य के ज्ञान योग का समन्वय करके [गी० (५/४-५)—'सांख्योगौ पृथग्वाला : ··· स पश्यति'], कर्मफलत्याग-योग का प्रवर्तन किया है, [(५/१०-१२)—'ब्रह्मण्याध्याय कर्मणि··· शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्'] और सव कर्म ईश्वर को ही समर्पित

कह कर उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि कपिल को 'सिद्ध'[6] के रूप में स्वीकृति प्रदान की गयी है। मोक्ष अथवा कैवल्य ही जीवन का उद्देश्य है, एवं इस दुःखमय संसार से परित्राण पाने का उपाय है, और सत्य ज्ञान के द्वारा ही इसकी उपलब्धि सम्भव है।[7] कपिल के इन सभी मतवादों के साथ उपनिषद् के ज्ञानमार्ग का सादृश्य[8] रहने के कारण समन्वयधर्मी गीता ने इन सभी मत-वादों के साथ ईश्वरवाद का सामंजस्य स्थापित किया है। तथापि कपिल का दर्शन हिन्दू धर्म के सारतत्व का अंग नहीं हो सका। इसका कारण यह है कि, उनके दर्शन में सृष्टिकर्ता ईश्वर का कोई स्थान नहीं है।[9] कपिल के अनुसार 'प्रसव' प्रकृति का धर्म है; अतएव किसी सृष्टिकर्ता पुरूष की सहायता के बिना ही प्रकृति ने जगत् की सृष्टि की है, और प्रकृति का यह स्वभावसिद्ध सृष्टि या विवर्तन स्वतः प्रवहमान है। परन्तु कपिल का यह

करने की शिक्षा दी है [गी० ९/२७-२८)—'यत् करोषि ··विमुक्तो··· मामुपैष्यसि']। गीतोक्त यही ईश्वर, वेदान्त के वही 'एकमेवाद्वितीयम्' [छा० (६/२/१), श्वे० (३/१)]' ब्रह्म ही हैं [गी० (४/२४; ५/१०)]। गीता ने यह प्रचारित किया कि 'ब्रह्म निर्वाण' ही सनातन धर्म के साधक का चरमलक्ष्य है। उपरांत भगवद्गीताने उसी ब्रह्म को पुरुषोत्तम वासुदेव के रूप में साधकों के दिव्य दृष्टि के समक्ष लाकर [गी० (१४/२७)—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्···'] उन्हे हमारे स्वजन के रूप में [गी० (९/१८)—'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी···सुहृत्···'], स्थापित कर, उनमें ही शरणागत होने से मुक्ति अवश्यम्भावी है, [गी० १८/६२)—'तमेव शरणं··शाश्वतम्'], इस प्रकार की वाणी को प्रचारित किया है।

6. गी० (१०/२६)।
7. सांख्यसूत्र (३-२३)—'ज्ञानमुक्ति :'।
8. वि० वा० र० (६/२२-४३)।
9. सा० प्र० (१/९२-४; ५/१०; ६/६४)-'ईश्वरासिद्धेः' 'प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः'; 'नेश्वराधीना प्रमाणाभावात्।'

निरीश्वर सृष्टितत्व मात्र उपनिषद् विरोधी नहीं हैं, वरन् यह निराधार भी है। इसका उत्कृष्ट प्रमाण यह है कि सांख्य दर्शन के द्वितीय प्रवक्ता पतंजलि ने कपिल के अधिकांश मतों को ग्रहण करते हुए भी उनके मध्य ईश्वर के आसन को संरक्षित[10] रखते हुए 'सेश्वर सांख्य' मतवाद का प्रवर्तन किया, एवं 'ईश्वर-प्रणिधान'[11] को मुक्ति का अन्यतम सोपान निर्देशित किया।

कपिल ने जिन युक्तियों के आधार पर अपने नास्तिकतावाद की स्थापना की, वे मूलतः भ्रान्त हैं। उनकी युक्ति यह है कि, तर्क अथवा न्याय शास्त्र की तरह किसी प्रक्रिया के द्वारा ईश्वर को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।[9] किन्तु यदि अन्य पार्थिव वस्तुओं की भाँति सृष्टिकर्ता को भी सामान्य इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता, तो ईश्वर को जगत् के अधिकर्ता विश्वनियन्ता के रूप में कोई भी स्वीकार नहीं करता। जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं सृष्ट ब्रह्माण्ड के अन्दर बाहर सर्वत्र विराजमान हैं, उन्हें हम अपनी सीमित, अकिंचित्कर, इन्द्रिय-शक्ति के द्वारा कैसे नाप सकते हैं? इसीलिए ईश्वर, हिन्दू धर्म में ही नहीं, सभी

10. पा० यो० (१/२४-२६)।

11. पा० यो० (१/२३)। कुछ लोगों का कथन है कि, ईश्वर ही जगत् के सृष्टि कर्ता हैं योगसूत्र में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु इसका कारण यह है कि, इस ग्रंथ में यौगिक प्रक्रिया के सोपानों के विषय में सूत्राकार में संक्षिप्त रूप से कहा गया है क्योंकि विशद विवरण का स्थान नहीं था। तथापि पतंजलि ने ईश्वर की प्रामाणिकता को स्थान दिया है; 'ओंकार ईश्वर का प्रकाशक है और उस ओंकार का जप तथा ध्यान ही समाधि का उपाय है; ऐसा उन्होंने कहा है ['तस्य वाचकः प्रणवः'; 'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'—पा० यो० (१/२७/१८)]। यदि यही है तो वह ईश्वर उपनिषद के ब्रह्म नहीं हैं इस प्रकार के कथन का औचित्य क्या है? तुः—तै० (१/८) 'ओमिति ब्रह्म ब्रह्मैवाप्नोति'; मा०(१/१-६) —'ओमित्येतदक्षरमिदं···एष सर्वेश्वर···प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'; मु० (२/२/४)—प्रणवो धनुः···ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते']।

धर्मों में अतीन्द्रिय उपलब्धि के विषय हैं। हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि, यह धर्म उस अतीन्द्रिय दृष्टि को किस प्रकार प्राप्त की जाय, इसकी शिक्षा, विद्यालय के पाठ्यक्रम की तरह ही प्रदान करता है ; एवं यह भी घोषणा करता है कि, पाठ्यसूची के अनुसार पशुत्व का पूर्णतःउन्मूलन कर विशुद्धसत्व[12] होने पर ही दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है। और तब उस देव-मानव के ध्यानदृष्टि में ईश्वर स्वतः प्रकाशित एवं प्रमाणित होते हैं।

कपिल के 'प्रमाणाभाव' युक्ति की असारता अत्यन्त अल्प समय में ही परवर्ती सांख्य प्रवक्ता पतंजलि के योगशास्त्र के द्वारा प्रमाणित हुई। वे केवल एक अद्वितीय, नित्य, क्लेशमुक्त, सर्वज्ञ ईश्वर के अवतार का उल्लेख कर शान्त नहीं हुए; बल्कि उन्होंने उस परमात्मा के साथ युक्त होने को पद्धतियों को भी निर्देशित किया।[13] वे पद्धतियाँ अष्टांगयोग, आत्मसंस्था योग अथवा राजयोग के नाम से अभिहित होकर हिन्दू साधना के एक मार्ग के रूप में स्वीकृत हुई हैं।

उपर्युक्त आलोचना के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि तर्क, न्याय, मीमांसा इत्यादि विद्या की चर्चा में हिन्दुओं ने कभी अवरोध उत्पन्न नहीं किया। परन्तु किसी भी निरीश्वर मतवाद को 'धर्म' के अक में स्थान नहीं दिया। इसका कारण यह है कि, धर्म के अन्तरात्मा ब्रह्म या परमेश्वर सब तर्क से परे हैं एवं वाक्,

---

12. मु० (३/१/८)—'······ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' ; छा० (७/२६/२)—'···सत्वशुद्धौ···विप्रमोक्षः···' ; पा० यो० (वि० ५६)—सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्येकैवल्यमिति'।
13. पा० यो० (स-२४-२८)—'क्लेशकर्म···ईश्वरः···तस्य वाचकः प्रणवः तज्जपस्तदर्थभावनम्।'

मन, मेधा, चक्षु, जैसे जैव शक्तियों के दृष्टि से परे हैं।[14] अतः किसी भी प्रकार का निरीश्वर मतवाद हिन्दू धर्म के सारतत्व के रूप में परिगणित नहीं हो सकता ![15]

हिन्दू आस्तिकतावाद का आधार क्या है :

अब यह देखना है कि, हिन्दू ऋषियों ने अपने आस्तिकतावाद को किन युक्तियों के ऊपर प्रतिष्ठित किया है। पहले ही कह देना उचित होगा कि, 'ईश्वर का अस्तित्व' हिन्दू मतानुसार केवलमात्र प्रत्यय अथवा युक्तिहीन विश्वास को वस्तु नहीं है। अनेक युक्तियों एवं परीक्षणों के उपरान्त ऋषिगण इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे। जो ईश्वर के अस्तित्व को तर्क के द्वारा प्रमाणित करने के लिए चुनौती देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि, तर्कशास्त्र या पदार्थ विज्ञान में भी विभिन्न विषय-वस्तुओं को प्रमाणित करने के लिए भिन्न पद्धतियों की व्यवस्था है। पृथ्वी के आदि पिता एवं माता को किसी जीवित अथवा इतिहासग्राह्य व्यक्ति ने नहीं देखा है, परन्तु उनका अस्तित्व सर्वमान्य है। किसी भी प्रयोग-परीक्षण के द्वारा वज्र के उपादान को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उसका भी अनुभव तथा नैसर्गिक पर्यवेक्षण और अन्य प्रत्यक्षीभूत सिद्धांतों से ही किया जा सकता है। इस अनुमान पद्धति को अवैज्ञानिक

14. क० (१/२/६) 'नैषा तर्केण' ; क० (१/२/२३) ; मु० (३/२/३)—'नायमात्मा···श्रुतेन' ; (३/१/८)—'न चक्षुसा···वा' ; के (१/३)—'न तत्र चक्षुर्गच्छति···नो मनः' : श्वे० (४/२०)—'न संदृशे···न चक्षुषा पश्यति···'।

15. इसी एकमात्र कारण से बौद्ध एवं जैन धर्म हिन्दू धर्म से उद्भूत (उत्पन्न) और मनुष्य जीवन के लक्ष्य में उपनिषद् के साथ एकमत होने पर भी, तथा कर्म और जन्मान्तरवाद को स्वीकार करने पर भी इन्हें 'निरीश्वरवादी' सम्बोधित कर हिन्दू धर्म के अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता ['दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ७४१, ७५२]।

नहीं कहा जा सकता। परन्तु स्वतः सिद्धान्त एवं अनुमान, सीमित शक्ति सम्पन्न मानवकृत किसी भी विज्ञान का अपरिहार्य उपादान है।[16]

अब यह देखा जाय कि, किस इतिवाचक उपाय या सिद्धान्त के ऊपर हिन्दू धर्म का यह आस्तिकतावाद प्रतिष्ठित है।

मानव मन के चिरन्तन प्रश्नों के समूह :

सभ्यता के अरुणोदय से ही मनुष्यों के मन में अनेक प्रकार के मौलिक प्रश्न नित्य उत्पन्न हुआ करते हैं[17] एवं युगान्तरकारी वैज्ञानिक अग्रगति के बाद भी उन प्रश्नों का समाधान नहीं हुआ है। वे प्रश्न हैं—

(क) इस विश्व-चराचर-सृष्टि के मूल में नैसर्गिक कारणों के पीछे कोई और कारण या शक्ति है क्या ?

(ख) यदि है, तो वह कोई प्रकृत सत्ता है, अथवा केवल अनुमान या कल्पना ही है ?

(ग) यदि अनुमान मात्र है, तो उसकी आवश्यकता अथवा सार्थकता क्या है ?

(घ) यदि प्रकृत सत्ता है, तो वह सगुण है अथवा निर्गुण ? साकार है या निराकार ? हमारे इन्द्रियगोचर किसी जीव या पदार्थ के साथ उस सत्ता का सादृश्य है ?

---

16. पा० यो० (१/७)—'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि'।

17. द्रः श्वे० (१/१)—'कि कारणं ब्रह्म कुतः स्म···व्यवस्थाम्'; के० (१/१) —'केनेषितं पतति···युनक्ति'; क० (१/१/२०)—'येयं प्रेते···नायमस्तीति चैके; प्र० (१/३)—'कुतो ह वा इमाः प्रजा प्रजायन्ते···'; (३/१)'···कथमायात्यस्मिन्न शरीर···कथमध्यात्मम्'; ऐ० (३/१/१) —कोऽयमात्मेति···विजानाति'; मुक्ति (५/६)—'···येनाहं मुच्येयं भवबंधनात्···कृपया वद···'।

(ङ) यदि वह शक्ति व्यक्तिसत्ता से परे नंव्यक्तिक आत्मा या चेतना मात्र है, तो हमलोग इन्द्रियलब्ध ज्ञान के द्वारा उस कायाहीन, अव्यक्त, अदृश्य चैतन्य को किस प्रकार प्राप्त करेंगे ?

(च) मनुष्य जीवन की उत्पत्ति कहाँ से है, तथा उसका उद्देश्य एवं परिणति क्या है ? देहावसान के बाद, मृत्यु के पश्चात्, देहधारी मनुष्य का कुछ और अस्तित्व भी शेष रह जाता है ?

(छ) रोग-शोक-जन्म-मृत्यु के कष्टदायक दुःखपूण नियति से परित्राण पाने का कोई उपाय है क्या ?

हिन्दू ऋषियों ने अपनी तुरीयानुभूति के द्वारा इन सभी प्रश्नों के जिन उत्तरों को प्राप्त किया तथा विश्वमानवों के शान्ति एवं कल्याण के लिये उत्सर्ग कर दिया, उसी विषय का विश्लेषण वर्तमान अध्याय में किया जाएगा ।

विवर्तनवाद :

सृष्टि के रहस्य एवं भगवान के अस्तित्व, इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में प्रायः सभी धर्मों में कुछ-न-कुछ व्याख्या उपलब्ध है। परन्तु ऋषियों ने जिस पद्धति से दोनों को संयुक्त कर सृष्टि के आदि एवं अन्त में ईश्वर को स्थापित किया है ; वही हिन्दू धर्म की विशेषता है । हिन्दू-सृष्टितत्व के प्राथमिक सिद्धान्त (विवर्तनवाद) को आज पाश्चात्य विज्ञान ने भी स्वीकार किया है।[18] इस असंख्य सौरनक्षत्रमण्डल-संवलित विराट् ब्रह्माण्ड की सृष्टि एक दिन में

18. प्राच्य एवं पाश्चात्य उभय जगत् के सुविख्यात विद्वान मनियर विलियमस् ने लिखा है (Monier Williams, Brahminism & Hindu Tradition, P. 12) —"वर्तमान युग के वैज्ञानिकों द्वारा ग्रहण किये जाने से अनेकों वर्ष पूर्व ही, यहां तक की पृथ्वी के अन्य किसी भी भाषा में 'विवर्तन' शब्द व्यवहृत होने के पूर्व ही, हिन्दूओं ने विवर्तन शब्द का प्रचार किया था।" हाक्सले ने भी कहा है (Huxley,

नहीं हुई ; और इसका विनाश भी एक ही दिन में नहीं होगा। थोड़े पर्यवेक्षण से ही देखा जा सकता है कि, जड़ एवं जीव दोनों जगत् में, सृष्टि और ध्वंस, जन्म और मृत्यु, अणु से वृहत्तर सत्ता में एवं एक वृहत्तर वस्तु को खण्ड कर कणों में परिणत करने की प्रक्रिया, एक ही साथ और आदि-अन्तहीन धारा में निरंतर प्रवहमान है।[19]-[20]

यदि किसी की यह धारणा है कि, पदार्थ का यह नियत रूपान्तर संघठन, विध्वंस और सृष्टि[20], जिसके आविष्कार में पाश्चात्य विज्ञान को हजारों वर्ष लग गये, उसे निश्चय ही सभ्यता के उन्मेष के पूर्व[21] इतिहास के स्वल्प आलोकित ऊषा में, अर्धनग्न ऋषियों ने केवल कल्पना या किसी रहस्य विद्या की सहायता से

Science & Hebrew Tradition, P. 150)—"पलों के जन्म से अनेक युग पूर्व ही भारतीय ऋषियों के समक्ष विवर्तन (Evolution) स्पष्टतः ज्ञात था"। वर्तमान युग का स्वधर्म विमुख हिन्दू युवक-समाज यह जानकर विस्मित होगा कि, आधुनिक विज्ञान की यह स्वीकृति कोई आकस्मिक या काकतालीय बात नहीं, परन्तु पृथ्वी के स्वतः प्रकाशित धर्म समूहों के मध्य वेद ही एकमात्र ऐसा मतवाद है जिसे आधुनिक विज्ञान सम्मत माना जाता है [Jacoliot, Bible in India, Vol II Ch. I] ; और केवल विवर्तनवाद ही नहीं,—पाश्चात्य विज्ञान का आज जो कुछ भी गौरव स्तंभ है, अनेक सहस्र वर्षों पूर्व ही सबों की नींव हिन्दू ऋषियों ने डाल दी थी ; और अनेक क्षेत्रों में आज तक भी पश्चिम के लोग उन सब हिन्दू सिद्धान्तों का अतिक्रमण नहीं कर सके [Will Durant, History of civilisation. 1935]।

19. गी० (६/७-१०)—'सर्वभूतानि·· जगद्धिपरिवर्तते।
20. Harris (Man's place in the Universe, PP. 58,67) ; Hogle (Nature of the Universe, P. 115).
21. पा० यो० (कै० २)—'जात्यन्तरपरिणामः···प्रकृत्यापुरात्' ; मु० '१/१/७) —'यथोर्णनाभिः सृजते ··तथाऽक्षरात्···विश्वम्' ; (२/१/१)—'यथा सुदीप्तात् पावकात्···चैवापियन्ति'।

अप्रत्याशित रूप से जान लिया, तो ऐसे समालोचक स्वत: ही अपनी अज्ञानता को प्रकट करेंगे। क्योंकि जिन पाश्चात्य विद्वानों ने मानव के प्रगति की तुलनात्मक गवेषणाएँ की हैं, उन असंख्य अनुसंधान-कर्त्ताओं ने ऋषियों के अनुकूल सिद्धान्तों का उच्च स्वर में समर्थन किया है। Elphinstone, Colebrooke, Weber, Hunter, Wilson, Davies,[22] Hopkins[23] Schlegel, Monier-Williams, Max Muller प्रमुख मनीषियों ने एकवाक्य में स्वीकार किया है कि, केवल अध्यात्म विद्या ही नहीं, बल्कि संसार के प्रत्येक ज्ञान का उत्पत्ति स्थल यह भारतवर्ष है और हिन्दू ही पाश्चात्य सभ्यता एवं शिक्षा के आदि गुरु हैं।[18] अंकगणित, ज्यामिति, बीजगणित, (यहाँ तक कि, अन्तरकलन या differential calculus), ज्योतिर्विद्या, नक्षत्रविद्या, तथा स्थान एवं काल के सूक्ष्मतम विभाजन के समस्त तथ्यों को ऋषियों ने वैज्ञानिक प्रणाली के द्वारा आविष्कृत किया था। इन तथ्यों को हृदयंगम करने के लिए पाश्चात्य विद्वानों को न जाने कितने युग व्यतित कर देने पड़े[24]। पर उन्हीं तथ्यों की सहायता से हिन्दूओं ने विवर्तन-वाद को उद्घाटित कर, तदनुसार सृष्टि रहस्य का समाधान किया था।

---

22. Davies, Preface to Hindu Philosophy ; Syrian astronomer Severus (662 A.D.), quoted in Basham, India (1953), P. V.
23. Hopkins, Religions of India, P.P. 559-560.
24. प्रसन्नता का विषय यही है कि, आधुनिककाल के पाश्चात्य विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप, कई वर्षों पूर्व जिसे असंभव कहकर उड़ा दिया जाता था, इस समय उतना नहीं हो रहा ; उदाहरणार्थ— 'प्रकाशवर्ष' के आविष्कृत होने के वाद ऋषियों के कल्पान्तरवाद को

जड़-विवर्तन में चैतन्य की अध्यक्षता :

परन्तु पाश्चात्य विज्ञानसम्मत विवर्तनवाद के साथ हिन्दूमत का पार्थक्य यही है कि, उपनिषद् के ऋषि इस जड़ विवर्तन को, तात्कालिन दृष्टिकोण से केवल मात्र एक अन्ध या अचेतन्य परिणामस्वरूप पर्यवेक्षण कर नहीं रुके। वे इस परिणाम एव विवर्तन के विस्मयजनक नियमों और शृङ्खलाओं को देख, उसके पीछे कोई चैतन्य शक्ति अथवा आदि कारण या हेतु है अथवा नहीं, इसके अविष्कार के लिए प्रयत्नशील हुए। इस असीम साहसिक अभियान में उन्होंने जिसे संबल बना कर यात्रा आरंभ किया, वह था—एक मौलिक वैज्ञानिक स्वत: सिद्ध, जिसका नाम है हेतुवाद या कार्यकारण तत्व।[25]

और भी [विष्णु० (१/५/४) द्र:] समर्थन प्राप्त हो रहा है [Parrinder—Upanishads, Gita and Bible, P. 25. Harris, Thaur's place in the Universe ; P. 58].

यह भी द्रष्टव्य है कि, पाश्चात्य विज्ञान, जड़ पदार्थ की सहायता से जगत् के आदि कारणों की व्याख्या करने के प्रयास में असफल होकर, अंत में उपनिषद् की आध्यात्मिक व्याख्या को मानने तथा एक ही सद् वस्तु या परमात्मा से उत्पन्न हुए, विवर्तन के फलस्वरूप ब्रह्माण्ड सृष्ट व संचालित होता है, इस मतवाद के अनुकूल सिद्धान्तों को मानने के लिए बाध्य हुआ है [James Jeans, New Background of Science (P. 68) ; Huxley, Evolution After Darwin (Vol. I, P. 17) ; Methods and Results (Vol. I PP. 161, 164-65) ; Barnett, The Universe and Dr. Enistein, PP. 126-27.

25. द्र: वि० वा० र० (२/३४२)।

हेतुवाद :

यदि कारण के बिना किसी कार्य का होना संभव नहीं हो[26], तो फिर शून्य से इस विराट ब्रह्माण्ड की सृष्टि नहीं हो सकती[26क]। किसी भी पदार्थ की सृष्टि के लिए शक्ति का प्रयोजन होता है, यह एक दूसरा वैज्ञानिक सत्य है। परन्तु जड़ की कोई शक्ति नहीं होती; अतएव विश्व चराचर का आदि कारण जड़ अथवा अचेतन कोई वस्तु नहीं हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि, विवर्तनधुरन्धर हार्वार्ट स्पेंसर[27] के मन में भी यह समस्या उत्पन्न हुई थी, क्योंकि उन्होंने यह उपलब्धि की थी कि, जो सार्विक शक्ति जड़ जगत् रूप में व्यक्त हुई है, वही शक्ति मनुष्य के अंदर चेतना के रूप में संचारित हुई है।[27] किन्तु उस शक्ति के उत्स को वे आविष्कार नहीं कर पाये।[28]

---

26. प० ब्र० (३०)—'······कारणाभिन्नरूपेण कार्यं कारणमेव हि'।

26क. छा० (६/२/२)—'···कथमसतः सज्जायेतेति···एकमेवाद्वितीयम्' श्वे' (१/१-३)—'किं कारण···ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्···अधितिष्ठत्येक :···(६/५)—'आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः···'; (६/९)—'···स कारणं करणाधिपाधिपो···'।

27. Herbert Spencer, Ecclesiastical Institution, P. 829.

28. जिस पद्धति से ऋषियों ने इस आदि कारण को आविष्कृत किया था, वह वैज्ञानिक युक्तिसम्मत पद्धति है। नदी की धारा के विपरीत चलते जाने पर, अंत में उसके उद्गम स्थान का जिस प्रकार आविष्कार किया जा सकता है, उसी प्रकार ऋषियों ने प्रत्येक सृष्ट वस्तु का, इन्द्रियादि के अन्तरालस्थित अन्तर्दृष्टि के द्वारा 'आवृत्त-चक्षु' होकर निरीक्षण करके अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म के प्रति अभियान करके सूक्ष्मतम और गूढ़तम सत्ता उस सृष्टिकर्ता का आविष्कार किया था [कठ० (१/३/१०-१२) —'इन्द्रियेभ्यः पुरूषः परः सूक्ष्मदर्शिभिः' ; छा० (६/२/१-२)—'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्···' ; ऐ० (२/७)—'असद्वा इदमग्र आसीत्···तदात्मानं स्वयंमकुरूत']

परन्तु हिन्दू ऋषिगण हार्वार्ट से बहुत पूर्व ही यह निर्णय करने में समर्थ हो गए थे कि, चूंकि हमलोगों में चेतना है, इसलिए हमलोगों के सृष्टिकर्ता भी निश्चित रूप से चैतन्यसत्ता हैं[29] क्योंकि जड़ कभी भी चैतन्य की उत्पत्ति नहीं कर सकता।[26] यदि जड़-प्रकृति की कल्पना स्वतः क्रियाशील के रूप में की जाय[30], तो भी अनादि अनन्त विवर्तन के रहस्य का उद्घाटन नहीं होता। इसका कारण यह है कि, प्रथम अणु अथवा परमाणु किस प्रकार से सृष्ट हुआ था फिर महाप्रलय अथवा सर्वग्रासी प्लावन के बाद उस चरम शून्यता के मध्य नवीन सृष्टि की शक्ति या प्रेरणा कहाँ से प्राप्त होती है, विज्ञान इस प्रश्न का उत्तर देने में अभी भी समर्थ नहीं हुआ है। विस्मयजनक वैचित्र्य के मध्य शृङ्खला एवं साम्य के युगपत् अभिव्यक्ति को अंध-विवर्तन- वाद के द्वारा व्याख्या करना सम्भव नहीं।[31] सृष्टि के आदि कारण को आविष्कृत करने में विज्ञान की यह व्यर्थता[28] ही धर्म की विजय-वैजयन्ती[32] है, एवं इसी कारण से ही पाश्चात्य विज्ञान के पुरोधागण अनेक कुसंस्कारों को दूर करने में समर्थ होकर भी

---

29. छा० (६/२/१)—'सदेव ··आसीदेकमेवाद्वितीयम्···तस्मादसतः सज्जायत' ; श्वे० (४/६-१०)—'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्···मायिनन्तु महेश्वरम्' ; गी० (६/१०)—'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सचराचरम् सूयते···'।

30. जड़ या अचैतन्य प्रकृति स्वयंप्रसू है, सांख्य के इस सिद्धान्त का (पृ० ४८) खण्डन करने के लिए विस्तृत उपायों की अवतारणा ब्रह्मसूत्र में की गयी है। (२/२/१-१०)। भा० (११/२४/२-४)—'आसीज्··· पुरूषः···'।

31. ब्र० सू० (२/२/१-२)—'रचनानुपपत्तेश्च···प्रवृत्तेश्च'।

32. Reader's Digest, 1955, P. 12. पाश्चात्य विज्ञान इस सिद्धान्त पर पहुंचा है कि, आणविक विस्फोट के फलस्वरूप ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई, परन्तु इस प्रकार का विस्फोट किस शक्ति के द्वारा सम्पन्न हुआ, अर्थात् सृष्टि के आदिकारण या कर्ता का आविष्कार न कर पाने के कारण,

और अनन्त आकाश में नित्य नये अभियान चलाकर भी, अभी तक धर्म का परित्याग नहीं कर पाए अथवा नास्तिक नहीं हो पाए।

वैज्ञानिकगण एक अन्य समस्या का भी समाधान नहीं कर पाए हैं; और वह है—चैतन्य की अखण्डता। चैतन्य एक अविभाज्य सत्ता है। तो फिर इतने असंख्य मनुष्यों और विभिन्न जीवों में यह चेतना विभक्त होकर किस प्रकार प्रकाशित हो रही है? एक मात्र हिन्दू उपनिषद् ही इसका समाधान करने में सक्षम हुआ है।[33]

ब्रह्म :

अपनी अज्ञानता के कारण हमलोग सृष्टि के असंख्य पदार्थों एवं जीवों को विभक्त रूप में अनुभव करते हैं।[34] वस्तुतः एक ही चैतन्य सत्ता सर्वभूत के मध्य प्रवेश कर अनेक रूपों में स्वयं को

अन्त में इसके मूल में किसी चित्शक्ति के रहने की संभावना को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुआ [James Jeans, New Background of Science (P. 68) ; Chardin, Phenomenon of man (PP. 55-56 ; 507) ; Vivekananda, Complete Works, Vol. II, 140 [Schrodingre, What is life (PP. 90-91)] Capra, The Tao of Physics (PP. 25, 51, 130-131 186, 211, 300, 305) [Wigner, Symmetrics and Reflections (P. 172) [Einstein, Science and Religion (P. 26)] । इसी चित्शक्ति को उपनिषद् में ब्रह्म के रूप में अभिहित किया गया है [तै० (३/१)—'यतो वा ईमानि भूतानि जायन्ते···तद् ब्रह्मेति···' ; ना. प० (५/३६)—'चिन्मयः परमानंदं ब्रह्म···, ; या० (२६)—'···चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च···लोकाश्चिदिति भावय'] ।

33 Schrodinger—What is life (1955), P, 90 ff ; Harris Man's place in the Universe, P. 67 ; Wells, Huxley & Wells, Science of Life, P. 1497,

34. वृ० (४/३/२३, ३१, ४/४/१६) ; क० (२/१/१०-११) ; गी. (१३/३०)—'यदा भूतपृथग्भावम्···तदा' ।

प्रकाशित कर रही है ।[35] जो आत्मा सर्वभूत के अन्त: में स्थित है और उनके इन्द्रियादि सभी शक्तियों की उत्स एवं प्रेरणा है, उसे ही ऋषियों ने 'ब्रह्म' के नाम से अभिहित किया है ।[36] वैज्ञानिकों ने कहा है कि, सूर्य के प्रकाश से ही चन्द्रमा प्रकाशमान है ; परन्तु सूर्य ने वह दीप्ति एवं प्रेरणा कहाँ से प्राप्त की, इसका समाधान वे नहीं कर सके । ऋषियों ने कहा है, सूर्य, चन्द्र ही नहीं वरन् नक्षत्रलोक एवं वर्तमान अवधि तक अनाविष्कृत अनंत लोक की ज्योतिष्कमण्डल में भी स्वयं की कोई ज्योति नहीं है । ये सभी ब्रह्म के ज्योति से प्रकाशित एव देदीप्यमान होते हैं ।[37] ये सभी जब एक ही चैतन्य की अभिव्यक्ति हैं, तो फिर चैतन्य के विभक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।[35]

सृष्टि तत्व :

परवर्ती प्रश्न यह है कि, जो अमूर्त, कायाहीन, हाथ-पैर विहीन ब्रह्म[38] हैं, चित्-मात्र जिनकी सत्ता है, वे सर्वभूत के अन्त: में

---

35. क० (२/२/१०)—'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो·· प्रतिरूपो बहिश्च' ; गी० (१३/१६)—अविभक्तं च ··च स्थितम्···' ; श्वे० (५/२-५)—'यो योनिं योनिमधिष्ठत्येको···यच्च स्वभावं पचति·· सर्वान् विनियोजयेद् य:' ; (६/११)– 'एको देव: ··सर्वभूतान्तरात्मा' ; भा० (१०/८५/२४-२५)—'आत्मा ह्येक:···यथाशयम्' ; (५/११/१४)—'यथानिल:···आत्मेदमनुप्रविष्ट:' या० (२६)—'चिदिहास्तीति···चिन्माएम्···' ; अ० वि (१२)—'एक एव हि भूतात्मा···जलचन्द्रवत्' ; वृ० (४/५/३)—'·· अन्तरोऽवाह्य: कृत्स्न: प्रज्ञानघन एव···' ।
36. वृ० (३/७/१५)—'य: सर्वेषु भूतेषु···अन्तर्याम्यमृत···' ; तै० (३/१) ; मु० (२/२/२) ; (२/१/४) ; (२/१/८-१०)—'·· सप्त प्राणा: ···ब्रह्म परामृतम्···' ।
37. क० (२/२/१५) ; श्वे० (६/१४)—'···तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।'
38. क० (१/३/१५) अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्···' ; श्वे० (३/१९)—'अपाणिपादो···' ; वृ० (३/८/८)—'···अक्षरं···अस्थूलमनण्व-ह्रस्वमदीर्घम···अमात्रम्···अनन्तरमवाह्यम्··· ।'

किस प्रकार प्रवेश किये. एवं यदि वे हमारे हृदय में अधिष्ठित रहते हैं, तो हमलोग उन्हें देख अथवा प्राप्त क्यों नहीं कर पाते ? इस प्रश्न का उत्तर हमें ऋषियों के द्वारा व्यक्त 'सृष्टितत्व' में प्राप्त होगा। यह सृष्टितत्व हिन्दूधर्म की आधार शोला है। पाठकगण इस तत्व को सदैव याद रखं, क्योंकि धमजगत के अनेक प्रश्नों का समाधान हिन्दूमतानुसार इस सृष्टितत्व से ही प्राप्त किया जा सकता है।

चतन्य का स्वभाव यह है कि, निष्क्रिय अवस्था में भी उनमें कर्मशीलता या सृष्टि की संभावना अन्तर्निहित रहती है। थोड़े से पर्यवेक्षण से ही प्रतीत होगा कि, हमारे प्रत्येक क्रिया के मूल में निहित है किसी चित्शक्ति का आलोड़न। इस वैज्ञानिक सत्य का अवलम्बन करके ही ऋषियों ने यह उपलब्धि की कि, इस चराचर सृष्टि के मूल में उसी अद्वितीय ब्रह्म के वहुधा प्रकाशित होने के उद्देश्य से संघटित चित्शक्ति का स्पंदन विराजमान है।[40] यह सृष्टि किसी कुम्हार के घड़े की सृष्टि की तरह एक-एक करके अलग-अलग वस्तु की प्रस्तुति नहीं है। परन्तु उर्णनाभ (मकड़ो) जैसे जाल के द्वारा स्वयं को विस्तृत करती है[41], अग्नि से जिस प्रकार

39. श्वे० (६/११)—'···चेता केवलो निर्गुणश्च' ; क० (२/२/१३) ; श्वे० (६/१३)—'···चेतनश्चेतनानां ··'वृ० (४/५/१३)—'···प्रज्ञानघन एव' ; रा० पू० (७)—'चिन्मय-स्याद्वितीयस्य···' ; स० सा० (४) —'···चैतन्यमनंतम्···कै० (६)—'···चिदानंदरूपममद्भूतम् ; नृ० (२/६/१६)—'···सूक्ष्मं ··चिन्मात्रम्···' ; ब्र० सू० (३/२/१६— 'आह च तन्मात्रम्' ; (४/४/६)।

40. तै० (२/६/३)—सोऽकामयत···ईदं सर्वमसृजत···' ; छा० (६/२/३)—'तदैक्षत···प्रजायेयेति' ; मु० (१/१/८)—'तपसा चीयते ब्रह्म···' ; प्रश्न (१/४)—'स तपोऽतप्यत···'।

41. वृ० (२/१/२०)—'स यथा···व्युच्चरन्ति'।

सहस्रों स्फुलिंग या अग्निशिखाएँ निर्गत होती हैं,[42] उसी प्रकार अव्यक्त ब्रह्म स्वयं को विस्तृत कर अनेक रूपों में व्यक्त हुए। जिस प्रकार लपटें अग्नि से पृथक नहीं हो सकतीं, जिस प्रकार तन्तु उर्णनाभ से अलग नहीं हो सकता, सृष्ट ब्रह्माण्ड भी उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक नहीं है। ये सब कुछ उसी अखण्ड विश्वात्मा की ही अभिव्यक्ति है।[43] स्थावर जंगम सब वही ब्रह्म ही है।[44]

ऋषियों के दर्शन में यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है। निरीश्वरवादी बौद्ध या वैज्ञानिक धारणा के अनुसार शून्य से इस सृष्टि का निर्माण हुआ है। यह युक्तिहीन तथ्य है। विश्व यदि ब्रह्म की विस्तृति या व्याकृति[45] मात्र है, तो फिर उस विस्तृति के प्रत्येक अंश, प्रत्येक कण में वे विद्यमान हैं अथवा सृष्टि के पश्चात् वे सर्वभूत में अनुप्रविष्ट[45]-[46] हो गये हैं एवं सर्वभूत के अन्त: में प्रतिष्ठित हैं—इस प्रकार कहने का यह अर्थ नहीं कि वे अन्यत्र नहीं हैं क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं, और हमारे अन्दर-बाहर के अतिरिक्त अनेक रूपों में विद्यमान हैं।[47] परन्तु सर्वत्र विराजमान रहने पर भी क्यों हम

---

42. मु० (२/१/१)—'यथा सुदीप्तात्··· सरूपा:'।
43. मु० (२/१/३)—'एतस्माज्जायते··· पृथिवी विश्वस्य धारिणी'।
44. छा० (३/१४/१)—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'; (७/२५/२)—'आत्मैवेदं सर्वम्'; वृ० (२/४/६)—'ईदं सर्वं यदयमात्मा'; श्वे० (३/९)—'यस्मात् पुरूषेण···र्र्वम्'; स० सा० (४)—'अनन्तं नाम···परं ब्रह्मेत्युच्यते'; मु० (२/२/११)—'ब्रह्मैवेदं विश्वम्; ऐ० (३/१/३)—'एष ब्रह्म ··पंचमहाभूतानि···यच्च स्थावरम्···सर्वं तत् ब्रह्म'; प्र० (४/८-९)—'पृथिवी च थिवीमात्रा···आत्मनि सम्प्रतिष्ठते'।
45. वृ० (१/४/७)—'···नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते ··इह प्रविष्ट:।'
46. तै० (२/६); छा० (६/३/२); ना० (ख० १/४)—'···विवेश ···चराचराणि'।
47. ई० (५)—'तदन्तस्य सर्वस्य···वाह्यत:'; श्वे० (२/१६)—'एष··· प्रदिशोऽनु सर्वा:···'; (४/१४)—'···विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं'; तै० (१/६/२)—'आकाशशरीरं ब्रह्म'; मु० (२/१/२)—'स वाह्याभ्य-

ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर पाते, इसका उत्तर देगा हिन्दूसृष्टि-तत्व का एक दूसरा अनुसिद्धान्त।

ब्रह्म तथा ईश्वर :

क्षित्यप्तेजोमरूद्व्योम के उपादान से विश्व के स्थूल देह का निर्माण हुआ है। वैज्ञानिकों के अनुसार ये सभी उपादान प्रकृति में ही विद्यमान हैं। और उनके विवर्तन के परिणामस्वरूप जगत् की सृष्टि हुई है। एवं उनका ध्वंस, पुनरावर्तन आदि कार्य सर्वदा होते रहने पर भी हर एक क्षण उनकी समष्टिगत शक्ति अक्षुण्ण ही रहती है, क्योंकि शक्ति का क्षय नहीं होता, केवल रूपान्तरण ही होता है। किसी ऐन्द्रजालिक विधाता के अंगुलि-निर्देश से निमिष मात्र में इस तमावृत जगत् में आलोक की सृष्टि हुई, अथवा सात दिनों में ही समस्त जड़ या जीव जगत् की सृष्टि हुई[48]—इस प्रकार की अवैज्ञानिक अवधारणा भारतीय ऋषियों ने नहीं की। उन्होंने ध्यान योग के द्वारा जो कुछ देखा, वह था आधुनिकतम विज्ञान-सम्मत सत्य—जगत् सृष्टि के लिए प्रकृति की सहायता आवश्यक है। और उस कर्मशाला की अध्यक्षता करने के लिए ब्रह्म के विवर्तन की प्रयोजनीयता है। केवलमात्र प्रजासृष्टि करने के 'संकल्प' के द्वारा यह सभव नहीं। इसीलिए, जो ब्रह्म निष्क्रिय थे और सर्वदा निष्क्रिय निर्गुण सत्य में अवस्थित रहते हैं एवं रहेंगे,

---

न्तरो ···' ; (२/२/११)—'···पुरस्ताद् ब्रह्म··· अधश्चोर्ध्वंच प्रसृतं··· विश्वमिदं ···' ; छा० (७/२५/१)—'स एवाधस्तात्···सर्वमिति' ; मैत्रा० (५/२)—'इत्यसौ अन्तर्वहिश्च···' ; क० (२/१/१०)—'यदेवेह···तदन्विह···' ; मैत्रा० (२/६)—'···प्रतिबोधनाया-भ्यन्तरं विविशामि···वायुरिवात्मानं कृत्वाऽभ्यतरंप्राविशत्···निहितो गुहायाम्··· ।'

48. Genesis (1-3, II—2-4) ; कुरान (सू० ७/७/५४ ; सू० ४१/२/६) ।

वे ही सृष्टिकर्त्ता या ईश्वर[49] का रूप परिग्रहण कर प्रकृति की सहायता से अर्थात् क्षिति-अप्-तेज-मरुत्-व्योम प्रभृति उपादानों के विवतन से जगत् की सृष्टि करते हैं। सृष्टि का प्रवाह अनादि एवं अनंत है। यह अवश्य है कि सर्वात्मक ध्वंस एवं प्लावन के पश्चात् कल्प या युगावसान हो सकता है। परन्तु उस अवस्था में

49. ईश धातु का अर्थ शक्तिमान् या समर्थ होना [तुः वृ० (१/४/१०)—'देवाश्च न ··ईशते'] अथवा ऐश्वर्यशाली होना है, और इसी शक्ति के प्रभाव से प्रभुत्व स्थापित करना या शासन करना है [तुः श्वे० (३/१)—'य एको जालवानीशते ईशनीभिः' ; (६/१७)—'·· य ईशेऽस्य जगतो···नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय' ; (४/१३) ; (५/१)—'···विद्याविद्ये ईशते···' ;]। अतएव ईश्वर का अर्थ सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता या सर्वश्रेष्ठ समझा जा सकता है। इससे सर्वमयता या सर्वव्यापकत्व [तुः ईश० (१)—'ईशा वास्यमिदं सर्वं'' ; श्वे० (४/१०)—'···व्याप्तं सर्वमिदं जगत्'], अथवा सर्वपरिपालकत्व आता है [तुः श्वे० (१/८)—'···भरते विश्वमीशः···']।
ब्रह्म के निर्गुण एवं निष्क्रिय होने पर भी उनमें यह अनंत शक्ति अन्तर-निहित रहती है। सृजन की इच्छा होने पर इस शक्ति को वे प्रकृति या माया में रूपान्तरित करके ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं ; तव उस सगुण ब्रह्म को 'ईश्वर' या (सृष्टिकर्ता) के नाम से अभिहित किया जाता है। अर्थात् ब्रह्म का व्याकृत रूप ही ईश्वर है [श्वे० (१/९)—'···ईशा-निशौ···विश्वरूपः···ब्रह्ममेतत्' ; (४/९-१०)—'···अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्···मायिनन्तु महेश्वरम्']। सृष्टि के पश्चात् वे सर्वत्र अवस्थित हो जाते हैं। इसलिए ब्रह्म सबों के मध्य अन्तर्यामी रहकर वहीं से सबों को नियंत्रित करते हैं [वृ० (३/७/३)—'···यः पृथिवीमंतरो यमयत्येष···अन्तर्याम्यमृतः' ; मा० (६)—'···एष सर्वेश्वर··· अन्तर्यामी···' ; गी० (१५/१५)—'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः···' ; (१८/६१)—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति'।
ईश्वर मात्र सृष्टिकर्ता एवं पालनकर्ता ही नहीं वरन् संहार या लय कर्ता भी हैं और इन तीन क्रियाओं के सम्पादन के लिए उनकी कल्पना क्रमशः तीन भिन्न उपाधियों में की जाती है—ब्रह्मा, विष्णु, शिव (परवर्ती टीका ६६ देखिये)।

भी सृष्टि की वह शक्ति या उपादान समूहों का बीज विलुप्त नहीं होता, वरन् निष्क्रिय ब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार मकड़ा अपने जाल को कभी-कभी अविकृत कर अपने ही शरीर में निहित कर लेता है। पुन: जब ब्रह्म में सृजन की इच्छा जागरूक होती है तब फिर से ईश्वरोपाधि ग्रहण कर एवं प्रकृति का अवलम्बन कर[50], कल्पान्तर में ही दूसरे ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं तथा यह सृष्टिकार्य एक अन्य प्रलय तक नियत रूपसे चलता रहता है।[51]

चूंकि स्रष्टा एव सृष्ट-जगत् अभिन्न है, और ब्रह्म स्वय को ही अनेक रूपों में प्रकाशित कर अपने प्रत्येक अणु में अनुप्रविष्ट हो गये हैं, इसलिए सृष्ट-जगत् में से ब्रह्म को एक स्वतत्र पदार्थ के रूप में आविष्कृत करना संभव नहीं। वे समुद्र में मिश्रित नमक के समान सृष्ट-ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विलीन होकर विद्यमान हैं।[52] पहले ही कहा गया है कि, हिन्दूमतानुसार विश्व की सृष्टि किसी यन्त्रशिल्पी के सृष्टि के सदृश्य नहीं वरन् यह विवर्तन या नामरूप परिवर्तन मात्र है ;[53] नये-नये रूपों में अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति तथा ध्वंस के मध्य भी[54] उस परमात्मा की व्यक्त मूर्ति है।

50. यह प्रकृति भी ब्रह्म से स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं है। इसकी विस्तृत व्याख्या 'प्रकृति, माया, शक्ति' के प्रसंग में दिया जाएगा।

51. गी० (८/१८-१९)—'अव्यक्ताद् व्यक्तयः···प्रभवंत्यहरागमे' ; (९/७-८)—'सर्वभूतानि···पुनः··· पुनः···' ; श्वे (५/३)—'एकैकं जालं···संहरत्येष देवः··· भूयः सृष्ट्वा···ईशः···' ; भा० (११/२८/६) —'आत्मैव···सृज्यते···त्रायते···ह्रियते हरतीश्वरः।'

52. बृ० (२/४/१२)—'स यथा सैन्धवखिल्य···अनुविलीयते' ; छा० (६/१३/१-२)—'लवणमेतदुदके···न निभालयसे···'।

53. छा० (६/१/४)—'···विकारो नामधेयम्' ; तै० (२/७)—'तदात्मानं स्वयमकुरुत'।

ब्रह्म और परमात्मा :

इसीलिए हिन्दूमतानुसार ईश्वर मात्र सृष्टिकर्ता ही नहीं, वे पालन या स्थिति और संहार प्रलय के कारण भी हैं।[54] ऋषियों ने जिस प्रणाली से सत्य का आविष्कार किया,[55] वह अत्यन्त सरल है। जगत् के समस्त जड़ पदार्थ एवं प्राणी विनाशशील हैं, और उनके मध्य मात्र एक अविनाशी सत्ता है, जो शाश्वत एवं सनातन है—उसी का नाम है परमात्मा या ब्रह्म। इनका विनाश नहीं होता। इनसे ही सभी उद्भूत होते हैं;[55] इनमें ही यह संसार विधृत या आश्रित है[56] एवं काल के विवर्तन के परिमाणस्वरूप[54] उन्हीं में सभी लय हो जाते हैं अथवा प्रत्यावर्तन करते हैं। यही आत्मा विश्व-चराचर सभी की उत्पत्ति का कारण है[55] अतएव ये ही स्वयंभू हैं[57] अनादि एवं अनंत हैं[58]; शाश्वत एवं सनातन हैं। इनका कोई कारण या जन्म होना संभव नहीं

---

54. तै० (३/१)—'यतो वा इमानि···प्रयंत्यभिसंविशन्ति···'; छा० (३/१४/१)—'···तज्जलान्···'; मा० (१/६)—'प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'; श्वे (३/२)—'एको हि···गोपा:'; (४/१)—'य एकोऽवर्णो···विश्वमादौ ··'; गी० (८/१८)—'अव्यक्ताद्···तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके'; मु० (२/१/१)—'···प्रजायन्ते···चैवापियन्ति'; कौ० (१/१६)—मय्येव··अस्म्यहम्'।
55. श्वे० (१/१-३)—'किं कारणं···अधितिष्ठत्येक:'; ऐ० (१/१-२)—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्···न इमाँल्लोकानसृजत···अन्तो··· पृथिवी···आप:'।
56. वृ० (३/८/६)—एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने···सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत:···'।
57. मु० (१/१/६) 'अगोत्रम्'; तै० (२/७/२)—'···आत्मनं स्वयमकुरूत···'; श्वे० (४/२१)—'अजात:'; गी० (४/६)—'अजोऽपि···'; (१३/३१)—'अनादित्वात्···'।
58. श्वे० (४/४)—अनादिमत्···'; स० सा० (४)—'अनन्तं··· चैतन्यमनन्तम्···'।

है।[57] जड़ और जीव-जगत् सभी प्रकृति के नियमों से आबद्ध है —जरा-मृत्यु क्षय के अमोघ शासन के अधीन है। एकमात्र परमात्मा ही सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादि समन्वित समस्त प्रकृति और जरा-मृत्यु के समान प्राकृतिक नियमों का नियन्ता है।[59]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि, परमात्मा ब्रह्म का दूसरा नाम है[60], एव विभिन्न उपनिषदों में ब्रह्म को परमात्मा या अन्तरात्मा कहकर अभिहित किया गया है, और जिन विशेषणों द्वारा ब्रह्म का वर्णन किया गया है, वे सभी परमात्मा के विषय में आरोपित हैं।[61]

ईश्वर :

हिन्दू धर्म के इस सृष्टितत्व का वैशिष्ट्य है अखण्डता, अभेदत्व एवं अनन्यता। जो ब्रह्म है, वही ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता) है, वही विष्णु (पालन कर्ता) है, और वही शंकर (संहार कर्ता) भी

---

59. वृ० (४/४/२२)—'सर्वस्य वशी···सर्वस्याधिपतिः' ; क० (२/३/२-३) 'महद्भयं···मृत्युर्धावति पंचमः' ; (२/६/५, १२-१३)— '··इशानो भूतभव्यस्य···'।

60. वृ० (२/५/१९, ४/४/५)—'··अयमात्मा ब्रह्म···' ; प्र० (४/७,९)—'···आत्मनि सम्प्रतिष्ठते' ; ऐ० (१/१)—'आत्मा वा··एवाग्र आसीत्' ; तै० (२/१/४)—'तस्मात् वा···आत्मन आकाशः सम्भूतः···पृथिवी···' ; गी० (१३/२३/३२)—'·· परमात्मेति चाप्युक्तो···परमात्मायमव्ययः···' ; (१५/१७)—'परमात्मेत्युदाहृतः···'

61. वृ० (४/४/२२, २५) ; आत्म (३)—'···बालाग्र···निष्क्रिय···' ; ब्रह्म (४)—'अनन्तं···परमात्मा परं ब्रह्मेति···' ; गी० (१५/१७); भा० (१/२/११)—प्रश्न० (४/९)—'एष हि द्रष्टा···कर्ता विज्ञानात्मा'।

है ।[62] विचित्र वण-रजित इस अनन्त आलेख को चित्रित करने के लिए उन्होंनें नई-नई शक्तियों तथा नये-नये रूपों का अवलम्बन किया ; परन्तु ये सभी उसी अद्वितीय ब्रह्म के रूप मात्र हैं—भिन्न सत्ता नहीं, शिल्पी (निर्माणकर्ता) एकमात्र वे ही हैं ।[63] विभिन्न चरित्रों में अवतरित होने के कारण,[64] हमलोग उनके विभिन्न रूपों से विभ्रान्त होकर उन्हें विविध नामों से अभिहित करते हैं ; परन्तु हमलोगों द्वारा प्रदत्त इन अनेक प्रकार की उपाधियों से अभिनेता (ब्रह्म) खण्डित नहीं होते । [62-63] संक्षेप में कहा जा सकता है कि, निष्क्रिय, निर्गुण ब्रह्म ही सक्रिय एवं सगुण अवस्था में प्रकटित होने पर ईश्वरादि उपाधि[65] से हम उन्हें अभिहित

---

62. कै० (१/८)—'स ब्रह्म स शिवः···स विष्णुः···' ; मैत्रा० (६/२)—'त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रूद्रः··एकस्त्रिधा भूत···भूतेषु·· चरति प्रविष्टः स भूतानामधिपतिर्वभूव···' ; ब्र० विद्या० (१)—'·· यत्रोत्-पत्ति···ब्रह्माविष्णुमहेश्वरात्' ।
63. ऋक् (१/१६४/४६)—'एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति···' ; श्वे० (३/१-२)—'य एको जालवान्···द्वितीयाय तस्थूः ।
64. वृ० (२/५/१९)—'मायाभिः पुरूरूपः ईयते' ।
65. अर्थात्, सगुण ब्रह्म के विभिन्न गुणों या क्रियाओं को समझने के लिये इन विभिन्न उपाधियों अथवा नामों का आरोपण उनपर किया गया है । यथा, 'योऽखिलं जगन्निर्माणेन वृंहति स ब्रह्मा' ; अर्थात् जो विश्व चराचर का निर्माण कर वर्धित करते हैं, वही ब्रह्मा हैं ; 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः' अर्थात् जो चर एवं अचर जगत् को व्यापृत किए हुए हैं, वे विष्णु हैं ; 'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रूद्रः' ; अर्थात् जो दुष्कर्मकारी जीवों को रुलाते (ध्वंस करते) हैं, वे ही रूद्र हैं ; इन्हीं का दूसरा नाम महेश्वर अथवा महादेव हैं ; 'शिवु कल्याणे' ; अर्थात् जो सभी के कल्याण कर्ता हैं, वही शिव हैं' : 'सर्वाः शक्तयः विद्यते यस्मिन् स सर्वशक्तिमान् ईश्वरः' अर्थात् जो सर्वशक्तिमान् अथवा 'ईश्' ऐश्वर्य, अर्थात् जो अनन्त ऐश्वर्यवान् हैं, वही ईश्वर हैं ; 'इदि परमैश्वर्ये' अतएव इन्हें ही अर्थात् अनंत ऐश्वर्यशाली अर्थ में इन्हें इन्द्र भी कहा गया है । (द्र० टी० ७१) ।

करते हैं। ज्ञानमार्गी उन्हें ही 'ब्रह्म' कहते हैं। राजयोगी उन्हें 'परमात्मा' कहते हैं, और वही भक्त के 'भगवान्' भी हैं। इस विषय के समस्त संदेहों का समाधान भक्तिशास्त्र के शिरोमणि स्वयम् श्रीमद्भागवत करते हैं—

"वदन्ति तत् तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।"[66]

---

66. भा० (१/२/११) ; इस श्लोक के वाद भी इस प्रकार के सम्प्रदायों में अर्थात् ज्ञान एवं भक्ति मार्ग के मध्य काल्पनिक विरोध किस प्रकार उत्पन्न हुआ है, यह समझ से परे है। ब्रह्म शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है 'वृहत्तम'—'वृंहत्वात् वृंहणत्वाच्च तद्रूपं ब्रह्मसंज्ञितम्' [विष्णु]। यह शब्द है क्लीवलिंग—एवं ज्ञानयोगी 'ब्रह्म' शब्द के द्वारा एक अव्यक्त, अमूर्त, निर्गुण, निष्क्रिय एवं चिन्मात्र सत्ता की धारणा करते हैं, जो परिदृश्यमान या सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयों की समष्टि हैं एवं जिनके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है।

'परमात्मा' शब्द को समझने के लिये उपनिषदीय सृष्टितत्व पर ध्यान देना होगा। ब्रह्म सर्वव्यापी चित्सत्ता होने के कारण चराचर जगत् में सर्वत्र अन्तर्निहित आत्मा हैं—इसीलिए उन्हें परमात्मा कहा जाता है। 'य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा'। इस परमात्मा से ही सभी जीव निःसृत होते हैं और यही परमात्मा प्रत्येक सृष्ट जीव में अधिष्ठित होते हैं। उस जीव के हृदयस्थित आत्मा को जीवात्मा, अन्तरात्मा या प्रत्यगात्मा कहा जाता है। [वृ०—(२/१/२०)—'···अस्मात् आत्मनः—सर्वाणि भूताणि व्युच्चरन्ति' ; क० (२/३/१७)—'अंगुष्ठमात्रः पुरूषोऽन्तरात्मा···संनिविष्टः' स० सा० (४)—'अनन्तं ··परमात्मा परब्रह्मेत्युच्यते' ; आत्म० (३/२/३)—'वटकनिका···परमात्मा पुरूषो नाम']

भगवान् शब्द से हमारा अभिप्राय परमशक्ति तथा ऐश्वर्यशाली या सर्वगुणाविन्त ईश्वर से होता है, क्योंकि 'भग' शब्द का अर्थ श्री, ज्ञान, काम, महात्मा, वीर्य, यशः कीर्त्ति [अमर] है। ये सभी गुण जिसके पास सर्वोच्च परिमाण में है, वही भगवान् है। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशस्य श्रियः ज्ञानवैराग्ययोश्चैव यन्नाम भग इतींगना'। भगवान्,

प्रकृति, माया शक्ति :

जिस प्रकृति की सहायता से ईश्वर जगत् की सृष्टि करते हैं, वह प्रकृति भी ब्रह्म से पृथक नहीं। पहले ही कहा गया है कि, प्रकृति निष्क्रिय ब्रह्म की ही अन्तर्निहित शक्ति है[67] उस शक्ति के सक्रिय होने पर ही ब्रह्माण्ड का विवर्तन संभव होता है। इसीलिए कहा जाता है कि हिन्दू मतानुसार ब्रह्म केवलमात्र सृष्टिकर्ता ही नहीं हैं वरन् वे ही सृष्टि के उपादान भी हैं[68], क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।[69] वे स्वय को ही विस्तृत कर विश्व की सृष्टि किये हैं और उसे स्वयं में विधृत किए हैं। इसीलिए, किसी भी मुहूर्त में सम्पूर्ण सृष्टि, जड़ या जीव की समष्टि, ब्रह्म ही है। अतएव सृष्टि अथवा ध्वंस के द्वारा ब्रह्म का किसी भी प्रकार का क्षय या वर्धन नहीं होता;

वासुदेव, परमात्मा, जिस किसी भी नाम से उनका वर्णन क्यों न किया जाय, सत्ता वही अदृश्य ब्रह्म ही हैं। [भा० (२/६/३७-४१), (३/३२/२६-२९); (५/१२/११); (१०/६४/२७-२९), (११/११/२८)]। गीता में उद्धृत पुरुषोत्तम भी वही परमात्मा है। [गी० (१५/१७)—'उत्तमः परमात्मेत्युदाहृतः]।

67. नृ० (२/९/५)—तद् यथा वटबीजसामान्यमेकमनेकान्···माया चाविद्या च स्वमेव भवति'; ना० (ख-१/४)—'यतः प्रसूता जगतः प्रसूती···'; श्वे० (४/९)—'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्'; कथा० (४/४, ३३)।

68. श्वे० (४/४)—'विभुत्वेन···भूवनानि विश्वा'; तै० (२/७)—'··· तदात्मानं स्वयमकुरूत'; भा० (८/६/११)—'त्वं माययात्माश्रयया तदनुप्रविष्ट'; Deussen, 'Philosophy of the Upanisadas' P. 184.

69. ऋक्० (१/१६४/४६)—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'; तै० (२/६)—'···सच्च त्यच्चाभवत् यदिदं किंच। तत् सत्यमित्याचक्षते···'; वृ० (४/४/१९)—'···नेह नानाऽस्ति किंचन···'।

वे सदा सर्वदा उसी पूर्ण अवस्था में ही बने रहते हैं।[70-71] अर्थात सृष्टि का कार्य अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति या रूपान्तरण मात्र है। इसमें गाणितिक वियोग का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।

किसी भी जड़ अथवा अचेतन वस्तु से चैतन्य की सृष्टि नहीं हो सकती। कारण, हमलोगों में चैतन्य है, अतः हमारा सृष्टि-

---

70. बृ० (५/१/१)—'पूर्णमदः पूर्णमिदं···पूर्णमेवावशिष्यते' ; यो० वा० (१०/२८-२६)—'पूर्णात् पूर्णं तदेव तं'।

71. ब्रह्म सृष्टि के पूर्व आकृतिहीन [बृ० (१/४/७)] और निर्गुण अवस्था में रहते हैं ; उस समय उनकी यह सृजन शक्ति उन्हीं में लीन रहती है [विष्णु० (६/४/३८)—'प्रकृतिर्या···लीयेते परमात्मनि'], परन्तु जब उस निर्गुण ब्रह्म में सृजन की इच्छा जागृत होती है, तब वे सगुण सृष्टिकर्ता की उपाधि को ग्रहण करते हैं तथा तभी उनकी सृजन-शक्ति का आविर्भाव होता है—इसे ही प्रकृति कहते हैं [स्कन्द० (२/२६)—'···प्रकृतिस्ते सिसृक्षया' ; बृ० (१/४/३)—'··· आत्मानं द्वेधाऽपातयत्···चाभवताम् ; भा० (८/६/११)—'त्वां माययात्मश्रयाय स्ववेदं निर्माय···']। प्रकृति का आविर्भाव होने पर, सगुण ब्रह्म उसी प्रकृतिरूप प्रसूति की सहायता से विश्वब्रह्माण्ड की सृष्टि किये [श्वे० (४/१)—'···बहुधा शक्तियोगात्···दधाति' ; (४/६-१०)—'···अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्···मायिनंतु महेश्वरम्··· तस्यावयव-भूतस्तु···व्याप्तं सर्वमिदं जगत्']। इस प्रकार समग्र विश्व जड़ तथा जीव ब्रह्म की ही व्याकृति या प्रकाश है [छा० (६/३/३)—'अनेनैव···नामरूपे व्याकरोत्' मु० (१/१/७)—'···तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्' ; बृ० (१/४/७)—'···नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते···']।

जिस पद्धति के द्वारा यह प्रकाश संघटित होता है, उसे ही 'विवर्तन' कहते हैं [पै० १—'सदेव···अग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म··· स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगदाविर्भवयति···तस्मिनेव विश्वं संकोचित-पटवर्द्धते···कुलालचक्रन्यायेन परिभ्रमति' ; भा० (३/१०/१२)—'विश्वं वै, ब्रह्मतन्मात्रं···ईश्वरेण परिछिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना' ; (१२/११/२४)—'···मायया च स्वयैतत् सृजति···']।

कर्ता भी चतन्यसत्ता होने के लिए बाध्य है।[72] पहले ही कहा गया है कि, प्रकृति ब्रह्म से पृथक नहीं है परन्तु वह निष्क्रिय ब्रह्म की अन्तर्निहित शक्ति है, जिस शक्ति के द्वारा सृजन संभव है[73-74]। प्रकृति ब्रह्म की चित्‌शक्ति[75] होने के कारण मात्र सृष्टि हो में नहीं वरन् सृष्टि, स्थिति, प्रलय सभी क्रियाओं में ब्रह्म को इस शक्ति का व्यवहार करना पड़ता है।[76]

माया :

इस प्रकृति का हो दूसरा नाम 'माया' है एवं माया के अधीश्वर होने के कारण ब्रह्म को 'मायी' कहा गया है।[77] माया शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है, एक आवरण जिसके द्वारा प्रकृत या वास्तविक स्थिति को आवृत या गोपन रखा जाय। माया में इसी गुण के निहित होने के कारण हमलोग सृष्ट पृथ्वी के रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्पर्श के विचित्र भण्डार को देखकर सृष्टि-कर्ता अथवा सृष्टि के उत्स को भूल जाते हैं। इसी माया के प्रभाव से ही विश्व 'सन्निरुद्ध'[78] या आबद्ध है। हमलोग इस मायाचक्र या मायापाश

---

72. द्रः मु० (१/१/८)—'तपसा चीयते ब्रह्म···अभिजायते'।
73. इन्हीं कारणों से इन्हें पुराणों में 'आद्याशक्ति', 'जगद्धात्री' के नामों से अभिहित किया गया है (चंडी—१/७० ; ४/७)। ब्रह्म के साथ अभिन्नता होने के कारण ही इन्हें 'ब्रह्मरूपा', तथा एक साथ 'निराकार और साकार' दोंनो ही कहा गया है। (चंडी, प्राधानिक रहस्य, २९)।
74. ऋग्वेद में इसी आद्याशक्ति की वंदना—'देवी' (१०/१२५/७-८), 'रात्रि' (१०/१२७/१) इत्यादि नामों से की गयी है।
75. नृ० (२/९/६)—'सेषा···ब्रह्माविष्णुशिवरूपिणे। चैतन्यदीप्ता' ; चंडी—(५/८०)—'चितिरूपेण···जगत्।
76. चंडी (११/११)—'सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि···'।
77. श्वे० (४/१०)—मायान्तु प्रकृतिं विधान्मायिनन्तु महेश्वरम्···' ; ऋक् (६/४७/१८)—'···मायाभिः पुरुरूप ईयते···'।
78. श्वे० (४/९)—'···मायया सन्निरूद्धः'।

में आबद्ध हैं इसीलिये संसार चक्र सदैव प्रवहमान है।[79] क्योंकि यह माया अथवा प्रकृति अविद्या या अज्ञान का कारण है।[80]

जिस क्षण हमलोगों में से कोई, इस विश्वप्रपंच के कारणभूत[81] उस जालवान 'मायी'[82] को आविष्कृत कर उसके साथ संयुक्त होने में सक्षम हो जायेगा, उसी क्षण वह इस संसार चक्र से मुक्त हो जायेगा।[82] इस माया की सहायता से ब्रह्माण्ड की सृष्टि करनी पड़ी, इसीलिये सृष्टि के पश्चात् ईश्वर ने अपने विचित्र सृष्टि के मध्य स्वयं को आवृत[83] या ओझल[84] कर लिया इसी कारण से सर्वत्र विराजमान रहने पर भी हम उन्हें देख नहीं पाते।[85] इसी प्रकृति या अविद्या के प्रभाव से ही हमलोग भूल गए हैं कि, हम उसी अमृत की संतान हैं, हमलोग उसी अनन्य 'सत्'[86] से उत्पन्न होकर, जड़ और जीव के इस विचित्र समारोह में आकर स्वयं को खो दिये हैं।[87] एकबार उस परमात्मा के साथ एकत्व की उपलब्धि हो जाने पर क्या प्रकृति की मोहिनी

79. गी० (१८/६१)—'ईश्वरः सर्वभूतानां···यंत्रारूढानि मायया'।
80. भा० (११/११/३)—'विद्याविद्ये···मायया मे विनिर्मिते'। पौराणिक कथानुसार नारायण की इसी मोहिनीमूर्ति को देख असुर अमृत कलश से वंचित रह गए थे]।
81. श्वे० (६/६)—'यस्मात् प्रपंचः परिवर्ततेऽयम्'।
82. श्वे० (३/१)—'य एको जालवान् ईशत···अमृतास्ते भवन्ति'।
83. श्वे० (६/१०)—'यस्तुर्णनाभ इव···स्वम् आवृणोत्'। [पाठान्तर—यस्तन्तुनाभ इव···']
84. वृ० (२/४/१२)—'स यथा सैन्धवखिल्य···'; छा० (६/१३/२)—'अत्र वाव किल···न निभालयसे'।
85. क० (१/२/१२)—'तां दुर्दर्शं···गह्वरेष्ठं ···'; अ० व० (१५)—शब्दमायावृतो···भिन्ने तमसि चैकत्वमेक एवानुपश्यति'।
86. छा० (६/१०/२)—'सर्व्वाः प्रजाः···न विदुः सत आगच्छामह'।
87. वृ० (२/४/१२)—'स यथा···न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति···'।

मूर्ति, विचित्रता की यवनिका, हमारी दृष्टि को विभ्रान्त कर सकती है ?[88]

वास्तववाद :

वास्तववादी कहेंगे, हम केवल सुख में रहना चाहते हैं—उसके लिये आवश्यक है अर्थ (धन) और भोग विलास की वस्तुओं का प्राचूर्य ; इसके मूल में कोई 'मायावी' विद्यमान हैं या नहीं; इसप्रकार की 'मृग-मरीचिका' के अनुधावन की सार्थकता क्या है ? सुख के विषय में इसप्रकार का प्रश्न मानव इतिहास में अति प्राचीन है ; अतएव इसका उत्तर भी अनेक शताब्दियों की परीक्षाओं में सफल रहा है। प्रश्न प्राचीन है, क्योंकि वर्तमान अध्याय के प्रारम्भ में ही हमने देखा कि, आर्य सभ्यता के शैशवकाल में ही चार्वाक ने घोषणा की थी कि, जब इस पार्थिव शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी अशरीरी आत्मा के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण अब तक प्राप्त नहीं है और कब यह शरीर जलकर राख में परिवर्तित हो जायेगा, इसकी कोई निश्चयता नहीं है तथा इसके एकबार विनष्ट हो जाने के उपरान्त पुनरागमन की संभावना केवल एक आधारहीन कल्पना है, तब 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्'[89] एवं इस सुख के लिये यदि ऋण लेकर भी घृत सेवन करना हो तो उसमें द्विधाग्रस्त होने की कोई आवश्यकता नहीं (चोरी करने का उपदेश चार्वाक ने नहीं दिया, संभवत: इसके लिए उनकी अदृश्य अन्तरात्मा ने उन्हें निरस्त कर दिया होगा) । जो भी हो, भोग्य सामग्रियों के प्राचुर्य या दैहिक सुख के उपकरणों से यदि अखण्ड सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती, तो फिर 'देह सर्वस्व'

---

88. वृ० (२/४/१४)—'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूतत् तत् केन कं··· पश्येत्···' ; गी० (७/१४)—'मम माया दुरत्यया···तरन्ति ते' ।
89. द्र० दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश, ७३१ ।

लोभनीय 'आसुरी उपनिषद्'[90] का परित्याग कर, सहस्त्रों वर्षों से 'शरीर नहीं, आत्मा की परिचर्या से ही ईहलोक, परलोक और सभी प्रकार के इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होगी'[91] छांदोग्य के इस प्रकार के आपात दुर्बोध्य वाणियों से क्या कोटि-कोटि मनुष्य[92] अबतक सांत्वना पाते ? पार्थिव वस्तुओं के द्वारा मनुष्य की सभी क्षुधाओं की निवृत्ति नहीं होती है इसलिए ही, जिन शल्य-विशारदों ने 'हृदयपिण्ड' को भी संयोजित करने की विद्या को जान लिया है एवं जिन वैज्ञानिकों ने चन्द्रलोक और मंगलग्रह के परिभ्रमण (हो सकता है 'प्रमोद भ्रमण' भी एक दिन संभव हो) की व्यवस्था की है, वे भी अपने-अपने धर्मों के अनुसार भगवदानुराग का त्याग नहीं कर पाये हैं।[93] उसका प्रमुख कारण यही है (जिसे तार्किकगण अधिकांश समयों पर भूल जाते हैं) कि, विज्ञान तथा धर्म का उद्देश्य एक नहीं है । परन्तु विज्ञान का परिपूरक होने के कारण ही धर्म चन्द्र और मंगल अभियान के बाद भी, गर्व से सिर उठाये खड़ा है ।

दुःखवाद :

ईश्वर का अस्तित्व यदि अनुमान मात्र है, तो फिर उस अनुमान को ग्रहण करने की कोई व्यावहारिक सार्थकता है अथवा नहीं, इस प्रश्न पर विचार करने के लिये उपर्युक्त पटभूमिका को हमें निरन्तर

---

90. छा० (८/८/५)—'असुराणां ह्येषोपनिषद्' ।
91. छा० (८/७/१)—'···सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्···' ; (८/८/४)—'आत्मानमेवेह महयन्···चामुं चेति' ।
92. सन् 1980 की जनगणना के अनुसार पृथ्वी की जनसंख्या ४४१ करोड़ है, उसमें से २५६ करोड़ व्यक्तियों का निर्दिष्ट धर्म है और उनमें हिन्दूओं की संख्या ४७ करोड़ है ।
93. द्र० पृ० १, टी० २ ।

ध्यान में रखना होगा। सभी सुखी होना चाहते हैं; परन्तु रोग-शोक-जरा, आर्थिक-विषमता, पारिवारिक अशान्ति इत्यादि जीवन में कभी न घटी हो, इस प्रकार का व्यक्ति खोजने पर भी नहीं मिलेगा। क्योंकि यह संसार ही दुःखों का आगार है[94], यह बात अनस्वीकार्य है। सुख एकदम नहीं है ऐसा कहना भी अवश्य ही मिथ्या सिद्ध होगा[95], परन्तु वह सुख क्षणिक होता है, शाश्वत नहीं होता। चिकित्सा विज्ञान अनेक रोगों के निवारण में समर्थ होते हुए भी, नये-नये असाध्य रोगों का प्रादुर्भाव आज भी हो रहा है, यह प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। दूसरी ओर किसी भी भोग्य सामग्री के द्वारा इन्द्रियों की क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती, वरन् जिस प्रकार अग्नि में घृत की आहुति देने से अग्निशिखाँओं में वृद्धि हो जाती है[96], उसी प्रकार भोग से भोग-विलास की इच्छाएँ उत्तरोत्तर बलवती होती हैं। स्त्री, पुत्र, परिजन अथवा ऐश्वर्य से मानव सुखों

94. गी० (८/१५)—'···दुखालयमशाश्वतम्···'।

95. बौद्ध धर्म इसी भावभूमि पर प्रतिष्ठित है कि, संसार केवल दुःखमय है; परन्तु सनातन धर्म के अनुसार, इस जगत् में भी मंगलमय ईश्वर के अमृतमय स्पर्श का अनुभव करने पर सबकुछ मधुमय प्रतीत हो सकता है [वृ० (२/५/१)—'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु··· श्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः···योऽथमात्मेदममृतम्··',] और दुःखों से परित्राण तथा क्षणिक सुखों को अक्षय अमृतत्व में परिणत करने का एकमात्र उपाय है, उसी अमृतमय पुरुष का संधान कर उनके साथ एकाकार हो जाना [तै० (२/७/२)—'···रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति']। बौद्धधर्म के मतानुसार निरीश्वर शून्यवाद, मनुष्य को बंधनो से मुक्त कराकर उसे निर्वाण सुख का अधिकारी बनाना चाहता है [धम्मपद (सुखवग्गो, ८)— 'निर्वाणं परमं सुखम्'] परन्तु शून्यता के अन्धकार से मुक्त होने के लिए अमृतज्योति का [वृ०(१/३२८)—'तमसो मा ज्योतिर्गमय···'] संधान हिन्दू धर्म ने दिया है—जो बौद्धमत में नहीं है।

96. मनु० (१/६४)—'न जातु कामः···भूय एवाभिवर्द्धते'।

को प्राप्त करने का प्रयास करता है परन्तु वह सुख चिरस्थायी नहीं होता, वरन् परिणाम स्वरूप विभिन्न समस्याओं का कारण बन दुःखों को ही उपस्थित करता है।[97]

इन सभी समस्याओं का समाधान करने के लिये एवं चिरस्थायी तथा अविमिश्र सुख की प्राप्ति के लिये, हमें एक ऐसी सत्ता का संधान करना और शरण लेना होगा, जो अनन्त आनन्द के आकर एवं उत्स होंगे ; जो रस स्वरूप हैं[98], और जिस उत्स से व्योम-वायु सभी आनन्दमय हुये हैं।[99]

उस निखिलानन्द के उत्स हैं 'ब्रह्म'[100], और परिदृश्यमान सभी वस्तु एवं जीव उन्हीं की अभिव्यक्ति हैं। इसे जानने के पश्चात् समस्त सृष्टि आनंदमय प्रतीत होगी। ब्रह्म सर्वदा हमारे साथ हैं और पृथ्वी के प्रत्येक कण में विद्यमान हैं, एकबार इस सत्य की उपलब्धि होने के पश्चात् यह दुःख-निलय पृथ्वी मधुमय[1] प्रतीत होगी। रोग, शोक या विपत्ति के समय मानव जब दिग्भ्रमित हो जाता है और जीवन जब निरूद्देश्य हो जाता है, तब भगवान ही हमारे एक मात्र सुहृद् या सहाय होते हैं।[2]

जन्म-मृत्यु विभीषिका :

रोग-शोक-जरा[3] के अतिरिक्त जो भय हमें निरन्तर पिड़ित कर

97. भा० (११/३/१८–१६)—'कर्मण्यारभमाणानां···साधितैश्चलैः'।
98. तै० (२/७/२)—'रसो वै सः···ह्येवानन्दयति'।
99. मु० (२/२/७)—'आनंदरूपममृतं यद्विभाति'।
100. तै० (३/६/१)—'आंनदो ब्रह्मेति व्यजनात्···जायन्ते'।
1. वृ० (२/५/१)—'ईयं पृथिवी···यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरूषो···'।
2. गी० (९/१८)—'गतिर्भर्ता··· शरणं सुहृत्'।
3. शरीर के छः गुण होते हैं, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु और छः विकार होते हैं—जन्म (या उत्पत्ति), अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, क्षय, एवं विनाश [भा० (७/७/१८)—'जन्माद्याः षडिमे भावाः···']।

रहा है, वह है मृत्यु की विभीषिका, जो उम्र के साथ ही साथ तीव्रतर होती जाती है। इसका कारण यह है कि, इस परिवर्तनशील जगत् में मृत्यु एक निश्चित परिणति है जिससे किसी को भी परित्राण नहीं मिलता। काल के इस अमोघ विधान से राजान्त:पुर में पले हुए गौतम बुद्ध भी स्वय को व्यक्तिक्रम रूप में नहीं पाए। इस अवांछित अतिथि का आविर्भाव किसी भी समय, किसी भी वैभवपूर्ण परिवार की सुख-शान्ति को भंग कर देता है, जिस किसी भी व्यक्ति को इस आनंद मेले से (मर्त्यलोक से) सदा के लिये विदाई ग्रहण करने को बाध्य होना पड़ता है। अतएव रोग-शोक-जरा जैसे सामयिक दु:ख ही नहीं, मृत्यु के समान चरम विनाश एवं वेदनादायक दैहिक विकार से भी मुक्ति पाने का कोई उपाय है या नहीं, यह मानव की आदिम एवं चिरन्तन ज़िज्ञासा रही है। और विभिन्न धर्मों ने भिन्न-भिन्न मार्गों के द्वारा इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

बौद्ध धर्म से हिन्दू धर्म का पार्थक्य :

केवल मृत्यु ही नहीं, जन्म भी मनुष्य का एक और अनिवार्य दु:खों का उत्स है।[4] इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। मां के गर्भ में भ्रूण की सुदीर्घ-अवस्थिति एकदम अन्धकार गह्वर में कारावास के समान है, इसके पश्चात् है निर्वात संकट में श्वासरोधकारी वर्त्म[5] में उत्तरण का समय,[6] और इस प्रकार के जन्म की प्रक्रिया

---

4. महा० आश्व० (१७/१६-२०)—'गर्भसंक्रमणें ··नर: ; रा० उ० (३)-गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात्···'।

5. सृष्टि का सर्वाधिक विचित्र रहस्य यही है कि, जो माता गर्भस्थ शिशु को अपने हृदय के रस और रक्त के द्वारा जीवित और वर्द्धित करती है, गर्भ से निष्क्रमण के लिए उसी जननी के भोज्य आक्षेपों के द्वारा संतान को अपरिमेय यंत्रणा प्राप्त होती है [गर्भ (७)]। इस प्रसंग में गर्भोपनिषद्

ही समस्त सांसारिक यातनाओं का कारण है। यदि एकबार के जन्म एवं मृत्यु से यह कथा समाप्त नहीं होती तो अनेकों बार हमलोगों को आवर्तित, विवर्तित और निष्पेषित होना पड़ता है। फिर तो इस बात की चिन्ता करने पर महाअत्याचारी असुर का हृदय भी कंपित होना स्वाभाविक है। इन परिणामों के निश्चित होने पर भी हम जो क्षणिक सुख भोग से आनंद प्राप्त करते हैं, हमारी अज्ञानता अथवा माया ही इसका एकमात्र कारण है। परन्तु प्रत्येक मानव के जीवन में इस प्रकार का दुर्दिन किसी न किसी समय अवश्य आता है, जब सभी समस्यायें विभीषिका की भाँति उसके

के प्रति दृष्टि आकर्षित करता हूं। कारण यह उपनिषद कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत अत्यन्त ही प्राचीन उपनिषद् है। कम से कम चार सहस्र वर्ष पूर्व हिन्दू ऋषियों ने भ्रूण की उत्पत्ति से लेकर प्रत्येक माह के शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तनों के विषय में जो विस्तृत और सत्यप्रति विवरण दिया है उसे पढ़कर स्तंभित रह जाना पड़ता है।
आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान उसके वास्तविक अंशों को नकार नहीं सका, वरन् यह समझना होगा कि ऋषियों के इसी ध्यानलब्ध ज्ञान के सूत्रों के आधार पर ही परवर्तीकाल के पाश्चात्य शरीरविद्या तथा शल्यविद्या के गवेषणकर्ता अपने सिद्धान्तों पर पहुंचे हैं। इसप्रकार गर्भोपनिषद् का दार्शनिक सिद्धान्त, कि नवम् महीने में भ्रूण की स्मृति में पूर्व जन्मों की सुकृतियों तथा दृष्कृतिओं का ज्ञान उत्पन्न होता है और वह सोचता है कि पुन: एकबार गर्भ से स्वतंत्र होने के उपरान्त अनित्य सांसारिक भोगकर्मादि का परित्याग कर मोक्षफलदायी ब्रह्मसाधना में प्रवृत्त होऊंगा [गर्भ० (६)] इसे मिथ्या कहने का औचित्य क्या है ? इस उपनिषद् को यत्नपूर्वक पढ़ने से कठोर समालोचक भी यह जान पायेंगे कि हिन्दू ऋषियों का विश्लेषण युक्ति तथा तर्कविज्ञान के नींव पर प्रतिष्ठित है।

6. विष्णु० (५/१०-१५)—'सुकुमार तनुगर्भे··· जठरान्नातुरातुर:' ; श०स०वे०सि०(२८-२९)—'कुक्षौ' स्वमातृर्मलमूत्रमध्ये उत्तानगत्या शयनं···' ऐ० (२/१/५)—'गर्भे शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः··· जवसा निरदीयम्···'।

समक्ष उपस्थित होती हैं। महापुरूषों में जीवन के प्रारंभ में ही पूर्वजन्मकृत सुकृतियों[7] के कारण सहजात ज्ञान होता है, जिससे वे इन समस्याओं के विषय में अध्ययन कर उसके समाधान के मार्गो का आविष्कार करने के लिये सक्रिय होते हैं। और उनमें से कुछलोग अपनी-अपनी अभिज्ञता के अनुसार भिन्न-भिन्न धर्म मतों का प्रवर्तन या उसकी व्याख्या करते हैं।

गौतमबुद्ध ने भी हिन्दू धर्म के कुछ मूल तत्वों को ग्रहण किया था, जसे—

(क) सांसारिक सुख अनित्य होते हैं, इसीलिए वे दुःखों के कारण बनते हैं[8]। (ख) मनुष्य को अपने शुभ एवं अशुभ सभी कर्मों का फल भोगना ही होगा।[9] (ग) इन सभी कर्मो के फलस्वरूप बार-बार मानव देह धारण कर जन्म-मृत्यु के दुःखों का भोगना पड़ता है।[10] (घ) मानव जीवन की अपेक्षा एक और उन्नततर

---

7. गी० (६/४३-४४)—'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्··· शब्दब्रह्मातिवर्त्तते'।

8. सुत्तनिपात (४/१,२१६) ; छा० (७/२६/१)—यो वै भूमा···नाल्पे··· सुखमस्ति' ; गी० (५/२२)—'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते···'।

9. संयुक्तनिकाय (१/७२, १/६३, २/१८५), दीग्धनिकाय (१/६५-६) ; मज्भिमनिकाय (२/७४, ३/१७८, २०३); अंगुत्तर निकाय, तिकनिपात (५३); सूत्तनिपात (२/१८७) : वृ० (४/४/५)-'···साधुकारी साधुर्भवति···पापेन···' ; क० (२/२/७)-योनिम्···यथाकर्म यथाश्रुतम्' ; छा० (५/१०/७)-'य इह···वा'।

10. धम्मपद, जरावग्गो, मज्भिमनिकाय (१/३८, ७३) ; संयुक्तनिकाय २/१८०-१, १८७, २१३) : वृ० (४/४/६)-'प्राप्यान्तं···कर्मणे' ; (४/४/ ३४)-'तद् यथा···भूतानाम्' ; क० (१/२/६) पुनःपुनर्वशमापद्यते मे' ; गी० (८/१६/१६/२१, ६/२०-२१)।

अवस्था भी है जिसकी उपलब्धि के पश्चात् जन्म-मृत्यु के इस चिरन्तन दुःखराशि से मुक्त हो, 'अनागामी' हो सकते हैं।[11]

यदि विवर्तनवाद सत्य है, तो फिर मनुष्य ने केवल अणु या जीवाणु से यात्रा आरंभ कर अनेक युगों के विवर्तनों के फलस्वरूप भगवत्सृष्ट सर्वजीवों के मध्य श्रेष्ठ पद की प्राप्ति की है इतना ही नहीं, अपितु यह भी स्वीकार करना होगा कि यह विवर्त अभी भी समाप्त नहीं हुआ है, क्योंकि मनुष्य को अभी भी पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं हुई है। मनुष्य-जीवन के ऊर्ध्व में एक उच्चतर जीवन भी है, इसे भी गौतम बुद्ध ने स्वीकार किया था ; परन्तु उस जीवन की प्राप्ति हेतु उन्होंने जिस मार्ग का निर्देशन किया, वहाँ भगवान का कोई स्थान नहीं था। उनके मतानुसार जो इन्द्रिय सारे दुःखों का कारण है, उन इन्द्रिय समूहों का संवरण और इन्द्रिय वृत्ति से सम्पूर्ण निवृत्ति[12] ही उन्नतम पद अथवा निर्वाण प्राप्ति का उपाय है। परन्तु इस प्रकार के निरालंब आत्मोत्कर्ष का प्रयास बुद्धदेव जैसे महा-पुरूषों के अतिरिक्त साधारण व्यक्तियों के लिए संभव नहीं, इस तथ्य की पुष्टि गौतम बुद्ध के अनुयायिओं ने ही कर दी है।[13]

---

11. तन्हावग्गो (१९) ; ब्राह्मणवग्गो (१८) पियवग्गो (१०) ; मज्झिमनिकाय (३) ; क० (१/३/७-८)–'यस्त्वविज्ञानवान्... न जायते' ; मु० (३/२/५-९)-'संप्राप्यैनमृषयो...अमृतो भवति।'
12. राग, द्वेष, मोह, हिंसा, सभी प्रकार के पाप कर्मों का वर्जन ; शम, दम, सत्य, अप्रमाद, सहिष्णुता का आश्रय; पूण्यकर्म का अनुष्ठान (धम्मपद-कोधवग्गो धम्मट्ठवग्गो ; बालवग्गो ; अपमादिवग्गो ; भिक्खुवग्गो ; बुद्धवग्गो)।
13. यथा, महायान के मतानुसार बुद्ध तथा बोधिसत्व की करुणा निर्वाण में सहायक होने के कारण उनकी पूजा को विशेष स्थान दिया गया है। [Prabhavananda, Spiritual Heritage of India (1962), P. 194 Hiriyana, Indian. Philosophy (1967) P. 224],

हिन्दू धर्म ने उसी एक लक्ष्य पर ही पहुंचने के लिये जो व्यवस्था की है, वह अत्यन्त सहज तथा अधिकतर युक्ति सम्मत है।

शून्यवाद :

गौतम बुद्ध ने निर्वाण की अवस्था को एक शून्यता की अवस्था के रूप में वर्णित किया है, जिस अवस्था में सुख-दुःख, सत्-असत्, अस्ति–नास्ति, उत्पत्ति-विनाश, कुछ भी नहीं है।[14] इस प्रकार के एक अनिर्वचनीय अवस्था में दुःखों के समस्त कारणों के दूर हो जाने पर परम शान्ति[15] अनिवार्य है। उस अवस्था को जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि इत्यादि स्पर्श नहीं कर सकते।[16]

परन्तु पूर्णता एक अनापेक्षिक धारणा है। सृष्ट विश्वसमूह यदि अंश मात्र है तो उसकी सृष्टि एक पूर्णसत्ता के द्वारा ही संभव है[17]। और यदि सृष्टि शाश्वत तथा अनंत है, तो फिर विनाशशील सभी पदार्थों का परिणाम या लय उस पूर्ण सत्ता में ही संभव है।[18] वह सत्ता सर्वापेक्षा वृहत्, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिशाली और एकमात्र ध्रुव सत्ता है। इस प्रकार की सत्ता को एकाधिक मानना असंभव है, तथा इसप्रकार के अस्तित्व-विहीन शून्यता की कल्पना करना भी आत्मविरोधी है।

फिर भी बुद्ध ने स्वयं कहा है कि, स्वानुभव के बिना केवल शिष्यत्व के प्रभाव से निर्वाण प्राप्ति संभव नहीं (अंगुत्तरनिकाय (१६३/२); मज्झिमनिकाय (१३४, २६५, ३१६); महापरिनिर्वाण सूत्त (२/२६)।

14. उदान (८/३); मज्झिमनिकाय (२/२६३); पियवग्गो (१०)।
15. भिकखुवग्गो (१४, १७, २२); सुखवग्गो (८); उदान (८/२२८)।
16. सूत्तनिपात (५/२२८)।
17. ब्र० सू० (२/१/२२)-'अधिकं तु भेदनिर्देशात्'; (१/६/७-१०)-'भूमा··· अक्षरम् अन्वरान्तधृतेः'।
18. वृ० (५/१/१)-'पूर्णमदः···पूर्णमेवावशिष्यते'।

'शून्य' को लक्ष्य अथवा आदर्श स्वरूप कल्पना करना भी दुरूह है। यह बात सत्य है कि ससीम व्यक्तित्व को विनाश से रक्षा करने का एकमात्र उपाय है उसके ससीम सत्ता को असीम के साथ विलीन कर देना, जिस प्रकार नदी अपने पृथक नाम रूप को खो कर समुद्र के साथ एकाकार हो जाती है।[19] किन्तु नदी असीम के साथ मिलने के लिये शून्य के प्रति नहीं दौड़ती, बल्कि सागर की ओर दौड़ती है, क्योंकि दिगन्त-प्रसारी समुद्र असीम का प्रतीक है। इस प्रकार की पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए मनुष्य का लक्ष्य या आदर्श एक ऐसी सत्ता होनी चाहिये जिसे शाश्वत, अनंत, असीम, अविनाशी, पूर्ण या भूमा कहकर अभिहित किया जा सके। हिन्दू धर्म के अनुसार वही ब्रह्म है।[20] एकमात्र उसी ब्रह्म के साथ एकाकार होने पर, या ब्रह्म की उपलब्धि होने पर ही जीव अमृतत्व की प्राप्ति कर सकता है।[20-21]

ब्रह्म सायुज्य :

परन्तु इस ब्रह्म प्राप्ति के लिये उपनिषद् ने एक शर्त आरोपित किया है, जिसके विषय में हमलोग प्रारंभ से ही कहते आ रहे हैं, वह हैं—ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ब्रह्म के सदृश्य,[22] ब्रह्मस्वरूप, ब्रह्मभूय

19. मु० (३/२/८)-'यथा नद्यः···दिव्याम्' ; छा० (६/१०/१)-'ताः समुद्रात् ···अहमस्मीति'।
20. वृ० (२/५/१९) ; (४/४/२०) ; क० (२/२/१३) ; मु० (२ २ ११) 'ब्रह्मैवेदममृतं वरिष्ठम्' ; श्वे० (६/१३) ; छा० (७/२३/१ ; ७/२४/१ ; ७/२५/१)—'यो वै भूमा...अहमेवेदं सर्वमिति'।
21. श्वे० (१/७)—'लीना ब्रह्मणि...योनिमुक्ताः' ; क० (२/३/१८)— 'ब्रह्मप्राप्तो विमृत्युः'।
22. वृ० (४/४/६)—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ; मु० (३/२/८)—'...ब्रह्मैव भवति...अमृतो भवति'।

या 'ब्रह्मभूत'[23] होना होगा। वरिष्ठ होने के लिये तो और कोई महत्तर आदर्श खोजने पर भी नहीं मिलेगा।[24] 'ब्रह्म' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ ही है—वृहत्तम।[25] उसी एक ही अर्थ में उन्हें भूमा[26] अथवा अनंत[27] भी कहा जाता है। मनुष्य को यदि सभी प्रकार की ससीमताजनित हीनता एवं दुःखों से ऊपर उठना है तो इस असीम और सर्वशक्तिसम्पन्न[27] आदर्श को लक्ष्य बनाना होगा।[28] अतएव ब्रह्म को यदि कल्पना मात्र भी माना जाय, तो भी ब्रह्म की अपेक्षा कोई दूसरा महत्तर आदर्श ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। बौद्ध धर्म या अन्य किसी भी धर्म में मनुष्य को देवत्व में रूपान्तरित करने के लिए सहायतार्थ इस प्रकार के पूर्णतम, महत्तम आदर्श की अवतारणा नहीं हो पायी है। इस प्रकार के वरिष्ठ आदर्श के अभाव में बौद्ध एवं जैन मतावलंबी बुद्ध एवं तीर्थंकर को ईश्वर के स्थान पर आदर्श तथा उपास्य के रूप में मन्दिर की वेदी पर प्रतिष्ठित करने को बाध्य हुए हैं।

ब्रह्म के समतुल्य होने की आकांक्षा साधारण मनुष्य के लिये दुराकांक्षा प्रतीत हो सकती है; परन्तु हिन्दू धर्म इस प्रकार का एक आपात-असंभव उपदेश देकर ही शान्त नहीं बैठा है। पहले ही कहा गया है कि, हिन्दू धर्म विज्ञान की तरह वास्तवदर्शी है।

---

23. गी० (५/२४ ; ६/२७ ; १४/२६ ; १८/५३-५४) ; भा० ११/२५/३२) —'...मद्भावाय प्रपद्यते' ; (११/२९/३४)—'...मयात्मभूयाय ...'।
24. 'वृहन्तो गुणाः यस्मिन्निति ब्रह्म' ; 'अस्ति तावन्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्म' (श० शा०) ; श्वे० (३/७)—'ततः परं ब्रह्मपरं वृहन्तं...'।
25. 'वृंह्मत्वात् वृंहणत्वाच्च ब्रह्म' (विष्णु० १२/५७)।
26. छा० (७/२३/१)—'...भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः...'।
27. तै० (२/१)—'सत्यं ज्ञानमतन्तं ब्रह्म'।
28. मु० (२/२/१-४)—'...सदसद्वरेण्यं...यद्वरिष्ठं प्रजानाम्...ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'।

इस कारण से ही सम्पूर्ण उपनिषदों का एक ही प्रतिपाद्य है — किस प्रकार ब्रह्मसायुज्य की प्राप्ति की जाय ; और किस तरह से मनुष्य अपनी जविक सत्ता से देवत्व में उन्नीत हो सके।

इस ग्रन्थ के परवर्ती अध्यायों में इसका वर्णन करने के लिये प्रयास करूंगा। इस वर्तमान प्रसंग में यही कहना है कि, जरा-मृत्यु जैसे दैहिक विकारों से मुक्ति पाने के लिये मनुष्य को अपने व्यक्ति-गत कामनाओं-वासनाओं[29] जैसे दहिक बन्धनों को विछिन्न कर, शुचितम, शुद्धतम[30], पवित्रतम एवं महत्तम होना होगा। अतएव ब्रह्म की कल्पना को अनुमान सिद्ध मान लेने पर भी, पूर्णतर जीवन की प्रशान्तिलाभ के लिए शून्य की अपेक्षा ब्रह्म की कल्पना कहीं अधिक उपयोगी है। इस विषय में मतभेद का कोई अवकाश है क्या ?

निश्चित रूपसे पहले ही कहा गया है कि, विवतन के नियमों से जिस ब्रह्म के द्वारा जगत् की सृष्टि हुई है, उसी ब्रह्म में प्रलय अथवा कल्पांत के समय साधु-असाधु सभी विलीन हो जायेंगे। इससे तार्किक लोग सोच सकते हैं कि एक दिन यदि बिना प्रयास के ही उस लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं, तब धर्म को लेकर इतने उलझाव की आवश्यकता ही क्या है ? ससार के इस आनन्द मेले में अवाध विचरण से स्वयं को वंचित करने का क्या अर्थ है ? इसका उत्तर अत्यन्त संक्षिप्त है—यदि कालचक्र के आवर्तनों के ऊपर निर्भर हो

---

29 वृ० (४/४/७)—'यदा सर्व्वे...अशरीरोऽमृतः...' ; क० (२/३/१४)—'यदा सर्वे ब्रह्म समश्नुते' ; (१/२/२०)—'...तमक्रतुः...आत्मनः' ; गी० (५/२१-२६)—'वाह्यस्पर्शेस्वसक्तात्मा...ब्रह्मनिर्वाणंवर्त्तते...' ; (२/७१-७२)—'विहाय कामान्...ब्रह्मनिर्वांणमृच्छति'।

30. क० (१/३/८)—'यस्तु...भूयो न जायते' ; मु० (३/२/६)—'...सन्न्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्वाः' छा० (७/२६/२)—'आहारशुद्धौ विप्रमोक्षः...' ; भा० (४/३/२३) 'सत्वं विशुद्धं...पुमानपावृतः'।

बैठ जाया जाय तो ब्रह्म में लीन होने के लिए कल्पान्त की प्रतीक्षा करनी होगी ; परन्तु वह तो सहस्रों युगों की बात होगी (८,६४,००००००० वर्ष)। इतने दिनों संसार चक्र के द्वारा कितनी बार अस्थि-चर्म-मांस-मज्जा निर्मित शरीर में जन्म लेकर निष्पेषित होना होगा, इसकी कल्पना मात्र से हृदय भयभीत हो जाता है। अतएव इस जन्म में ही इस अनंत यंत्रणा से मुक्ति प्राप्त हो सके उसका उपाय है—ब्रह्ममय होकर इस जन्म में ही ब्रह्म में लीन हो जाना। इस अवस्था को हिन्दू धर्म ने जीवन-मुक्ति कहा है। जीवन मुक्त व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वह देवत्व का अर्जन करके महामनुष्यत्व में स्थित हो व्यष्टि सत्ता का त्याग कर[31] अनंत के साथ विलीन हो जाता है।

मनुष्य स्वयं के कर्मदोषों के कारण ही ईश्वर से विच्युत हुआ है[32], एवं पापों को धोने के पश्चात् ईश्वर का साथ पुन: प्राप्त कर सकता है।[33] ईसाई धर्म के साथ सामान्यत: इस विषय पर दो मत न होने पर भी, वही भगवान् विचारक के रूप में मनुष्य से बहुत ऊर्ध्व में निवास करते हैं, और उनसे क्षमा मांग कर पापों से मुक्त होने पर ही मुक्ति प्राप्त होगी—इसे उपनिषदों ने स्वीकार नहीं किया है। ईश्वर की करुणा की आवश्यकता है, परन्तु वे उच्चतम विचारक

---

31. बृ० (४/४/६-७) क० (२/२/१) '...विमुक्तश्च विमुच्यते' : श्वे० (१/७) 'अत्रान्तरं लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः' ; मु० (३/२/९) '...विमुक्तोऽमृतो भवति' ; छा० (६/१०/१) '...न विदुरय-महमस्मि...'।
32. Isaiah (59·3)—'But your inequities have separated between you and your God' ; Roman (3·23)—'For all have Sinned ... ; John (3·3)—'Except a man be born again...God'.
33. cf. John (3·3)—'Except a man be born again he cannot see the kingdom of God ; Mathew (5·48) 'Be ye therefore perfect, even as your Father which is in heaven is perfect'.

होने के कारण अयोग्य पात्र पर भी करुणा की वर्षा करेंगे, ऐसी आशा क्या युक्ति-संगत होगी ? उनकी करुणा का अर्जन करना होगा ;[34] किन्तु ब्रह्म के सदृश्य नित्य-शुद्ध-बुद्ध होने पर ही वह करूणा अपने आप बरसने लगेगी ।[35]

यह अवश्य है कि धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य का विचार करके साधारण मनुष्य को सत् जीवनयापन करने की अनुप्रेरणा प्रदान करने के लिए एवं तत्सहायक उपासना के प्रयोजन की शिक्षा देने के लिये, परवर्ती काल के पुराणादि ग्रन्थों में बैकुण्ठवासी विचारक श्रीभगवान के रूप की अवतारणा की गयी है। परन्तु मूलकथ्य वही एक ही है—संसार के बंधन से मुक्ति पाने के लिये ब्रह्मभूय सत् होना होगा और जब कोई ब्रह्म के समान 'नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव[36] हो जाने में कृतकार्य होंगे[37], तब वे अकृत्रिम एवं अकपट रूप से घोषणा कर सकेंगे—'अहं ब्रह्मास्मि'[38] अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ।

हिन्दू ऋषियों के अतिरिक्त संसार में इतने महत्वपूर्ण तथ्य की कल्पना कोई भी नहीं कर पाया ।

मंत्र-तंत्र-उपासना-याग-यज्ञ, सभी उपादान हैं, सभी ब्रह्मत्व

---

34. मु० (३/२/३) 'नायमात्मा...यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः...' ।
35. मु० (३/२/५-६) 'संप्राप्यैनमृषयो...पारमुच्यन्ति सर्वे' ; श्वे० (२/१४–१५) 'यथैव विम्वं मृदयोपलिप्तं...मुच्यते सर्वपाशैः' ।
36. (श० शा०) '...नित्यशुद्धवुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्म' ।
37. वृ० (४/४/२३) 'शान्तो दान्तः...विपापो विरजोऽविचिकित्सः...' ; छा० (८/१/५) '...अपहतपाप्ना विजरो विमृत्युर्विशोको...' ।
38. वृ० (१/४/१०) ई० (१६)—'...सोऽहमस्मि' ।

प्राप्ति के अभियान के सोपान या पदक्षेप मात्र हैं।[39] लक्ष्य वही एक है—ब्रह्म के समान विशुद्धसत्व[30] होना होगा। इस व्यक्तिगत साधना के सिवा, सर्वप्रकार के बाह्य अनुष्ठानों के द्वारा भी, उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी।[39] यही है हिन्दूधर्म का सारात्सार अर्थात् सारतत्वों में भी सारतम तत्त्व—"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"।[40]

39. क० (१/२/२३) ; मु० (३/२/२३) ; (३/२/३) 'नायमात्मा...न बहुना श्रुतेन' ; (३/१/८) 'न चक्षुषा...कर्मणा वा...' ; (१/२/१०, १२) 'इष्टापूर्तं....विशन्ति' ; 'परीक्ष्य लोकान् ब्रह्मनिष्ठम् ; ना० (ख) (१२/१४) 'न कर्मणा न प्रजया धनेन...' ; गी० (११/५२) 'नाहं वेदैर्नतपसा न चेज्यया...'।

40. वृ० (४/४/६) : परवर्ती अध्यायों में ब्रह्म के स्वरूप तथा ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मसायुज्य के सोपानों के विषय में विस्तृत परिचर्चा की जाएगी।

तृतीय अध्याय

ईश्वर की सर्वव्यापकता

हिन्दू धर्म का दूसरा सिद्धान्त यह है कि, ईश्वर सर्वव्यापी तथा सर्वत्र विराजमान हैं।

यह ईशोपनिषद का प्रथम मंत्र[1] है तथा अन्य उपनिषदों में भी बार-बार उद्धृत किया गया है। इसी अर्थ में उन्हें 'विभु'[2] 'विष्णु'[3] 'वासुदेव'[4] की संज्ञा दी गयी है।[5] ऐसा नहीं है कि वे मात्र विश्व-चराचर को आवृत किये हुए है[6] वरन् जो कुछ भी परिदृश्यमान या अनुमेय है सब वे ही हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व उन्हीं की अभिव्यक्ति है। 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म'।[7]

---

1 ई० (१)—ईशावास्यमिदं सर्वं ; मु० (२/२/११)—'···पुरस्ताद्ब्रह्म अधश्चोर्द्ध्वं प्रस्तुतं···' ; श्वे० (३/२६, ४/४)—'···सर्वगत विभुत्वात् ···' ; (६/२)—येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वम्···' ; ना० (ख) (१२/१२)—'यस्मात् परं नापरमस्ति···एकस्तेनेदं पूर्णं···सर्वम्'।

2. गी० (१०/१२)–'आदिदेवमजं विभूम्' ; (८/१२)—येन सर्वमिदं ततम्'।

3. 'विष्णाति' (विष्) का अर्थ व्याप्त रहना ; अथवा जो सर्वत्र प्रविष्ट (विश्) हैं।

4. अ० वि० (२२)–'सर्वभूताधिवासं···वासुदेव इति' ; गी० (७/१९)—'वासुदेव···सुदुर्लभः' ; विष्णु (२/१२)-'सर्वत्रासौ समस्तंच··· परिपठ्यते'।

5. 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ ही 'वृहद्' एवं 'विस्तीर्ण है, (विष्णु० (१२/५७)-वृहत्वाद् वृंहणत्वाच्च···ब्रह्मसंज्ञितम्···')।

6. गी० (१०/१६)-'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि' ; (१३/१३)-'सर्वमावृत्य तिष्ठति'।

7. छा० (३/१४/१) ; (६/८/४,७)-'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं···' ; तै० (२/६/४)-'सच्च त्यच्चाभवत्···यदिदं किंच···' ;।

सर्वव्यापी :

यहाँ तक कि वेद के कर्मकांड में भी, जहाँ विभिन्न देवताओं को उपासना का विधान है, वहाँ भो ये सभो देवता एक अद्वितीय परमात्मा की अभिव्यक्ति के रूप में वर्णित हुए हैं और उस परमात्मा को विश्व-ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विराजमान कहा गया है।[8] उपासकगण इन्द्र, वरूण, अग्नि, यम इत्यादि विभिन्न नामों से उस एक ही सत्ता का वर्णन किये हैं।[9] उनके सर्वव्यापी होने के कारण अन्य किसी भी वस्तु की स्वतंत्र या पृथक सत्ता नहीं हो सकती ; उपासकगण उनकी एक या पृथक रूप से उपासना करें, परन्तु इससे उस सर्वमय की सर्वाध्यक्षता नष्ट नहीं होती।[10]

अद्वितीय :

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में यदि केवल एक ही सत्ता का अस्तित्व है, तो उसकी सर्वव्यापकता में आश्चर्य क्या है ? जो पृथ्वी पर है, वहो द्युलोक और अन्तरिक्ष में भी है ; वे ही चन्द्र-ताराओं में, वे ही व्योम-समीर में, अनल-अनिल में, भूमि-सलिल में[11] हैं ; और वे ही सर्वभूत के अन्तर में स्थित हो कर 'अन्तर्यामो' स्वरूप द्वारा सभी को सूत्र की भाँति संग्रथित[11] तथा विधृत किए हुए हैं। उन्हें एकमात्र

---

8. ऋक् (१/२२/१७)-'इदं विष्णुविचक्रमे···पांसुरे' ; श्वे० (६/११)-'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'।
9. ऋक् (१/१६४/४६)-'···एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति···'; (१०/१२८/७)—'धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिः···, ; मा० (३/३२/२६)–ज्ञानमात्रं ···भगवानेक ईयते' ; (६/६/४०)-'यत्तद् ब्रह्म···वासुदेवेति···'।
10. गी० (६/१५)-'···एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्' ; श्वे० (६/७)-'तमीश्वराणां···देवतानां परमंच देवतम्···'।
11. वृ० (३/७/१)-'···तत् सूत्रं येनायं संदृब्धाणि भवन्तीति···' ; श्वे० (२/१७)-'यो देवोऽग्नौ···यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमः' ; मा० (६)-'एषोऽन्तर्यामी···'।

सत्ता कहने का अभिप्राय यह है कि वे ही एकमात्र अमृत एव अविनाशी हैं, अन्यथा और जो कुछ भी है वह सब अनित्य और नाशवान है।[12]

ईश्वर व देवता :

दूसरे धम के जो प्रचारक कहते हैं कि, हिन्दुओं के तैंतीस करोड़ देवता हैं, हिन्दू वृक्षों, पत्थरों की पूजा करते हैं; और हिन्दुओं में भी जो लोग एक देवता से अधिक किसी दूसरे देवता के श्रेष्ठत्व को स्थापित करने के लिए अज्ञानता के तर्कजाल की सृष्टि करते हैं; वे सभी लोग यदि उपरोक्त अनस्वीकार्य प्रमाणों पर दृष्टिपात करें तो समझ पाएंगे कि, जिस प्रकार ईश्वर अद्वितीय एवं सर्वमय तथा सर्वभूत के स्वरूप हैं, उसी प्रकार सभी देवता भी उसी एक ही ईश्वर के विभिन्न रूपों के प्रकाश हैं[10]। यही हिन्दू धर्म के ईश्वरत्व का सारतथ्य है; कोई यदि इसके विपरीत कुछ कहता है तो वह हिन्दू धर्म नहीं, अज्ञानता का प्रलाप मात्र है।[13]

ईश्वर को 'परमपुरुष' या 'पुरूषोत्तम'[14] कहने पर फिर वे किस प्रकार सर्वत्र विराजमान होंगे, इसप्रकार का कौतूहल अवश्य ही

---

12. वृ० (३/७/२३)-'···नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा···त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽन्यदार्त····'।

13. यही दु:ख का विषय है कि, जो भारतप्रेमी के रूप में जाने जाते हैं (यथा. Basham, India (1954), P.238) वे ऋग्वेद के एकत्वबोधक सूक्तों के (१/१६४/४०)–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति···' ; (१०/१२१/१-९)-'···कस्मै देवाय हविषा विधेम···') मर्म की उपलब्धि नहीं कर पाए हैं। लेकिन प्रसन्नता का विषय है कि Max Muller ने [Indian Philosophy (1989 P.P. 48-52], ऐसी गलती नहीं की और उन्होंने इन सभी सूक्तों के साथ नासदीय सूक्तों की (१०/१२९/१-७) भी विस्तृत व्याख्या की है।

उत्पन्न हो सकता है। परन्तु ईश्वर के पुरूषत्व के साथ उनकी सर्वव्यापकता का कोई विरोध नहीं है।[15]

ब्रह्म :

हिन्दू धर्म में भगवान एक ही हैं, अनेक नहीं। वे निर्गुण और निर्व्यक्तिक ब्रह्म हैं। वे ही ब्रह्मांड की उत्पत्ति एवं प्रलय के कारण हैं। भाषागत दीनता के कारण ब्रह्म को 'वह' शब्द से उल्लेखित करने पर भी, उनको कोई स्थूल काया अथवा लिंग नहीं है[16], न कोई कार्य ही है[17]। इसी कारण से उपनिषद् में ब्रह्म को व्यक्त करने के लिए अनेक स्थलों पर क्लीव लिंग सर्वनाम 'तत्' या 'त्यत्' शब्द व्यवहृत हुआ है।[18] परन्तु पहले ही कहा गया है कि, सृष्टि निर्माण के उद्देश्य से ये निर्गुण, निराकार ब्रह्म अपनी माया की सहायता से सगुण सृष्टिकर्ता का पद ग्रहण करते हैं। सृष्टिकर्ता के रूप में उन्हें 'ब्रह्मा',[19] प्रजापति, हिरण्यगर्भ[20], ईश्वर आदि नामों से अभिहित किया जाता है। किन्तु ब्रह्म से भिन्न उनका कोई भी व्यक्तित्व या सत्ता नहीं है। वे ब्रह्म ही ईश्वर के रूप में विश्व को सृष्टि करते हैं। पूर्व अध्याय में जिस विवर्तन के विषय में कहा गया है, उस विवर्तनवाद के

14. गी० (११/३ ; १५/१८)।
15. गी० (८/३)-'अक्षरं ब्रह्म परमं···' ; (११/३७)-'···त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत्' ; (१३/१२)-'ज्ञेयं···अनादिमत् परं ब्रह्म···'।
16. क० (२/३/८), श्वे० (६/८/९)-'···अलिंग···' ; तै० (१/६/२)-'···आकाश शरीरं ब्रह्म···'।
17. श्वे० (६/१९)-'···निष्क्रियं···'।
18. बृ० (३/९/९)-'···स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' ; ई० (४-५)-'अनेजदकं··· वाह्यतः ; छा० (६/२/१)-'···एकमेवाद्वितीयम्···' ; क० (१/३/१५) -'अशब्दमस्पमर्शव्ययम्···'।
19. श्वे० (६/१८) ; मु० (१/१/१)।
20. श्वे० (३/४)।

अनुसार निर्गुण ब्रह्म के विवर्त और प्रकाश[15] ही मायाधीश ईश्वर हैं, और उन्हीं ईश्वर का विवर्त ही मायाप्रसूत यह ब्रह्माण्ड तथा तदन्तर्गत मायाबद्ध जीवों का समूह है।[21] अतएव ब्रह्म एक ही आधार में साकार तथा निराकार दोनों हैं।

ईश्वर :

ऐसा नहीं है कि ईश्वर केवल विश्व की ही सृष्टि किए हैं, वरन् वे सृष्टि के उपरान्त प्रत्येक सृष्ट पदार्थ अथवा जीव में प्रविष्ट अर्थात् विद्यमान भी हुए हैं।[22] हां ! यह अवश्य है कि, यदि इस सृष्टिकर्ता को सहस्रशीर्ष-सहस्रपाद युक्त एक विशालकाय पुरुष के रूप में कल्पना की जाय, तो उनके लिए सूक्ष्म जीवों के अभ्यंतर में प्रवेश करना दुरूह प्रतीत होने लगेगा ; परन्तु मूलत: 'सहस्रशीर्ष पुरुष:' इत्यादि की उपमा द्वारा एक अतिमानव के रूप में उनकी कल्पना नहीं की गयी है। बल्कि उनके द्वारा सृष्ट जीवों के हाथ-पाँव ही विशेषत:[24] स्रष्टा के स्वयं के हाथ-पाँव हैं, क्योंकि वे तो सबों में विराजमान हैं।

पुरुष :

"परमपुरुष" की संज्ञा से जिस पुरुषत्व का आभास होता है वह देहधारी मानव का पुरुषत्व नहीं है। 'पुरुष' शब्द का मौलिक अर्थ है, जो सभी शरीरों में अवस्थान करता हो।[25] जिस अर्थ के

---

21. गी० (१५/७)-'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:'।
22. तै० (२/६/३)–'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'।
23. ऋक्० (१०/९०/१-२) ; श्वे० (३/१४)।
24. श्वे० ३/११)-'सर्वाननशिरोग्रीव:' ; (३/३)–'विश्वतश्चक्षुरूत··· विश्वतस्यात्' ; (३/१७)-'सर्वत: पाणिपादन्तं···' ; (५/१०)-'नैव स्त्री·· रक्ष्यते'।

कारण सृष्टिकर्ता को पुरुष कहा जाता हैं, उसकी व्याख्या वृहदारण्यक उपनिषद् ने स्वयं किया है—

'……पुरू: पुरुष आविशत्' ॥ इति ॥

'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतम् नंनेन किंचनासंवृतम्' ।[25]

ये विश्वरूपी पुरुष मनुष्याकृति के नहीं हैं इसका वर्णन मुक्तिकोपनिषद् में भी है—

'अग्निर्मुर्धा चक्षुषी चन्द्र-सूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' ॥[26]

यहां तक कि ऋग्वेद के जिस पुरुष-सूक्त (१०/९०/१२) से जात्याभिमानियों ने शुद्रों की हीनता का निणय किया है वे लोग उस मंत्र के ठीक परवर्ती दो मंत्रों (१०/९०/१३-१४) का उल्लेख क्यों नहीं करते,—जहां कहा गया है कि, उसी पुरुष के मस्तक से स्वर्ग, मुख से अग्नि, दोनों चरण से भूमि इत्यादि की सृष्टि हुई है (चन्द्रमा मनसा जातः … पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्… अकल्पयन्') ?

परमात्मा :

निरवयव ब्रह्म को 'परमात्मा' कहा गया है। जीवों के स्थूल शरीर में प्रवेश करना आत्मा के लिये कोई अस्वाभाविक काय

25. वृ० (२/५/१८) । गीता में भी एक ही बात कही गयी है : (८/२२)- 'पुरुषः…यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्' ।
26. मु० (२/१/४) मु० (१/१/६)-'अचक्षुः तदपाणिपादम्…'; श्वे० (३/१६)-'…अपाणिपादो अकर्ण…' ।

नहीं है।[27] उसी जीवदेहभूत परमात्मा को ही गीता में 'परमपुरुष' कहा गया है—'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः···।[28]

पहले ही कहा गया है कि यही निराकार विश्वआत्मा जब स्वयं में अन्तर्निहित शक्ति (प्रकृति) की सहायता से विश्वचराचर की सृष्टि करते हैं, तब इसी विवर्त के कारण हम उन्हें 'ईश्वर' (या सृष्टि-कर्ता) की उपाधि से अभिहित करते हैं। परन्तु यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर भी ब्रह्म के जैसे निराकार और अवयवहोन हैं, तो फिर यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि, हम मानवदेहधारी श्रीकृष्ण, श्रीराम या मानवमूर्ति में नारायण, शिव, दुर्गा, काली इत्यादि की पूजा, भगवान का रूप मानकर क्यों करेंगे? हिन्दू धर्म प्राचीन काल से ही इस प्रश्न के प्रति जागरूक रहा है और विभिन्न साधकों ने अनेक प्रकार के मतों से इस प्रश्न का समाधान किया है। उन सभी विषयों की व्याख्या के लिए हमें अगले अध्यायों तक प्रतीक्षा करनी होगी। फिर भी संक्षेप में इन मानवमूर्ति भगवान के साथ ब्रह्म के संबंध का उल्लेख कर रहा हूँ।

पहले ही कहा गया है कि, श्रीरामचंद्र या श्रीकृष्ण ईश्वर के अवतार हैं। क्यों हम उनकी पूजा करते हैं, इन कारणों को जानने के लिए हिंदूधर्म के अवतारवाद[29] को हृदयंगम करना होगा।

---

27. श्वे० (३/२०)-'अनोरणीयान्···जन्तोः'।

28. गी० (१३/२०); (१५/१७)-'उत्तमः पुरूषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः'।

29. आर्यसमाज के प्रतिष्ठाता स्वामी दयानन्द सरस्वती कहते हैं (सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५३४-३५, ५७०, ५७६) कि वेदों में कहीं भी अवतारवाद का उल्लेख नहीं है; लेकिन 'अज', 'अजात' 'अकाय' जैसे विशेषणों से यही स्पष्ट होता है कि ब्रह्म का जन्म-मरण नहीं होता, अतः मनुष्यजन्म ग्रहण करना भी एक कल्पित कथा है। उनके अनुसार, अवतारवाद को

समस्या यह है कि श्रीमद्‌भागवत में व्यास जी श्रीकृष्ण को अवतार कहकर ही संतुष्ट नहीं हुए बल्कि उन्होंने कहा कि 'कृष्णस्तु

परवर्तीकाल में, इतिहास (उदाहरणार्थ महाभारत) एवं अष्टादश पूराणों में, ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के अनुकूल अवतारित किया है। यह अवश्य है कि वृहदारण्यक (२/४/१०) तथा छांदोग्य (७/१/४) उपनिषद् में 'इतिहास' एवं 'पुराण' दोनों का ही उल्लेख मिलता है। इस विषय में इनका अभिमत यही है कि, उपनिषदोक्त 'इतिहास-पुराण' वेद के ही उत्पत्ति विषयक अंश विशेष हैं (यथा, तै० (२/७) इस मत के स्वपक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं कि महाभारत [महा० आदि० (१/५४-५५)] तथा अष्टादश पुराण सत्यवती सूत व्यासदेव की रचनाएं हैं [महा० आदि (२)]। अतएव वे इतिहास और पुराण 'महद्‌भूतनिःश्वसित' होने के कारण समान रूप से एक नहीं हो सकते [वृ०(२/४/१०)]। दूसरी तरफ यह भी उल्लेखनीय है कि विस्तृत वर्णन नहीं रहने पर भी, वामन, मत्स्य, कूर्म, वराह, परशुराम व कृष्ण ये सभी नाम शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक तथा ब्राह्मण एवं छान्दोग्य उपनिषदों (३/१७/६) में देखा जा सकता है।

जो भी हो, इस पुस्तक में इस प्रकार के वितर्कों में प्रवृत्त होना निष्प्रयोजन है, क्योंकि इस पुस्तक का उद्देश्य है देहधारी मनुष्य के देवत्व सम्पादन के उपाय को आविष्कृत करना। इस प्रक्रिया में एक आदर्श की आवश्यकता है, हिन्दू धर्म ने ब्रह्म को ही उस आदर्श के रूप में उपस्थित किया है। परन्तु अधिकार भेद से साधारण मनुष्य के पक्ष में प्रारम्भ से ही निराकार निरिन्द्रिय ब्रह्म को जीवन का आदर्श मानकर अग्रसर होना एक असंभव अनुशीलन में परिवर्तित होना स्वाभाविक है। उसकी अपेक्षा सहज एवं संभव होगा श्री राम या श्री कृष्ण के सदृश्य रक्तमांसधारी महापुरूषों के आदर्शानुसार जीवन की यात्रा आरंभ करना। ये महापुरूष देहधारी होने के कारण, साधारण मनुष्यों की व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याएँ उनके जीवन में भी आविर्भूत हुई थीं ; लेकिन वे ईश्वरीय शक्ति तथा विभूतियों का धर्मसम्मत समाधान करने में सक्षम हुए थे। अतः उस आदर्श का अनुसरण करने से साधारण मनुष्य भी देवत्व के पथ में अग्रसर होने के लिए सहजतम उपायों से सफल होंगे। इस आदर्शवाद को वेद-विरोधी कहना उचित प्रतीत नहीं

भगवान् स्वयम्'[30]। पहले ही कहा गया है कि ब्रह्म का अर्थ है भूमा[31]। उस भूमा का जितना अधिक अंश या अभिव्यक्ति हम किसी भी मनुष्य में पाते हैं, उसे उतना ही ईश्वर के सदृश्य पूज्य मानते हैं[32]। श्रीकृष्ण पूर्ण अवतार के रूप में स्वीकृत होने पर, उनकी भगवान् के रूप में पूजा वेदान्त के ब्रह्मत्व की परिपंथी नहीं है। श्रीकृष्ण के साथ परमब्रह्म का क्या संबंध है, गीता में उस विषय में श्रीकृष्ण ने स्वयं ही अनेकों बार उल्लेख किया है।

होता, क्योंकि उपनिषद् में भी संशय निवृत्ति के लिए धर्मपरायण एवं निष्काम महापुरूषों के आचरण का अनुसरण करने को कहा गया है (तै० (१/११/३-च) । यदि इसी की प्रतिध्वनि गीता एवं भागवत् ने भी की है (गी० (६/२१) ; भा० (६/२/४)-'यद् यदाचरति श्रेष्ठः··· लोकस्तदनुवर्त्तते') तो फिर उन्हें वेद विरोधी नहीं कहा जा सकता। वरन् वेदप्रोक्त धर्म की रक्षा करने के लिए ही महापुरूषों ने अपने जीवन के द्वारा साधारण लोगों के उपयुक्त प्रमाण या दृष्टान्त स्थापित किया है (भा० ५/४/१४-१५)-···स्वयं धर्माचरणेनोपशिक्षयन्···यच्छीर्षण्या-चरितं···लोकः') यह कहना वेदानुकूल ही है। इनलोगों में कौन अवतार रूप में पूज्य होंगे, यह उनके चरित्रों तथा भविष्यत् युग के मूल्यांकन के ऊपर निर्भर करता है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय यही है कि उत्तरकालीन अनेक उपनिषदों में ही श्रीराम (रा०र० (१/१), रा० पू० (१/२), रा० उ० (२)] और श्रीकृष्ण [गो० पू० (१/८-६) ; गो० उ० (१/ख)] को ब्रह्म का ही स्वरूप कह उनकी उपासना की व्यवस्था की गयी है।

30. भा० (१/३/२८)-'एते चांशकला···स्वयम्···'।

31. श० शा०-'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्म'; विष्णु० (१२/५७)—'वृहत्वात् वृंहणत्वाच्च तद्रूपं ब्रह्मसंज्ञितम्'। ब्रह्म की संज्ञा ही भूमा है—अद्वैत, अनन्त, अमृत एवं सर्वव्यापी-छा० (७/२४-२५) ; क० (४/११) ; श्वे० (३/६)।

32. तुः गी० (१०/४१)-'यद्यद् विभूतिमत् सत्वं···मम तेजोंऽशसम्भवम्'।

उनका 'अंतिम' स्वरूप ब्रह्म[33] है एवं ब्रह्म ही उनके परमधाम हैं ; और वही ब्रह्म अपनी विभूति के द्वारा मानवतन का आश्रय ग्रहण कर धर्मसंस्थापना के निमित्त श्री कृष्ण के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।

इस तथ्य पर भी अवश्य ध्यान देना होगा कि, गीता के श्री कृष्ण ने अपने 'मानव' 'पुरूषोत्तम' रूप को पद्रहवें अध्याय में 'अक्षर' से भी उत्तम कहा है।[35] कुछ ब्रह्मवादी इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर व्याख्या किए हैं। किन्तु जिस प्रकार वेदान्त ज्ञानमार्ग का एकनिष्ठ मार्ग दर्शक है, उसी प्रकार गीता ज्ञानकर्म-भक्ति की समन्वय-वर्तिका है, इसे याद रखने पर, यह श्लोक प्रक्षिप्त है या नहीं, इसप्रकार के कुटिलतर्क में प्रवृत्त होने की आवश्वकता नहीं होती। कृष्णरूप में हों या मातृरूप में हों, मनुष्य मूर्ति में हम जिस भगवान् की पूजा करते हैं, वह अव्यक्त, कूटस्थ ब्रह्म की धारणा में सहायता के लिए ही करते हैं।[36] वर्तमान समय में,

---

33. गी० (१४/२७)-'ब्रह्मणों हि प्रतिष्ठाहम्···' ; (१३/३१)-'··· ब्रह्म सम्पद्यते तदा' ; (८/२४)-'···ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति' ; गी० (५-२१)–'अव्यक्तोऽक्षर···परमं मम'।

34. गी० (९/१५)—'अवजानन्ति···भूतमहेश्वरम्'।

35. गी० (१५/१८)—'यस्मात्···अहमक्षरादपि चोत्तमः···पुरूषोत्तमः'। [यहां 'अक्षर' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' नहीं कहकर 'ईश्वर' या 'पुरुष' कहने पर ब्रह्म के साथ विरोध नहीं होता ; इस प्रकार का प्रयोग श्वेताश्वतर उपनिषद् में देखा जाता है (१/१०)-'क्षर' प्रधानम्··· देव एकः']।

36. इस प्रकार की व्याख्या उपनिषद् ने स्वयं दी है। परवर्ती उपनिषदों के समय में साकार उपासना अधिकांशतः प्रचलित हो जाने के कारण, स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न हुआ था कि जो योगी निराकार, अमूर्त ब्रह्म की साधना करते हैं, वे दशरथ तनय मानव देहधारी श्रीराम की पूजा क्यों

यहाँ तक कि वैदिक युग के बाद ही, ज्ञानमार्ग के कठोरत्व की उपलब्धि कर भागवतादि पुराणों में भक्तिमार्ग के ऊपर अधिक आस्था प्रगट की गयी है। और गीता में हम इस पूर्वोदित धारा-समुदय का समन्वय पाते हैं।

करेंगे ? इसके उत्तर में अथर्ववेद के अन्तर्गत रामपूर्वतापनीय उपनिषद् में ऋषियों ने जो कहा है [रा० पू० (१/७)], उसके मात्र एक श्लोक के द्वारा ही हिन्दू धर्म के साकार-निराकार द्वन्द का समापन हो जाना उचित है—

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण: ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ।।"

इसी की प्रतिध्वनि कर महानिर्वाण तंत्र ने कहा है कि, भक्तों के अल्पज्ञान हेतु एवं उपासना में सिद्धिलाभ के उद्देश्य से एक ही आद्याशक्ति की विभिन्न रूपों में कल्पना की जाती है (१३/४, १३)—'उपासकानां कार्याय रूपाणि विविधानि च कल्पितानि हितार्थाय भक्तानामल्पमेधसाम्') । रामरहस्य उपनिषद् (१/१) के श्लोकों में श्रीराम महात्म्य प्रकाशक दस उपनिषदों का उल्लेख किया गया है, और रामरहस्योपनिषद् के वक्ता हनुमान तथा सनक भारद्वाजादि ऋषि जिज्ञासु हुए हैं। उनका प्रश्न था (१/३)-ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के विषय में अट्ठारह पुराणों तथा संहिताओं के समूह में कौन से उपाय वर्णित किए गए हैं ? उत्तर में हनुमान की यह उक्ति है (१/६)-'···राम एव परम् ब्रह्म राम एव परम् तप:···' । (द्र: भा० ५/१६/३-११) ।

ऐसा नहीं है कि मात्र उपास्य मूर्ति ही ब्रह्म की परिचायक है वरन् विभिन्न मूर्तियों की पूजा में जिन मंत्रों का प्रयोग होता है वे भी ब्रह्म के ही वाचक हैं [रा० पू० (१/१२)-'···मननान्त्राणान्मन्त्र: सर्ववाचस्य वाचक:'] । इसका कारण यह है कि मात्र रूप ही नहीं वरन् सभी शब्द भी केवल उसी एक ही सत्ता के द्योतक हैं [मा० (१)-'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं···ह्येतद् ब्रह्म···'] ।

यही हिन्दू धर्म का अद्वैतवाद या ब्रह्मात्मैक्यवाद का सारतत्व है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० (३/१४/१) ।

गीता में ज्ञानमार्ग को हेय दृष्टि से तो देखा ही नहीं गया है,[37] वरन् ब्रह्मप्राप्ति को योगियों के लिए चरम एवं परमगति के रूप में व्यक्त किया गया है।[38] यहाँ तक कि 'पुरूषोत्तम' का श्रेष्ठत्व सर्वोपरि होने पर भी, श्री कृष्ण ने स्वयं अर्जुन को सर्वभूत की अन्तरात्मा ईश्वर के शरण में जाने के लिए उपदेश दिया है—

"ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति
तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत।"[39]

किन्तु ज्ञानयोग का मार्ग अति दुर्गम है, क्योंकि देहधारियों के लिए देहात्मबोध को दूर करना तथा निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करना अत्यन्त कष्टसाध्य है।[40] यही कारण है कि, गीता ने अंत में पुरूषोत्तम रूपधारी भगवान् में सभी कर्मों का न्यास या समर्पण कर, अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा उनके शरण में आने का उपदेश दिया है।[42] अत: 'अक्षर' से 'पुरूषोत्तम' को श्रेष्ठ सिद्ध करनेवाले श्लोक[35] को प्रक्षिप्त न मानकर, रचित भक्तियोग के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने के उद्देश्य से उसकी रचना हुई है[43] (जिस प्रकार अन्य श्लोकों में ज्ञान, कर्म, राजयोग का श्रेष्ठत्व वर्णित है), इस प्रकार से समझने पर विरोध का कोई कारण ही नहीं होगा। प्रथम अध्याय में ही कहा गया है कि हिन्दू धर्म के भित्तिस्वरूप 'अधिकारवाद' की विस्मृति

37. गी० (६/१७)-'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त···प्रिय:'; (१३/३०)–'यदा··· ब्रह्म सम्पद्यते तदा'।
38. गी० (१८/५०-५३)–'सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति···ब्रह्मभूयाय कल्पते'।
39. गी० (१८/६१-६२)।
40. गी० (१२/५)–'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्···'।
41. गी० (१४/२६)-'मांच योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते···कल्पते'।
42. गी० (१२/६-८)-'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य···न संशय:'।
43. यथा गी० (४/३८-३९)।

के कारण हिन्दू धर्म में अनेक वाद विवादों की सृष्टि हुई है। पूर्व संस्कार तथा प्रवृत्ति के स्तरभेद के कारण[11] विभिन्न योग एवं मार्गों का संधान इस धर्म में है। लेकिन पथ अथवा मार्ग का चुनाव केवलमात्र आध्यात्मिक अभियान में यात्रारंभ के समय ही करना आवश्यक एवं संभव है। एक बार अभिज्ञ गुरू की सहायता से यह चुनाव सम्पन्न हो जाने के बाद पूर्ण निष्ठा के साथ उस मार्ग की निर्देशावली का अनुसरण करते हुए चलना होगा। अन्यथा यह क्षणिक जीवन मार्ग की खोज में ही समाप्त हो जाएगा। इसी हेतु यह सतक वाणी बार-बार प्रतिध्वनित हुई है कि, 'संशयग्रस्त आत्मा' का विनाश होगा।[45]

किन्तु पुरूषोत्तम के श्रेष्ठत्व वाले श्लोक[35] को यदि वेदान्त की ब्रह्मविरोधी कोई व्याख्या दी गई, तो फिर वेद ही प्रामाण्य होगा, यह पहले अध्याय में ही स्पष्टत: कहा गया है। लेकिन हमारे मतानुसार साधारण मनुष्य को इतनी दूर जाने की अथवा किसी प्रकार के कूट तर्क-वितर्क में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। कारण, इस तर्क के योग्य बनने में ही हमारे अनेक जन्म बीत जाएँगे। अत: अभी हमें हिन्दू धर्म के इस सारमर्म पर ही अपनी दृष्टि को केंद्रित करना होगा—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।[46]

यह स्वयं गीता में अंकित है[47] कि पुरूषोत्तम को आश्रय मानकर आगे बढ़ने पर भी परिणाम में उसी ब्रह्म के पास ही पहुंचना होगा, क्योंकि सनातन परमपुरुष और अन्तर्यामी दोनों ही ब्रह्म की अनु-

44. कथा० (१/६८)।
45. गी० (४/४१)-'अज्ञश्च···संशयात्मन:'।
46. वृ० (४/४/६) ; नृ० (१/५/३,५,८)।
47. गी० (७/२९)-'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य···चाखिलम्': (८/९-१३) कविं पुराणम्···स याति परमां गतिम्' ; (८/२१)-'अव्यक्तोऽक्षर··· परमं मम'।

कृति हैं[48], कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। केवलमात्र इसी सारतत्व का ज्ञान हो जाने पर ही हिन्दू धर्म के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों के मतविरोधों और वितर्कों का भार अधिकांशतः दूर हो जाएगा। यदि हम हिन्दू धर्म को पुनर्जाग्रत कर, इस शतधा विपर्यस्त (अनेक वर्षों से समाप्त हो रही) हिन्दूजाति को एकत्रित करना चाहते हैं, तो फिर सर्वप्रथम आवश्यकता है 'तैलाधार पात्र अथवा पात्राधार तैल' इस प्रकार तर्क की मनोवृत्ति को दूर करना तथा हिन्दू धर्म के मूलतत्वों को केवल हृदयगम ही नहीं वरन् कंठस्थ भी करना, जिससे किसी भी प्रकार का शुष्क तर्क हमें राजपथ से विच्युत कर अंधकार गह्वर में नहीं ले जा सके। इस विषय की गंभीरता को ध्यान में रख कर, इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में पाठकों का ध्यान उसी ओर आकर्षित किया गया है।

ईश्वर के सर्वव्यापकत्व के सिद्धान्त से हिन्दूधर्म के अन्दर अनेक अनुसिद्धान्त उत्पन्न हुए हैं।

मधुमय धरणी की धूलि :

पहला है, सृष्टि का सौन्दर्य और माधुर्य की उपलब्धि। जो हिन्दूधर्म सांसारिकता को सभी सुखों-दुखों का मूल कह कर उसके प्रति अनासक्ति एवं त्याग की शिक्षा देता है, वही हिन्दूधर्म फिर इस पृथ्वी और तदन्तर्गत अनित्य विषय को मधुर कहकर प्रचारित करता है ; यह कुछ विस्मयकारक प्रतीत होता है।

---

48. गी० (८/३-४)-'अक्षरं ब्रह्म परमं देहभृतां वर' ; (८/१८-२०-'अव्यक्ताद्व्यक्तय:···सनातन:···' ; (११/४७)-'···त्वमक्षरं तत्परं यत्' ; (१४/१२)-'···अनादि मत्परं ब्रह्म···' ; (१४/२७)-'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्···' ; (१५/१५)-'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो···वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो···'।

लेकिन हिन्दू धर्म पृथ्वी को भोग्यवस्तु के रूप में सुन्दर नहीं कहता, वरन् इसे आनंदमय अमृतमय परमेश्वर के अधिष्ठान रूप में मधुर कहता है।[49] यह जड़ की उपासना नहीं ; ईश्वर-सृष्ट प्रत्येक वस्तु में ही ईश्वर विराजमान हैं इस बोध से अनेक रूपों के मध्य 'अनल अनिल में, नील गगन में' उसी अरूप को देखना ही सौभाग्य है।[50] भाग्यवान द्रष्टा इस दिखलाई पड़ने वाले सूर्य-चन्द्र-ग्रहों और तारों को नहीं, लता-गुल्म, महीरूह को नहीं ; वरन् उस स्रष्टा को वंदना करते हैं जो अनेक रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त कर उन्हीं में अनुस्युत या अवस्थित हैं।[51]

भगवान् आनंद के उद्गम स्थल हैं, जो कुछ भी सृष्ट हुआ है वह सब उसी निखिल आनंद का प्रकाश है और वे स्वयं इसमें विद्यमान हैं[49] ; इस प्रकार का ज्ञान जिसे हुआ है उसके समक्ष सब कुछ मधुर प्रतीत होता है। फिर भी केवल उस। रस में पूर्णतः डूब जाने की शिक्षा हिन्दू धर्म नहीं देता, क्योंकि इस सुन्दर सृष्टि से उसके स्रष्टा का सौन्दर्य और भी अनुपम है। संसार उन्हीं के द्वारा सृष्ट होने पर भी इसके सभी सुख सीमित तथा क्षणमात्र के लिए स्थायी हैं, एकमात्र सृष्टिकर्ता ही असीम आनंद एवं अमृत के अधिकारी हैं।[51] इसलिए हिन्दू मतानुसार, मानव जीवन का उद्देश्य —अबाध रूप से विषयों का भोग नहीं[52] ; बल्कि अनंत आनंद के उत्स से उत्पन्न होने के कारण, उस अमृतमय की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। हिन्दू धर्म इस प्रकार की शिक्षा देता है।

49. बृ० (२/५/१)-'इयं पृथ्वी···अमृतमयः पुरुषः'।
50. भा० (११/२/४१)-खं वायुमग्निं सलिलं महींच···हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः'।
51. मु० (२/२/७)-'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' ; तै० (२/७)-'रसो वै सः' ; (४/६)-'आनन्दाद्धेव···जीवन्ति···'।
52. क० (१/२/६)-'न साम्परायः ···मूढम्'।

सांसारिक जीवन में भोग के रहने पर भी उसे ईश्वर प्रदत्त मानकर स्वार्थ की भावना त्याग कर विषय उपभोग की शिक्षा देता है।[53] हमारे अनेक समालोचक नहीं जानते हैं कि, हिन्दू धर्म ने सभी को सन्यास ग्रहण करने के लिए नहीं कहा। जो संसारिक होकर सौ वर्षों तक जीने की अभिलाषा रखते हैं[54] उन्हें भी हिन्दू धर्म त्याज्य नहीं समझता, मात्र इतना ही कहता है कि, 'सृष्टि को पाकर स्रष्टा को मत भूलो' ; अमृत कलश स्वर्ण पत्र से आवृत है, अज्ञानतावश वाह्य आवरण पर मुग्ध होकर अमृत के आस्वादन से स्वय को वंचित मत करो।[55] भूमा ही एकमात्र अमृत है।[56]

आत्मदर्शन :

पृथ्वी या मानवजन्म दुःखों का आगार होने के कारण हिन्दू धर्म ने उसे घृणा के साथ त्याग देने के लिए नहीं कहा है। परंतु यह कहा है, कि इन दुःखों का एकमात्र कारण यही है कि, पार्थिव उपकरणों से जिस सुख की प्राप्ति होती है वह स्वल्प एवं अनित्य है।[56] अतः शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए, जो सभी सुखों के उत्स हैं, पार्थिव वस्तुओं के स्रष्टा हैं, उसी भूमा या असीम का संधान करना होगा[56]। किन्तु उसके लिए वैराग्य धारण कर कल्पना-लोक में विचरण करने की आवश्यकता नहीं ; क्योंकि बार-बार कहा गया है कि, स्रष्टा स्वयं की सृष्टि के प्रत्येक कण में विराजमान हैं और इसीलिए वे प्रत्येक व्यक्ति के अन्तः में विराजमान रहते हैं। केवलमात्र अज्ञानता के कारण

53. ई० (१)-'ईशावास्यम्···भुंजीथाः...'।
54. ई० (२)- 'कुर्व्वन्नेवेह···नरे,।
55. ई० (१५)-'हिरण्मयेन पात्रेण···दृष्टये'।
56. छा० (७/२३/१)-'···यो वै भूमा···विजिज्ञासितव्य' ; (७/२४/१)-यो वै भूमा तदमृतम्···'।

ही हम उन्हें देख नहीं पाते। अतएव पृथ्वी और मानव जीवन को शाश्वत रूप से सुखमय बनाने का एकमात्र उपाय है— अज्ञानता की यवनिका को हटाकर, सर्वभूत तथा स्वयं के हृदय में अवस्थित उस अमृतमय पुरूष की उपलब्धि या उनका 'दर्शन' करना।[57-58] यही हिन्दू धर्म के मतानुसार मानव जीवन का लक्ष्य है और मनुष्य जीवन प्राप्त होने पर ही उस अमृतमय का संधान किया जा सकता है [क्योंकि पशुओं में चेतना या आत्म-बोध का अभाव होता है।] इन्हीं कारणों से ही इस पृथ्वी तथा मनुष्यजीवन की महत्ता है।

परमात्मा एवं जीवात्मा का अभेदत्व :

हिन्दू धर्म का दूसरा अनुसिद्धान्त है, परमात्मा तथा जीवात्मा का अभेदत्व या एकात्मता। वही परमात्मा जब भिन्न भिन्न प्रकार के देह की सृष्टि कर उनमें जीवात्मा के रूप में अधिष्ठित हो गए है ;[59] तब प्रत्येक जीव की आत्मा-परमात्मा से स्वरूपतः ही अभिन्न है ;[60] इसकी व्याख्या अन्य अध्यायों में दी जाएगी।

57-58. ई० (५/६)-'तदेजति···विजुगुप्सते' ; (१६)-यत् ते रूपं··· सोऽहमस्मि' ; श्वे० (२/१४)-'...तदात्मतत्व···वीतशोकः' ; (३/१०)- 'ततो···दुःखमेवापियन्ति' ; (३/१३)-'···जनानां हृदये सन्निविष्टः अमृतास्ते भवन्ति' ; (४/१२)-'या···शान्तिमत्यन्तमेति' ; क० (२/२/ १२-१३)'···तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति···'।

59. कौ० (३/१४/१)-'स च प्रति शरीरम् अभिन्न एवं' ; (३/१४/३)- 'त्वमेकोऽपि वहुतनुप्रविष्टः'।

60. मा० (२)-'अयमात्मा ब्रह्म' ; ऐ० (१/३/१३)-'···स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ···' ; क० (२/२/१२)-'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' : श्वे० (६/११) -'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः···' ; (४/६-७)-द्वा सुपर्णा···वीतशोकः'।

विश्व भ्रातृत्व का बोध :

तृतीयत: हिन्दु धर्म के मतानुसार ईश्वर की सार्वजनीनता के ऊपर ही विश्वभ्रातृत्वबोध (विश्वबन्धुत्व की भावना) प्रतिष्ठित है। जिसे यह उपलब्धि हुई है कि, ईश्वर सर्वभूत में विराजमान हैं, उसके अन्तर में जो आत्मा है, वही एक ही आत्मा अन्य सबों के अंतर में भी अधिष्ठित है ; उसके मनमें किसी भी जीव के प्रति हिंसा[61], द्वेष[62], इत्यादि कुछ भी नहीं रह सकता। क्योंकि एक ही आत्मा सबों के मध्य अवस्थित है, इसकी उपलब्धि होने पर, दूसरों से ईर्ष्या करने पर स्वयं से ही ईर्ष्या होती है।[61]

विधर्मी समालोचकों में कुछ लोग कहते हैं कि, हिन्दूधर्म में मानवप्रेम की वाणी सारहीन है, क्योंकि व्यक्तिगत मोक्षप्राप्ति ही हिन्दुओं का लक्ष्य है ; इसमें समदर्शिता का भाव केवल विलास मात्र है, हिन्दू धर्म में दु:खी एवं दीनहीनों की सेवा के लिए किसी प्रकार के कर्त्तव्य की बात नहीं कही गई है—परोपकार में जीवन को उत्सर्ग करने की प्रेरणादायक वाणी हिन्दू धर्म में नहीं है। लेकिन यह अभियोग मात्र पूर्णतया असत्य ही नहीं है, बल्कि अन्य धर्मों के विश्वप्रेम के मतवाद से हिन्दू धर्म की वाणी कहीं अधिक सम्प्रसारित तथा उन्नत है।[63]

सर्वप्रथम, दूसरे अनेक धर्मों के मतानुसार विश्वप्रेम उनके स्वयं के धर्मावलंबी सम्प्रदाय के अनुयायियों के मध्य ही सीमाबद्ध है ; क्योंकि वे समझते हैं कि, एकमात्र उनका धर्म ही सत्य एवं शाश्वत

---

61. गी० (१३/२७-२८)-'समं सर्वेषु भूतेषु परां गतिम्'।
62. ई० (६/७)-'यस्तु सर्वाणि भूतानि···विजुगुप्सते···एकत्वमनुपश्यत:'।
63. इस प्रसंग की विस्तृत आलोचना शेष अध्याय 'शिवज्ञान से जीवसेवा' में की जाएगी।

है, वे ही ईश्वर की प्रिय संतान हैं—दूसरे धर्म के मतावलंबी दु:खमय नर्क के अधिकारी हैं।[64]

---

64. ईसाई धर्म का यह मौलिक तथ्य बाइबिल के, विभिन्न प्रवक्ताओं की उक्तियों में प्रकटित हुआ है, उदाहरणार्थ—
Isaiah (45. 12-22) —"...there is no God else beside me. Look unto me, and be ye saved.. " , II Timothy (3.15)—"...the holy scriptures, which are able to make thee wise unto salvation through faith which is in Christ Jesus" , John (14-6) —"...No man cometh unto the father, but by me" , (3, 36) —"He that believeth on the Son hath everlasting life and he that believeth not the Son shall not sәe life . but the wrath of God abideth on him" , III Thessalonians (1.8.9)-"Inflaming fire taking Vengeance on them...that obey not the gospel of our Lord Jesus Christ : Who shall be punished with everlasting destruction...",
इसी अनुरूप, इस्लाम का केन्द्रीय मतवाद है कि, हजरत मोहम्मद ही ईश्वर प्रेरित पुरुष हैं ('रसूल'-कुरान (८सू. आ. २० र.३), अतएव ईश्वर की प्राप्ति के लिए मोहम्मद का अनुसरण अनिवार्य है [कुरान (३ आ. ए. ३२, ३३ र. ४. ; ४र. सू. ने. ८० र. ११]। जो व्यक्ति पैगम्बर रसूल को नहीं मानता, वह 'काफिर' या अविश्वासी है [कुरान (४ सू. ने. १३६-१४६ र. २० ; ४६ सू. १५)]। इन काफिरों के लिए ईश्वर ने अत्यन्त कठोर दण्ड निर्धारित कर रखा है [कुरान २सू. व. ८६ र. ११ (४ सू. ने. १४७-४८, र. २१) सू. ८ ; आ. १३-१४] ; एकमात्र रसूल में विश्वासी ही परित्राण पाएंगे [कुरान, २सू. व. २-५, र. १ ; ४ सू. ने. १४६ र. २१] ; काफिरों की अंतिम गति नरक की प्राप्ति है [कुरान-(४ सू. ने. १३६-३७ र. २० ; ७८ सू. आ. १७-२५ ; ६८ सू. आ. ६ ; २२ सू. आ. १६-२२)], और वे निष्ठुरता पूर्वक वध करने के योग्य हैं (६६-सू. आ. ३०-३२, ३६), अतः इस प्रकार के काफिरों की हत्या करने वालों को स्वर्ग की प्राप्ति होगी [सू. २ आ. ४-७, ८६ , ६८ ; सू. ४, आ. ६१-६२, सू. ८। आ. ७, ६ १२ ; सू. ६, आ. १०३, १११ ; १२३, १२६, सू. १७, आ, ८, १३, १७ ; सू. २५, आ. २५, ५२, ७०, ७१, सू. ४७, आ. ४, १३, १५ ; सू. ६६/६]।

दूसरी तरफ, हिन्दू धर्म के मतानुसार जिसप्रकार ईश्वर ने हिन्दुओं की सृष्टि की है, उसी प्रकार ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन सभी के परमपिता हैं[65] और सभी के मध्य वे विद्यमान हैं। इसप्रकार कोई भी जाति या सम्प्रदाय उनका अधिकतम प्रिय या कोई उनके लिए त्याज्य है, इस तरह सोचना अकारण ही होगा।

अविश्वासियों के साथ नियत रूप से युद्ध करने का निर्देश दिए हैं [९ सू. आ. १४, ७३ ; ४७ सू. आ.४८ सू. आ. १२]। कुरान को नहीं मानने पर भी ध्वंस होगा [सू ६८, आ. ४४ सू. ४५, आ. ११]। 'अविश्वासी' का तात्पर्य मात्र मूर्तिपूजक या वहुदेववादी ही नहीं वरन् इसमें यहूदियों और ईसाइयों को भी अन्तर्भुक्त किया गया है [२१ सू. आ. ५२, ५७-५८ ; ५ सू. आ. १७-१८ , ५१]। अत: मुसलमान के अतिरिक्त सभी मनुष्य काफिर हैं और वे हत्या कर देने योग्य हैं।

कुछ मुसलमान सुरा ९ के उक्तियों का निर्देश देकर कहते हैं कि, कुरान का जेहाद समस्त भिन्न धर्म वालों तथा मूर्तिपूजकों के विरुद्ध नहीं है, केवल मात्र जिन सभी अरबवासिओं ने संधि भग कर मोहम्मद के विरुद्ध युद्ध किया था उन्हीं के विरुद्ध है। यह व्याख्या सत्य होने पर, विश्ववासिओं के निकट एक हजार पांच सौ वर्ष बाद भी इस्लाम आग्रासी धर्म के रूप में परिगणित नहीं होता। प्रकृत रूप से, गजनी के महमुद से लेकर आज तक जिन्होंनें हिन्दू मंदिरों को कलुषित किया है, तथा विग्रह ध्वंसादि कार्य किए जा रहे हैं, उन्होंनें अपने दुष्कृत्यों के समर्थन में कुरान के असंख्य आयतों (जिनका इस प्रसंग में उल्लेख किया हूं) की दुहाई देकर इस्लाम-धर्मीय पूण्यकार्य के रूप में प्रचारित किया है। यदि वर्तमान समय के प्रगतिशील मुसलमान इन सब कार्यों का समर्थन नहीं करते तो उनके लिए उचित होगा कि, इतिहास के पन्नों से इन सब लज्जाजनक घटनाओं को निकालने के लिए आन्दोलन न कर, ये सब हिंसात्मक और अमानुषिक कार्य कुरान के द्वारा अनुमोदित नहीं हैं, ऐसा प्रचारित करें ; इससे इस्लाम की प्रकृत मर्यादा तथा भारतीय एकता एवं शान्ति, दोनों ही एकसाथ प्रतिष्ठित होंगी।

65. गी. (११/४३)-'पितासि लोकस्य चराचरस्य'।

गीता में स्वयं भगवान् की वाणी में इसे स्पष्ट रूप से कहा गया है—

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' ।[66]

वृहदारण्यक उपनिषद् में, जहाँ मनुष्य को 'सर्वभूतों के मध्य मधु' कहा गया है, वहाँ पर 'मनुष्य' कहकर जाति-धर्म की सीमाओं से परे सम्पूर्ण मानव जाति को ही निर्देशित किया गया है। यह मनुष्य जाति मधुमय है, कारण मधुमय अमृतमय पुरूष[67] प्रत्येक मानव संतान के शरीर में अवस्थित हैं—वे परमपिता किसी विशेष-धर्म मत को देख किसी के अनुकूल या प्रतिकूल पक्षपात नहीं करते।

अतएव परधर्मसहिष्णुता मात्र एक संस्तुति ही नहीं वरन् यह हिन्दू धर्म का एक स्तंभ स्वरूप है। और इसी कारण से, दूसरे धर्मों का विनाश हो, या मुक्तिप्राप्ति के लिए अन्य धर्मावलंबियों को हिन्दू धर्म ही ग्रहण करना होगा, इस प्रकार का कथन हिन्दू धर्म में कहीं भी नहीं है। मात्र इतना ही नहीं निष्ठा के साथ अन्य मतवादों में उपासना करने पर भी उसी एक लक्ष्य पर ही पहुँच सकते हैं,[68] यह हिन्दू धर्म का एक मूल तत्व है। यदि सभी एक ही पिता की सन्तान हैं[66-69] एवं सभी के मध्य एक ही परमात्मा विराजमान हैं, तो फिर किसी एक जाति अथवा सम्प्रदाय विशेष के धर्म को सर्वोत्तम धर्म कहकर प्रचार करने जैसी युक्तिहीनता सत्यद्रष्टा ऋषियों की दृष्टि को कभी भी भ्रमित नहीं कर पाई।

द्वितीयतः हिन्दू धर्म के अनुसार दुःखी मनुष्यों के लिए तथा जगत-कल्याण हेतु करने योग्य कुछ भी नहीं है, यह बात सत्य नहीं

---

66. गी. (६/२९)।
67. वृ. (२/५/१३)-'इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मधु···'।
68. गी. (४/११)-'ये यथा मां प्रपद्यन्ते···सर्वशः।
69. गी. (९/१७)-'पिताहमस्य जगतः···'।

है। वस्तुतः सभी जीवों की सेवा हिन्दू धर्म का प्रथम एवं अन्तिम सोपान है।

सर्वजीव सेवा :

ईश्वर तत्व का वर्ण परिचय, ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र में ही है, किसी वस्तु का उपभोग करने के पूर्व दूसरों के लिए त्याग का निर्देश दिया गया है।[70] इसी निर्देश को विस्तृत कर गीता में कहा गया है कि, जो व्यक्ति मात्र स्वयं के उदरपूर्ति के लिए भोजन प्रस्तुत करता है, वह पापराशि का ही भक्षण करता है, दूसरी तरफ जो व्यक्ति देवमानवादि को अन्नप्रदान रूप यज्ञ कर उस यज्ञ के अवशिष्ट अंश के द्वारा स्वयं की प्राणरक्षा करता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[71] इस एक ही वक्तव्य की पुनरावृत्ति करते हुए मनु[72] ने कहा है कि, गृहस्थ को प्रतिदिन दूसरे को भोजन कराकर, कुछ अवशिष्ट बच जाने पर, उसे ही अमृत जानकर स्वयं की प्राणरक्षा हेतु ग्रहण करना चाहिए।

यह मात्र नीति की बात नहीं है, यह हिन्दू धर्म के श्रेष्ठ आदर्शों में से एक है। पंचयज्ञों में 'नृ-यज्ञ' अर्थात् मनुष्यों की सेवा अन्यतम है। इसीलिए मनुष्य सेवा को नर-सेवा नहीं कह कर 'नर-नारायण सेवा' कहा गया है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में नारायण के अधिष्ठित होने के कारण उसी बोध से उनकी सेवा करना उचित है।

किसी-किसी की धारणा है कि जिसप्रकार ईसा मसीह ने कहा

---

70. ई. (१/१)-'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'।
71. गी. (३/१३)-'यज्ञाशिष्टाशिनः···पचन्त्यात्मकारणात्'; (४/३१)-'यज्ञाशिष्टामृतभुजो···सनातनम्'।
72. मनु. (३/१/१८)-'अघं स केवलं··· पचंत्यात्मकारणात्'।

था—जैसे स्वयं से प्रेम करते हो वैसे ही अन्यों से भी प्रेम करो[73] —हिन्दू धर्म ने इस प्रकार नहीं कहा है। परतु 'दूसरों से भी प्रेम करो' मात्र इतना ही कहकर हिन्दू धर्म चुप नहीं हुआ, वरन् 'क्यों-प्रेम करेंगे' इसकी भी व्याख्या करते हुए उसने कहा कि, यही श्रेष्ठ उपासना है। यह व्याख्या ईसाई धर्म या अन्य धर्मों में इतने उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित नहीं की गयी है, इसे पाश्चात्य मनीषियों ने भी स्वीकार किया है।[74] वह व्याख्या यही है कि, भगवान् जगत् की सृष्टि कर प्रत्येक जीव के अन्तर में प्रविष्ट हुए, इसलिए नरसमाज में भगवान के जीवन्त विग्रह की उपेक्षा कर, मदिर, गीर्जा में अव्यक्त, अदृश्य भगवान की खोज विडम्बना मात्र ही है।[75]

श्रीमद्भागवत् में इसका विस्तार पूर्वक विश्लेषण किया गया है—

'अह सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थित: सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरूतेऽर्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु संतमात्मानमीश्वरम्।
हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति स॥[75]

---

73. Mathew (22-39) -'Thou shall love thy neighbour as thyself . also Luke (10. 27). Mark (12. 31) .

74. Dr. Paul Deussen, The Philosophy of the Upanishads (1906), P. 49 : "The Gospels fix quite correctly as the highest morality 'Love your neighbour as yourself. But why should I do so, since by the order of nature, I feel pain and pleasure only in myself and not in my neighbour ? The answer is not the Bible, but it is in the Vedas—in the great formula-"That thou art ('तत्-त्वम्-असि') which gives in three words metaphysics and morals together".

75. भा. (३/२९/२१-२२)-।

अन्यत्र, भगवान की सृष्टि की अवज्ञा कर निर्जन में व्यक्तिगत मुक्ति के लिए तपस्या की व्यर्थता के विषय में भी कहा गया है।[76]

इसी महावाक्य की प्रतिध्वनि कर स्वामी विवेकानंद ने मात्र कुछ समय पूर्व कहा था—

"बहुरूपों में सम्मुख तेरे छोड़ कहां तू खोजे ईश्वर।
जीव-प्रेम करते हैं जो जन, वह जन सेव रहे हैं ईश्वर ॥"

वस्तुत: ईश्वर के इसी सर्वव्यापकत्व की नींव पर हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता का श्रेष्ठ सोपान प्रतिष्ठित हुआ है। यह नितान्त आक्षेप का विषय है कि, हिन्दू धर्म की चरम उदारता और उत्कर्ष के तत्व को कुछ विदेशी समालोचक समझ पाने में असमर्थ हुए हैं।

सर्वभूत में समदर्शन :

वस्तुत: इस विषय में अन्य धर्म जिस सीमा तक गए हैं, हिन्दू धर्म उनकी अपेक्षा बहुत दूर तक पहुँच गया है ; यहां तक कि विश्वप्रेम की शेष सीमा तक कल्याण तथा प्रेम की वाणी को सम्प्रसारित किया है। ईश्वर यदि सर्वत्र विराजमान हैं और स्थावर जंगम सभी वस्तुओं में अधिष्ठित हैं[76क], तो फिर केवल मानव के बीच ही नहीं वरन् ईश्वर सृष्ट जड़ या प्राणी[76ख] किसी के भी बीच भेद या वैषम्यमूलक दृष्टि या आचरण करना शोभा नहीं देता। मात्र यही नहीं, चूँकि वही एक ही आत्मा हमारे तथा दूसरों के मध्य विराजमान है, इसलिए हम स्वयं से जिसप्रकार प्रेम करते हैं

76. भा. (७/६/४४)-'प्रायेण···भ्रमतोऽनुपस्ये'।
क) गी. (१०/२०)-'सर्वभूताशयस्थित:' ; (१३/१७)-'हृदि सर्वस्याधिष्ठितम्'।
ख) गी. (५/१८)-'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी···समदर्शिनः ; (१८/५४)-'समः सर्वेषु भूतेषु'।

उसी प्रकार दूसरों को उसी दृष्टि से देखने के लिए बाध्य हैं।[76ग] इसके फलस्वरूप, दूसरों का दुःख हमारा स्वयं का दुःख और दूसरों का सुख भी हमारा अपना ही सुख है।[76घ] योगियों का स्वय का कोई सुख अथवा दुःख नहीं होता[76ङ] सभी के सुखों की कामना करना तथा सभी का कल्याण साधन करना ही श्रेष्ठ धर्म है।[77] जो आचार एवं व्यवहार से समदर्शी हैं, वे ही योग के द्वारा सर्वत्र ब्रह्म दर्शन में समर्थ होते हैं।[78] साधक-जीवन के परिणत स्तर में, मोक्ष लाभ के लिए मंदिर में जाने की आवश्यकता नहीं है, सर्वभूत में समदर्शन और सर्वत्र ब्रह्म दशन ही हिन्दू धर्म का उन्नतम सोपान है।[79] पूजापाठ और सभी प्रकार की साधना सर्वत्र ब्रह्मदर्शन की अवस्था को प्राप्त करने का अवलंबन या प्रस्तुतिमात्र है। क्योंकि विश्वप्रेम किसी भी मतवाद के द्वारा नहीं साधा जा सकता, यहां तक कि धार्मिक अनुशासन के द्वारा भी इसकी सृष्टि नहीं की जा सकती ; हिन्दू धर्म ने इसकी आध्यात्मिक व्याख्या की है और इसे ही धर्म का सारतत्व कहकर बार-बार इसका उल्लेख किया है।

इस समदर्शन में शत्रु-मित्र, घातक-रक्षक के मध्य भेद नहीं। पितृपक्ष में तर्पण करते समय हम किसकी मुक्ति की कामना करते हैं, इसे जो नहीं जानते, वे जानते ही आश्चर्यचकित

ग) ई. (६)-'यस्तु सर्वाणि···विजुगुप्सते'।

घ) गी. (६/३२)-'आत्मौपम्येन सर्वत्र समः पश्यति···परमो मतः'।

ङ) गी. (२२/१५)-'···समदुःखसुखः···'।

77. गी. (५/२५)-'···लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्···सर्वभूतहिते रताः'।

78. गी. (६/२९)-'सर्वभूतस्थमात्मानं···समदर्शनः'।

79. के. (२/५)-'···भूतेषु भूतेषु···अमृता भवन्ति'; गी. (५/७)-सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते'; (५/१९)-'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः···'; (६/३०-३१)-'···यो मां पश्यति सर्वत्र···मयि वर्त्तते'।

हो जायेंगे। इतना विराट उच्चभाव अन्य किसी देश या जाति ने प्रचारित किया हो, ऐसा नहीं देखा गया।—

'ॐ देवा यक्षास्तथा नागा: गन्धर्वाप्सरसोऽसुरा: ।
क्रूरा: सर्पा: सुपर्णाश्च तरवो जिह्मगा: खगा: ॥
विद्याधरा जलाधारास्तथैवाकाशगामिन: ।
निराहाराश्च ये जीवा: पापेऽधर्मे रताश्च ये ।
तेषामाप्यायनार्थैतद्दीयते सलिलं मया ॥···
ॐ येऽबान्धवा बान्धवा येऽन्यजन्मनि बान्धवा: ।
ते तृप्तिमखिलां यांतु ये चास्मत्तोयकांक्षिण: ॥
ॐ आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षि-पितृमानवा: ।
मया दत्तेन तोयेन तृप्यंतु भुवनत्रयम् ॥
आब्रह्मस्तंबपर्यन्तं जगत् तृप्यतु ॥'

इस तर्पण मंत्र का सार अर्थ यही है कि, चूँकि सृष्टिकर्ता से लेकर तृण एवं गुल्म-लता सभी एक ही आत्मा हैं, इसीलिए अपने पितृकुल की आत्मा की परितृप्ति के लिए जलोत्सर्ग के प्रारंभ में ही तीनों लोकों के जीव तथा जड़ सभी की तृप्ति के लिए जल दान किया। पाप से आसक्त या जो पूर्वजन्म में हमारे शत्रु अथवा आततायी थे, उनकी आत्मा या सरीसृप आदि हिंसक प्राणियों की आत्मा भी अवहेलित नहीं रहेगी।

यह मंत्र विश्व प्रेम का शुष्क प्रबंधमात्र नहीं है, यह तो धर्मीय अनुशीलन की पराकाष्ठा है।

यह जो सर्वत्र ब्रह्म दर्शन या सर्वभूत में समदर्शन है, यही हिंदू धर्म के मतानुसार आध्यात्मिकता का चरम सोपान है ; इससे ही मोक्ष,[79] इससे ही ब्रह्म प्राप्ति[80] सब होगी। ज्ञानयोग, कर्म-

80. गी. (१३/३०)-'यदा भूतपृथग् भावमेकस्थमनुपश्यति ब्रह्म सम्पद्यते तदा'।

योग या भक्तियोग,[81]-[82] जिस मार्ग का अवलंबन ही क्यों न करें, जबतक जीव में शिव का एकात्मबोध अर्जित नहीं कर सकेंगे तबतक सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरी ओर, जो लोग सर्वभूत में ब्रह्म या परमात्मा का दर्शन करने में समर्थ हैं, वे लोग मनुष्य शरीर में ही 'अमृत'[79] या जीवन मुक्त हो जाते हैं। वे लोग इस मरणशील संसार में ही सांसारिकता के बंधनों को तोड़ कर ब्रह्मत्व को प्राप्त करते हैं या ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करते हैं[70]।

आत्मज्ञान और समदर्शन पृथक पाठ्य नहीं हैं।[78] दोनों का मूल ध्येय ईश्वर के सर्वव्यापकत्व तथा अन्तर्यामीत्व की उपलब्धि करना है। एकबार यह चरम ज्ञान हो जाने पर, स्वयं में तथा सबके अन्तर में उसी एक ही ईश्वर की अनुभूति होगी।[32] सेवा में भी विभिन्न प्रकार के स्वार्थ निहित रह सकते हैं; कोई पुण्य के लिए अर्थात् अनेक प्रकार के दुष्कर्मों के प्रायश्चित्त के रूप में, कोई यश के लिए, कोई पारिवारिक सुख के लिए, दूसरों की सेवा करते हैं। लेकिन सेवा के द्वारा भूमा की उपलब्धि करने के लिए, सम्पूर्ण रूप से निःस्वार्थ भाव से, एवं सभी जीवों में ही वही भूमा प्रतिष्ठित हैं इस बोध के साथ, सेवा करनी होगी। यही हिंदू संन्यासियों की सेवा, योगियों की सेवा है, यहाँ कामना और वासना का भाव लेश मात्र भी नहीं है, स्वर्गप्राप्ति की कामना भी नहीं है, —स्वयं के व्यक्तित्व अथवा 'अहं' को मिटा कर समष्टिगत निखिल आत्मा के साथ एकात्मबोध की भावना से उस परमात्मा की सेवा है।[81]

पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दूजीवन का एकमात्र लक्ष्य है ब्रह्मप्राप्ति, जिसके लिए आवश्यक है, ब्रह्म के समान पूर्ण सत्ता

81. गी. (४/३५)-'···येन भूतान्यशोषाणि द्रक्षस्यात्मन्यथो मयि' : (१२/४)-'सर्वत्र समबुद्धयः सर्वभूतहिते रताः'। [इसीलिए शंकराचार्य अन्नपूर्णास्तोत्र में कहते हैं—'···स्वदेशो भुवनत्रयम्']।

में स्वयं को उन्नीत करना (संक्षेप में, जिसे ब्रह्म सायुज्य' कहा जाता है)। और इस प्रगति के दो पथ हैं—आत्मदर्शन एवं समदर्शन।[82-83] हिन्दूधर्म के मतानुसार लोक सेवा एक सामाजिक कार्य या सुकृति अर्जन का उपाय मात्र नहीं है ; यह अपनी आत्मा की मुक्ति के उपायों में से अन्यतम है। और इसीलिए ब्रह्मोपासना के लिये इन्द्रिय नियंत्रण, समबुद्धि एवं सर्वभूत हित साधन, सब एक साथ निर्देशित किया गया है।[84]

संक्षेप में कहने पर, "अहं ब्रह्मास्मि"[85] या 'अयमात्मा ब्रह्म'[86] और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[87] ये दोनों प्रकार की उपलब्धियां एक साथ, होने पर[88] तथा इसके अनुकूल जीव सेवा करने पर ही लक्ष्य तक पहुँचना संभव होगा—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।[89]

---

82. गी. (३/३) 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ···' ; (११/५५) 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' ; (१३/२७-२६) 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्···परां गतिम् ; (१८ ५४) समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' ; (१८/६७) 'न चाशुश्रूषवे वाच्यं···' ; कै. (२०) 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि···'।
83. श्वे. (२/१५)-'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं···'।
84. गी. (१२/३-४) 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं...रताः' ; (५/७) 'योगयुक्तो ···सर्वभूतात्मभूतात्मा···न लिप्यते' ; (५/१०) 'इहैव···स्थिताः' : (५/१६) 'लभन्ते···सर्वभूतहिते रताः' ; (६/२६-३१) 'सर्वभूतस्थमात्मानं···एकत्वमास्थितं · मयि वर्त्तते'।
85. वृ. (१/४/१०)।
86. वृ. (२/५/१६) ; (४/४/५)।
87. छा. (३/१४/१)।
88. वृ. (४/४/२३) '···सर्वमात्मानं पश्यति··· प्रपितोऽसीति' ; ई. (१६) ···सोऽहमस्मि'।
89. वृ (४/४/६) ; अ. वि. (८) '···ब्रह्माहमिति' ;

चतुर्थ अध्याय

अनेक रूपों में अरूप का प्रकाश

हमने देखा है कि, धार्मिक जगत् का मौलिक एवं चिरन्तन प्रश्न है—ईश्वर नाम की कोई सत्ता है अथवा नहीं, और यदि है तो उसका निवास स्थान कहाँ है, उसका रूप, गुण इत्यादि क्या है ? हिन्दू धर्म इस सिद्धान्त पर पहुँचा है कि, ईश्वर हैं ; इसकी आलोचना द्वितीय अध्याय में की गई है। तृतीय अध्याय में हमने देखा कि वही ईश्वर सर्वत्र विराजमान हैं तथा सृष्टि के सभी जीवों व पदार्थों में और प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में अधिष्ठित हैं। अब उनके रूप का प्रश्न है।

ईश्वर साकार हैं या निराकार :

इस प्रश्न का अनुधावन करने पर हम हिन्दू धर्म के एक जटिलतम ग्रंथि के सम्मुखीन होंगे—ईश्वर मूर्त्त हैं अथवा अमूर्त्त, सगुण हैं या निर्गुण, साकार हैं या निराकार ; साकार होने पर उनका रूप एक है अथवा अनेक, अनेक रूप होने पर अनेक देवताओं के साथ अद्वितीय ब्रह्म का सम्बन्ध क्या है ? इन सब जिज्ञासाओं को लेकर अनेक तर्कों एवं मतवादों का उद्भव होने के कारण हिन्दू जाति अनेक भागों में विभक्त होकर दुर्बल हो गयी है। वर्तमान अध्याय में यही प्रमाणित करने का प्रयास करूँगा कि इन सभी वितर्कों एवं मतभेदों का कारण है मौलिक सारतत्वों का विस्मरण ; एवं उसे पुनरुज्जीवित कर पाने से हिन्दू धर्म के असंख्य सम्प्रदायों में सभी प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो जाएँगे। यह सारतत्त्व यही है कि, ब्रह्म एक ही आधार में मूर्त्त और अमूर्त्त, साकार और निराकार, अरूप और बहुरूप सब हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का प्रकृत अस्तित्व नहीं है, हम विश्वब्रह्माण्ड में जो अनेक रूपों को देखते हैं, वह सबकुछ उसी अद्वितीय ब्रह्म की अभिव्यक्ति है।

चूंकि ब्रह्म सर्वव्यापी हैं,[1] इसलिए उनका कोई भी रूप[2] या शरीर[3] नहीं हो सकता। इसी कारण से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्राणस्वरूप उस अद्वितीय ब्रह्म को निर्देशित करने के लिए 'त्यत्' यह क्लीवलिंग सर्वनाम उपनिषदों में अनेक स्थानों पर व्यवहृत हुआ है[4]। वे वाक्य, मन, एवं सर्वेन्द्रिय से परे[5] हैं, क्योंकि उनकी कोई भी इन्द्रियग्राह्य आकृति नहीं है। निराकार ब्रह्म को समझाने के लिए कभी-कभी ज्ञान[6] या चेतन[7] जैसे शब्दों का व्यवहार किया गया है।

दूसरी तरफ हमने यह भी देखा कि, ब्रह्म मात्र सम्पूर्ण विश्व को ही आवृत किए हुए हैं, ऐसा नहीं वरन् जो कुछ भी हम देखते हैं वह सब कुछ ब्रह्म ही हैं[9], क्योंकि प्रत्येक पदाथ या जीव उन्हीं

1. छा. (७/२५/१-२)-'स एवाधस्तात्··· स उत्तरतः' ; मु. (२/२/११) -'ब्रह्म पश्चात्··· अधश्चोर्द्धं च प्रसृतम्' ; ई. (५)-'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः' ; आत्म. (३)-'···सर्वव्यापी···' ; स. सा. (५) -'···आकाशवत् सर्वगतः'।
2. क. (१/३/५)-'अरूपं···'।
3. क. (१/२/२२)-'अशरीरं'; तै. (१/६/२)-'आकाशशरीरं'; मु. (१/१/६) -'तदद्रेश्यमग्राह्यम्···तदपाणिपादम्' ; आत्म. (३)-'··· निरावयवात्मा···' ;
4. वृ. (३/६/६)-'···इतिप्राणः···त्यदित्याचक्षते'।
5. क. (२/३/१२) ; मु. (३/१/८) ; तै. (२/३) ; के (१/३, ५)।
6. ऐ. (३/१/३)-'...प्रज्ञानं ब्रह्म'।
7. क. (२/२/१३)-'···चेतनचेतनानाम्'।
8. श्वे. (३/१६)-'···सर्वमावृत्य तिष्ठति'।
9. छा. (३/१३/१)-'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' ; वृ. (२/४/६)-'···इदं सर्वं यदयमात्मा' ; मु. (२/२/१०)-'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' ; क. (२/२/६-१०)- 'अग्निर्यथैको··· वायुर्यथैको···प्रतिरूपो बहिश्च' ; तै. (२/६)-'···सच्च त्याच्चभवत्···यदिदं किंच···'।

का विवर्त या अनुकृति है, और प्रत्येक में वे स्वयं ही समाहित हैं।[10] एकबार यदि यह प्रतोत हो जाय कि, विश्व में जितने रूप हैं सभी स्रष्टा के रूप हैं, और सब कुछ उन्हीं की शक्ति की प्रतिमूर्ति है, तो फिर एक एवं अद्वितीय, अरूप एवं अकाय होने पर भी, अनेक रूपों में उस अरूप का ही प्रकाश है,[11] इस सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है।

"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।'[12]

अर्थात्, एकही वायु, विभिन्न वस्तुओं में प्रविष्ट होकर, अनेक रूपों में प्रकाशित हुई है।

यदि यही हो, तो फिर वे रूपहीन होने पर भी 'विश्वरूप'[13] 'बहुरूप' हैं; अशरीरी होने पर भी 'आकाशमयविग्रह'[3]; 'सहस्रशीर्ष; 'सहस्रचक्षु'; 'सहस्रपाद'[14] हैं।

इसीलिए उपनिषदों के ऋषि इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि ब्रह्म मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो हैं।[15] अरूप ब्रह्म ईश्वर में परिणत हो कर विश्वरूप में मूर्त्त हुए हैं, मानव के लिए इस सिद्धान्त में सर्वाधिक आशा एवं भरोसे की बात यही है कि, भगवान के साथ मनुष्य की सैंकड़ों योजन की दूरी को संकुचित कर, वे हमारे बीच ही प्रकटित हुए, हमलोगों के निकट-सानिध्य में आ गए; यह अवश्य है कि 'सर्वभूत में ब्रह्मदर्शन' के उपयुक्त नेत्र रहने पर ही भगवान का यह विश्वरूप देखा जा सकता है।[16]

---

10. तै. (२/६/३)-'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'।
11. श्वे. (४/१)-'य एकोऽवर्णो···वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति'।
12. क. (२/२/१०)।
13. श्वे. (५/७)।
14. श्वे. (३/३, ३/१६); ऋक्. (१०/९०/१-२)।
15. वृ. (२/३/१)-'द्वे बाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तंचैवामूर्तंच···'।
16. गी. (१३/३०)-'यदा भूतपृथग् भावमेकस्थमनुपश्यति···ब्रह्म सम्पद्यते तदा'।

हिन्दूधर्म यहीं आकर शान्त नहीं हुआ। यदि ईश्वर स्वयं की सृष्टि के माध्यम से मूर्त्त हो सकते है, तो फिर उनकी इस सृष्टिशक्ति की साकार कल्पना क्यों नहीं की जा सकती ? लेकिन यह प्रसंग हमें हिन्दू धर्म के गूढ़तम कन्दरा में प्रवेश करा देगा। हिन्दू धर्म की जो समस्या आदिम युग से लेकर आजतक आलोड़ित हो रही है, वह है—ईश्वर साकार हैं अथवा निराकार, और निराकार होने पर मूर्तिपूजा का स्थान कहाँ है ?

हिन्दू धर्म की एक मौलिक नीति का स्मरण करने पर इस समस्या की जटिलता दूर हो सकती है। वह नीति यही है कि, हिन्दू धर्म ने सभी मनुष्यों के लिए एक ही व्यवस्था नहीं की है, क्योंकि पुर्वजन्मकृत कर्म फल के कारण सभी की आध्यात्मिक प्रस्तुति और धारण क्षमता एक जैसी नहीं है। इसलिए हिन्दू धर्म में विभिन्न मार्गों का निर्देश दिया हुआ है; फिर भी सबों का गन्तव्य स्थल एक ही है, अतएव किसी भी पथ को एक दूसरे से उत्कृष्ट या होन समझने का कोई कारण नहीं है। विभिन्न सोपानों के माध्यम स एक ही शीर्ष स्थान पर आरोहण किया जाता है और उस स्थान पर पहुँचने के पश्चात् उन सोपानों का विभेद तुच्छ या गौण प्रतीत होगा।

नैयायिक कह सकते हैं कि, एकही वस्तु में एकसाथ गुण या रूप का अस्तित्व एवं अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु विभिन्न अवस्थाओं में या विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर एकही वस्तु को विभिन्न रूपों में देखना संभव है[17], इस समाधान के लिए विस्तृत व्याख्या का प्रयोजन है।

उपासना :

साकार-निराकार समस्या के समाधान के प्रथम स्तर में ही

---

17. कथा. (१/१००, २१२, २२८, २३८) ; (२/२०)।

एक दूसरा प्रश्न उत्पन्न होगा कि, उपासना की कोई आवश्यकता है अथवा नहीं। उपासना शब्द का सरल अर्थ है, किसी से किसी प्रकार के उपकार या अनुग्रह की प्रत्याशा[18] में उसकी सेवा करना, आराधना अथवा भजन करना।[19] किन्तु सम्पूर्ण रूप से निर्गुण एवं निराकार की कल्पना करना दुःसाध्य है।[18] इस प्रकार के अस्तित्व-विहीन वस्तु से क्या अनुग्रह की भिक्षा माँगी जा सकती है? अतः मोक्ष या ब्रह्मत्व प्राप्ति के लिए यदि उपासना की आवश्यकता है तो फिर निर्विकार ब्रह्म के सगुण[20] विकल्प की भी आवश्यकता है, जिसका अवलंबन लेकर ब्रह्म की कल्पना की जाती है और जिनकी कृपा या सहायता से मोक्ष या देवत्व के विकास की प्राप्ति होती है। लेकिन सभी उपासकों की धारणा शक्ति या चित्तवृत्ति समान नहीं है, हिन्दू धर्म के अधिकारवाद का यह तर्क अकाट्य है; कोई भगवान को प्रेमास्पद या संतान के रूप में देख कर धन्य होना चाहता है, तो कोई उन्हें मातृ रूप में प्राप्त कर उनकी गोद में आश्रय पाना चाहता है। यदि ईष्ट विग्रह साधक की मनोवृत्तियों के विपरीत हों, तो साधक का कोई भी उद्देश्य सफल नहीं हो सकता। अतः अधिकार भेद से सभी प्रकार के उपासकों की उपासना में सहायता के लिए ही हिन्दूधर्म में अरूप ब्रह्म की कल्पना भिन्न-भिन्न रूपों या मूर्त्तियों में की गयी है।[21] परन्तु

18. द्रः तै. (३/१०/३-४); गी. (९/१४-१५,२२; १२/२-७; ७ २१–२२); भा. (२/३/१०; ४/१३/३४)।
19. गीता ने मोक्ष प्राप्ति के लिये कहा है कि, सबकुछ त्यागकर भगवान का भजन करना चाहिए (१८/६६; ७/१९); भागवत में भी (११/११/३२) यही उपदेश दिया गया है; तुः मु० (३/२/१); श्वे० (६/१८)।
20. तु. छा. (३/१४/१-४)-'सर्वंखल्विदं ब्रह्म···सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः···'।
21. रा. पु. ता. (१/७)-'चिन्मयस्याद्वितीयस्य···उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना।'

हमारी इस कल्पना से ब्रह्म के अद्वितीय, अशरीरी[22] स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। लेकिन प्रत्येक मार्ग एवं सम्प्रदाय के साधक, निष्ठा के साथ स्वयं के कल्पित विग्रह की उपासना, उसी अद्वितीय ब्रह्मकी प्राप्ति के उद्देश्य से ही निवेदन करते हैं ;[23] और इस स्थूल प्रतीक की उपासना का अभ्यास कर अरूप ब्रह्म के ध्यान एवं दर्शन के लिए स्वयं को प्रस्तुत करते हैं। हिन्दुओं द्वारा विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना किए जाने के विषय में अन्य धर्मों के समालोचक कितने भ्रान्ति में हैं यह अवश्य प्रमाणित हुआ है। फिर भी वे इतना और जान लें कि, विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हिन्दू अगर अज्ञानता के वशीभूत होकर विभिन्न देवी-देवताओं की ब्रह्म से अलग कल्पना करते हैं, तो वे जब तक इन सब

---

22. विभिन्न प्रकार के पूजा के मंत्र इसके सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं। पुरोहित दर्पण या क्रियाकाण्ड वारिधि के जिस किसी भी मंत्र को खोलने पर देखेंगे कि देहशुद्धि के लिए आचमन का मंत्र इसप्रकार से है–'ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सुरयः दिवीव चक्षुराततम्।' यह ऋग्वेद का मंत्र है ऋक् [(२२/२०)]। प्राण प्रतिष्ठा के मंत्र में भी इसी वाक्य का पुनः उच्चारण करना पड़ता है, तथा समस्त पूजा कार्यों के शेष होने के उपरान्त भ्रान्तियों के प्रशमन के लिए पुनः 'विष्णु' का स्मरण किया जाता है-'अज्ञानात् ··स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्ण स्यादिति श्रुतिः'। ये विष्णु कौन हैं–ये विष्णु ही वह अरूप ब्रह्म हैं, जिनका यह अनंत आकाश निवास स्थान है तथा जो उपनिषद् के 'सहस्रशीर्ष पुरुष' हैं [श्वे. (३/१४)]। उनका परिचय नारायणचक्र स्नान के पुरुष सूक्त मंत्र में पाते हैं-ॐ'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्।' किसी भी देवता की उपासना क्यों न कीजिए, लेकिन उसके प्रारंभ में तथा प्रत्येक मंत्रोच्चारण के पूर्व ब्रह्मवाचक ॐ शब्द का उच्चारण करना ही होगा [गी. (१७/२३-२४)]-'ॐ तत् सदिति ब्रह्मवादिनाम्।'

23. भा. (४/७/४८-५०) -'तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये···भेदेनाज्ञोऽनूपश्यति···भूतेषु मत्परः।

मूर्तियों में अद्वितीय ब्रह्म के रूप की या अवयव की उपलब्धि नहीं कर पाते, तब तक उन्हें स्वयं के विग्रह साधना में सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती—यह हिन्दू शास्त्रों के द्वारा ही कहा गया है।[23]

वेदान्त के अनुसार ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्मप्राप्ति का उपाय है; जो ब्रह्म को जानते हैं, वे ही ब्रह्मत्व[25] या ब्रह्म निर्वाण[24] प्राप्त करते हैं। प्रकृत अधिकारी के लिए उस ब्रह्म को जानने हेतु किसी मंदिर या देवस्थान में जाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ब्रह्म सभी जीवों की अन्तरात्मा में अधिष्ठित हैं। अप्रमत्त-चित्त सूक्ष्म-दर्शी तत्त्व-ज्ञानी के लिए इस सर्वभूतान्तरात्मा का दर्शन करना असंभव नहीं है।[25]

अतएव ब्रह्मज्ञान के लिए दो वस्तुओं का प्रयोजन है—(क) आत्मज्ञान[26] (अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ यह ज्ञान) या स्वयं के स्वरूप की उपलब्धि करना; और (ख) सर्वभूत में ब्रह्मदर्शन करना।[27]

परन्तु जबतक मनुष्य में संकीर्ण 'अहं' या 'हम' का बोध रहता है, तबतक इन दोनों में से कोई भी वस्तु सहजता से नहीं मिलती। पृथ्वी पर जितने अन्याय, अपराध और अनीति की घटनाएं होती हैं, उनका मूल कारण है स्वार्थबोध, और यह बोध षड़रिपु के द्वारा परिपुष्ट होता है। इस प्रकार की तुच्छताओं और क्षुद्रताओं को

---

24. मु. (३/२/९)-'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति य एवं वेद'; गी. (५/२०)-'···ब्रह्मविद्ब्रह्मणिस्थितः'; (गी. ५/२०-२६)—'···ब्रह्मविद्··· विजितात्मनाम्'।
25. क. (१/३/१२)-'एवं सर्वेषु भूतेषु···सूक्ष्मदर्शिभिः'; (२/३/९)-'··· हृदा मनीषा···भवन्ति'; श्वे. (१/१४)-'स्वदेहमरणिं कृत्वा···देवं पश्येन्निगूढवत्'।
26. श्वे. (१/१२)-'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्···'; छा. (३/१४/४)-'एष म आत्मा···एतद्ब्रह्म···'।
27. श्वे. (१/६)-'सर्वाजीवे···अमृतत्वमेति'; कं. (१/१०)-'सर्वभूतस्थमात्मानं···हेतुना'; गी. (७/३; ६/३१; १३/२७-२८)।

यदि दूर नहीं किया जाय तो फिर असीम के दर्शन की तो बात ही दूर है, उनका ध्यान भी करना संभव नहीं।[28] आत्मज्ञान का अर्थ है स्वयं के साथ ब्रह्म का एकात्मबोध।[29] परन्तु इस 'हम' का अभिप्राय मात्र हमारा शरीर ही नहीं है ; पार्थिव शरीर के बोध का सम्पूर्ण रूप से विसर्जन नहीं करने पर उस जीवात्मा का नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वरूप प्रकाशित नहीं हो पाएगा।[30] अत: देहाभिमानी क्षुद्र अहम् को समाप्त करने के लिए ही उपासना की आवश्यकता है। यह जैविक 'हम' ही सगुण उपासना का प्रथम अर्घ्य है।

दूसरी तरफ, ये दुष्प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल एवं मानव मन इतना अदम्य है कि, उनको शासित एवं निवृत्त कर, ब्रह्मत्व की प्राप्ति के लिए उस ब्रह्म की ही कृपा का प्रयोजन है।[31]

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया ना बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" ॥[32]

---

28. उदाहरणस्वरूप, अनित्यवस्तुओं के कारण ही वासना होती है। [क. २/३/१४-१५)–'यदा सर्वे ·· एतावद्ध्यनुशासनम्' ! वृ. (४/४/७)]।
29. वृ. (१४/१०) 'सोऽहं' ; 'अहं ब्रह्मास्मि' ; श्वे. (१/१०)-'···योजनात् तत्त्वभावात् ··विश्वमायानिवृत्तिः' ; (२/१५)-'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्'।
30. श. वि. (३०२-३०४)-'ब्रह्मानंदनिधिः···अहमोऽत्यन्तनिवृत्त्या···तत्त्वम्'।
31. श्वे. (६/१०)-'स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् स नो दधातु ब्रह्माप्ययम्' ; (६/१८)-'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' ; ६/२१)-'तपः प्रभावाद्देव प्रसादाच्च···' : क. (१/२/२०)-तमक्रतुः पश्यति ··धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः'।
32. मु. (३/२/३) ; क. १/२/२३।

उपासना का प्रयोजन :

ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का जो संकल्प है उसे दृढ़ और एकाग्र करने के लिए, ब्रह्मचिन्तन में मन को स्थिर करने के लिए, और उस मार्ग में जो अवरोध हैं उन्हें दूर करने के लिए, प्राथमिक स्तर से ही उपासना की आवश्यकता है। ब्रह्म या ब्रह्मशक्ति का निरंतर ध्यान, धारणा एवं उपासना करते-करते ही मनुष्य के पशुत्व का विलोप हो जाता है और वह ईश्वर की कृपाप्राप्ति के योग्य हो जाता है। उपासना एवं साधना के द्वारा जो चित्तशुद्धि[33] तथा दिव्यदृष्टि[34] प्राप्त होती है, केवलमात्र उसी के द्वारा ही आत्मज्ञान या ब्रह्मदर्शन होना संभव है।

अतएव, विशुद्ध ज्ञान-मार्गियों के लिए भी ज्ञान प्राप्ति हेतु उपासना या साधना की आवश्यकता है। छांदोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय स्थित समग्र चौदहवां खण्ड 'शाण्डिल्य विद्या' या उपासना विषयक है। पहले ही कहा गया कि, यह समग्र विश्व-चराचर ही ब्रह्म है, इस प्रकार की मन:स्थिति के साथ, शान्त होकर उस सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कर्ता की उपासना करो—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'।[35] और उपासना आरंभ करते ही उपास्य का जो सगुणत्व आ जाता है, वह भी इस खण्ड के २य, ४र्थ मन्त्र में 'सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:'[35-36], इत्यादि शब्दों से समझा जाता है। गीता में कहा गया है कि 'अक्षर' 'अनिर्देश्य'

---

33. पतंजलि के योगशास्त्र स. २३ ; ३२ के अनुसार 'ईश्वर प्रणिधान' चित्तवृत्तियों के निरोध के द्वारा समाधि की उपलब्धि (जिसे 'राजयोग' भी कहा जाता है) के उपायों में विशिष्ट 'नियम' है।

34. मु. (३/१/८)-···तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:' ; भा. (११/३/४०)-'यह्यब्जनाभचरणेषणयोरूभक्त्या···आत्मतस्त्वं···सवितृप्रकाश:'।

35. छा. (३/१४/२) ; श्वे. (१/८)-'संयुक्तमेतत्...सर्वपाशै:'।

36. तु: बृ. (५/६/१)-'सर्वस्येशान: सर्वस्याधिपति:··· किंच'।

'अव्यक्त', ब्रह्म की उपासना संभव है[37], किन्तु वह अधिकांशतः कष्ट-साध्य है।[37] निगु'ण ब्रह्म के विषय में चिन्तन नहीं किया जा सकता इस कारण से ही निगु'ण उपासना में भी प्रणव[38] जैसे प्रतीक की सहायता आवश्यक है, इसे हम सहज रूप से ही देख सकते हैं[39]। सगुण उपासना का प्रतीक रूपायित है, उपास्य अव्यक्त ही है[38] लेकिन उसका अवलंबन व्यक्त है ; लक्ष्य अतीन्द्रिय है, परन्तु उपकरण इन्द्रियग्राह्य है। 'स्थूल से सूक्ष्म' की ओर ध्यान स्थापित करना ही उपासना का संकेत वाक्य है, ऐसा कहा जा सकता है। और अधिकारभेद के कारण ही इन क्रमशः सूक्ष्म स्तरों की उपयोगिता है, इसे हम अभी देख सकेंगे।

उपनिषद् के ऋषि जिस स्तर पर पहुंच कर 'अहं ब्रह्मास्मि'[29] अथवा जिस स्तर पर पहुंच कर शंकराचार्यने स्वयं को 'शिवोऽहम्'[40] घोषित किया था, यदि हम कभी उस स्तर पर उन्नीत हो पाएं, तो मूर्ति पूजा तो दूर की वस्तु है, किसी भी प्रकार की पूजा के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता ; क्योंकि उस समय कौन किसकी[41] पूजा करेगा ? उपास्य, उपासक, पूजा के उपकरण सब कुछ तो ब्रह्म ही हैं[42], इस प्रकार का ज्ञान होने पर तो फिर पूजा की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परन्तु उस स्तर तक पहुँचने के लिए ही उपासना, पूजा, जाप, ध्यान, तपस्या इत्यादि सोपानों की आवश्यकता होती है।

---

37. गी. (५/३-५)-'ये त्वक्षरम्···देहवद्भिरवाप्यते'।
38. श्वे. (१/१४)·स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवंचोत्तरारणिम्···पश्येन्निगूढवत्'।
39. के. (१/५-६)-'यद्वाचानभ्युदितं···यदिदमुपासते' : भा. (८/१२/८)-त्वां ब्रह्म आत्मतन्त्रम्'।
40. श. निर्वाण. (१-७) ; श. ब्रह्म. (१-२७)।
41. बृ. (४/५/१५)-'यत्र तु अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्...'।
42. गी. (४/२४)-' ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्···'।

यह भी याद रखना होगा कि उपासना एवं प्रार्थना एक वस्तु नहीं है।

प्रार्थना एवं उपासना एक ही वस्तु नहीं :

उपासना का अर्थ है उपास्य में या आराध्य वस्तु में चित्त को स्थापित[43] या आरोपित करना, जिससे अन्य किसी भी प्रकार की चिन्ता उत्पन्न न हो सके। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्रह्म में चित्त को निमग्न करना होगा[44] इसके लिए किसी भी प्रकार की युक्ति की आवश्यकता नहीं होती। इस उपासना के साथ किसी वर प्रार्थना का सम्बन्ध नहीं है। अवश्य ही हम इसके पूर्व कह चुके हैं कि, मुक्ति प्राप्ति के लिए ईश्वर की कृपा आवश्यक होने के कारण हम उनकी उपासना करते हैं। लेकिन मोक्ष कामना को प्रार्थना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रार्थना में एक स्वाथबोध होता है— इससे प्रार्थना करनेवाला और ईश्वर दो पृथक सत्ता प्रतीत होते हैं, इनमे से एक दाता और दूसरा ग्रहण करने वाला होता है। ग्रहण करने वाले को अभाव बोध है और वह पूर्ण होने पर वे स्वयं को लाभान्वित अनुभव कर प्रसन्न होंगे, इसी प्रत्याशा के साथ प्रार्थना की जाती है। लेकिन जो मुमुक्षु होकर उपासना करते हैं, वे तो 'अहम्' की समाप्ति के लिए ही उपासना करते हैं। उन्हें कोई स्वार्थ या अभाव का बोध नहीं होता और ये हानि-लाभ के विचारों से ऊपर उठ चुके होते हैं। ब्रह्मप्राप्ति के लिए वाह्यजगत् से कुछ भी लेने की आवश्यकता नहीं है। साधक के अन्तर में ही जो ब्रह्म अधिष्ठित हैं, अज्ञानता के आवरण को दूर कर उन्हीं की उपलब्धि कर पाने पर साधक का उद्देश्य सिद्ध होगा। वे स्वयं के व्यक्ति-सत्ता को दूर कर असीम के साथ मिलना या अपने

---

43. गी. (१२/२)-'···नित्ययुक्ता उपासते' ; (१२/६)-'···ध्यायन्त उपासते'
44. श्वे. (६/५)-'तं विश्वरूपं···स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्'।

अन्तर्निहित देवत्व को विकसित करना चाहते हैं। वे सभी कामना तथा वासना रूपी बंधनो से मुक्ति चाहते हैं, अतएव स्वर्गसुख तक की कामना नहीं करते। लेकिन इस मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा की आवश्यकता होती है। क्योंकि, यह आध्यात्मिक रूपान्तरण तर्क, मेधा या इन्द्रियशक्ति के द्वारा करना संभव नहीं है। मुक्ति के अतिरिक्त अन्य विषयों से समस्त चित्तवृत्तियों का परिहार कर पाने पर ही मुमुक्षु व्यक्ति असीम (ब्रह्म) के साथ मिल सकता है ईश्वर प्रणिधान या उपासना इस चित्तवृत्ति के निरोध या प्रत्याहार में सहायक है, यह तो पहले ही कह दिया गया है। इसलिए ईश्वर के साथ युक्त होकर मुक्तिमात्र की इच्छा को 'प्रार्थना' नहीं कहा जा सकता है।

मनुष्य पार्थिव आधि-व्याधि दु:खदैन्य के कारण निरुपाय हो कर विपत्तिनिवारक अनंतशक्तिमान ईश्वर के समक्ष प्रार्थना करता है। परन्तु किसी प्रार्थना के साथ सकाम उपासना हिन्दू धर्म के अनुसार निकृष्ट है। इससे मोक्षप्राप्ति तो होगी ही नहीं, वरन् यह मोक्षलाभ के विपरीत कार्य होगा, क्योंकि अतिन्यून कामना के रहने पर भी संसार चक्र से मुक्ति प्राप्ति की संभावना नहीं रहती।[45] अत: मोक्ष या ब्रह्मज्ञान पिपासु उपासक स्वर्गसुख की कामना नहीं करेंगे, ब्रह्म प्राप्ति के अतिरिक्त उनका और कोई भी उद्देश्य नहीं है, इसलिए कोई प्रार्थना भी नहीं रहती है[46]। प्रार्थना मूलक अन्य धर्मों की दृष्टि में यह आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है।

---

45. गी. (८/२८)-'वेदेषु···स्थानमुपैति चाद्यम्' ; (२/४३)-'कामात्मन:··· जन्मकर्मफलप्रदाम्' ; (२/७१-७२)-'विहाय कामान् ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति' ; (९/२०-२१)-'त्रैविद्या मां सोमपा:···लभन्ते'।

46. क. (२/१/२)-'पराच: कामान्···न प्रार्थयन्ते' ; मु. (३/२/२)-'कामान् या कामयते···प्रविलीयन्ति कामा:'।

हमलोग पहले ही देख चुके हैं कि वैदिक युग में भी अमूर्त एवं अव्यक्त ब्रह्म के साथ व्यक्त[47] एवं मूर्त ईश्वर की धारणा थी। दूसरा प्रश्न यह है कि, 'ब्रह्म' निर्गुण हैं, या सगुण, या दोनों ही? निराकार अव्यक्त ब्रह्म निष्क्रिय हैं, अतः सत्त्व, रज, तम, किसी भी गुण का आरोपण उनमें नहीं किया जा सकता। लेकिन जिस ईश्वर का कार्य सृष्टि-स्थिति-प्रलय है, वे निश्चित रूप से सगुण हैं; क्योंकि यह सब कार्य उन्हीं तीनों गुणों के ही परिणाम हैं।[48] उन्हें सर्वज्ञ,[49] आनंदमय[50]' सर्वरसमय[51] कहे जाने के कारण इन सभी गुणों से संपृक्त उनकी कल्पना की गयी है।[52]

सगुण कल्पना :

इस विषय को हृदयग्राह्य करने के लिए हमें सृष्टितत्व का पुनः अवलोकन करना होगा और ब्रह्म एवं ईश्वर के तात्त्विक प्रभेद को स्मरण करना होगा। हिन्दू धर्म का सृष्टितत्व एक व्यापक विवर्तनवाद के ऊपर प्रतिष्ठित है, जिसके अनुसार ब्रह्म के विवर्तन से ही ईश्वर की उत्पति हुई है। निर्गुण ब्रह्म ही सृष्टि के उद्देश्य से स्वयं की माया की सहायता से सगुण ईश्वरत्व धारण करते हैं।[53]

---

47. श्वे. (१/८)-संयुक्तमेतत्···विश्वमीशः···' ; वृ. (२/३/१)'द्वे वाव··· मुर्त्तंचैवामूर्त्तंच···' ; तै. (२/६)-'···सच्च त्यच्चाभवत्' ।

48. श्वे. (५/७)-'···स विश्वरूपस्त्रिगुणः···संचरति स्वकर्मभिः' ।

49. मु. (१/१/९; २/२/७) ।

50. वृ. (३/९/२८) ।

51. वृ. (३/१४/२)-'···सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः··· अवाक्यनादरः' ।

52. भा. (८/१२/६)-'···विगुणं विशोकम्···अनपेक्षः' ।

53. भा. (२/६/३१)-'···नारायणे भगवति···सर्गादावगुणः स्वतः' ; (४/७/ ५१-२)-'···आत्ममायां···अनुपश्यति' ; श्वे. (६/१६-१८)-'···स विश्वकृत्···ब्रह्माणं विदधाति···' ।

और विश्व का संचालन करते हैं[54]। ये मायावी ईश्वर अपनी शक्ति के प्रभाव से अनेक रूपों को धारण करने पर भी, वे एक एवं अद्वितीय हैं।[55] समग्र विश्व ही उनका अवयव स्वरूप है।[56] इस प्रकार निर्गुण अवयवरहित ब्रह्म के साथ विश्वरूप परमेश्वर के सह-अस्तित्व में ज्ञानमार्गी उपनिषद में भी कोई विरोध या असामजस्य नहीं माना गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद में, ब्रह्मज्ञान उपलब्धि के लिए परमेश्वर की "विश्वरूप"[57] में उपासना की व्यवस्था है।

निर्विकार निर्विशेष ब्रह्म के साथ सविशेष ईश्वर का कोई भेद नहीं है, ये दोनों एक ही सत्ता की दो विभिन्न अवस्थाएं हैं। इसे समझाने के लिए ब्रह्मसूत्र में सर्प एवं उसकी कुंडली[58] की उपमा दी गयी है। जब निर्गुण ब्रह्म मायाधीश होकर संसार के सृष्टि, पालन और संहार कर्ता का पद ग्रहण करते हैं तब वे ही सगुण ब्रह्म में परिवर्तित हो जाते हैं[59]।

उपासना का प्रथम अध्याय इस सगुण ब्रह्म की अर्चना ही है।[60] इसलिए उपनिषदों के समय में भी ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, अग्नि,

54. श्वे. (३/१)-'य एको जालवानीशत···ईशनीभि:'।
55. श्वे. (३/२)-'एको हि रूद्रो न द्वितीयाय तस्थु:···'।
56. श्वे. (४/१०)-'तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्'।
57. श्वे. (६/५)-'तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यम···पूर्वम्'।
58. ब्र. सू. (३/२/२७)-'उभयव्यपदेशात्तु अहिकुंडलऽवत्'। [जो सर्प निष्क्रिय अवस्था में कुंडल मार कर पड़ा रहता है वही सर्प कर्म करने के उद्देश्य से ऋजु आकृति को धारण करता है, लेकिन सर्प एक ही होता है। श्री रामकृष्ण परमहंस के अनुसार (कथा. ५/६१)-'जो ब्रह्म हैं वे ही शक्ति भी ··जब वे निष्क्रिय रहते हैं तब उन्हें ब्रह्म कहता हूं, और जब सृष्टि, स्थिति, संहार का कार्य करते हैं, तो उन्हें शक्ति कहता हूं'।]
59. श्वे. (१/३)-'ते ध्यानयोगानुगता···स्वगुणैर्निगूढाम्···'।
60. गी. (१८/४६)-'यत: प्रवृत्तिर्भूतानां मानव:।' [सम्पूर्ण भक्तिमार्ग ही

वायु, सूर्य इत्यादि के उपासना की व्यवस्था थी।[61] परन्तु मोक्ष-कामी साधक के लिए यह अंतिम तथ्य नहीं है। यह निराकार ब्रह्म की वाह्य आकृति है, इनकी उपासनाओं से उत्तीर्ण होकर साधक ब्रह्मसायुज्य की प्राप्ति कर उसी अद्वितीय ब्रह्म में समाहित हो जाएगा।

उपनिषदों के अध्ययन से थोड़े समय पश्चात् हो यह परिलक्षित होता है कि परमात्मा को समझने के लिए कहीं स्त्रीलिंग और कहीं पुंलिंग का प्रयोग किया गया है। निष्कल, निष्क्रिय और अव्यक्त ब्रह्म को निर्व्यक्तिक क्लीवलिंग सर्वनाम के द्वारा ही संज्ञायित किया गया है[62]; परन्तु जहां पर पुंलिग सर्वेश्वर:[63]; ईशान:[64]; महेश्वर:[65]; विश्वतोमुख:[66] इत्यादि गुणवाचक शब्दों का व्यवहार किया गया है, वहाँ उस शब्द के द्वारा सृष्टिकर्ता, सगुण ईश्वर को सूचित किया गया है,। सर्वोपरि ब्रह्म का जो मूर्त्त एवं अमूर्त्त दो रूप हैं, वह वृहदारण्यक में स्पष्ट एकार्थी भाषा में व्यक्त हुआ है—'द्वे बाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च···'।[67] जिस समय यह ज्ञात हुआ कि ब्रह्म विभिन्न रूपों में स्वयं ही प्रकाशित हुए ह, उसी समय यह स्वीकृत हो गया कि ब्रह्म के लिए विभिन्न रूपों को धारण

इसी सगुणवाद के आधारशिला पर प्रतिष्ठित है ; तु: ना. भ. (३७)-'···भगवद् गुणश्रवणकीर्तनात्']।

61. मैत्रा. (४/६)-'ब्रह्मणो वावैता अग्र्यास्तनवः···एकत्वमेति पुरुषस्य···'।
62. वृ. (३/८/८)–'तदक्षरं···अमुखम् अमात्रम् अनन्तरम् अवाह्यम्···' ; क. (१/३/१५)-'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्···'।
63. मा. (६) ; वृ. (४/४/२२)।
64. श्वे. (४/११) ; वृ. (२/४/२२)।
65. श्वे. (४/१०) ; (६/७)।
66. श्वे. (४/२१)।
67. वृ. (२/३/१)।

करना संभव है।[68] अतएव ऋग्वेद में एक काल्पनिक पुरुष की धारण। देखने को मिलती है।[69]

श्वेताश्वतर उपनिषद में रूद्र के 'दक्षिण मुख'[70] को देखने की प्रार्थना की गयी है, और उसी एक ही अर्थ में ईशोपनिषद् में 'कल्याणतम रूप' देखने की प्रार्थना की गयी है। अरूप, अक्षर, ब्रह्म को भक्ति करना संभव नहीं। परन्तु जिनमें 'देवे परा भक्तिः'[72] है उनके समक्ष ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है।

द्वितीयतः जनसाधारण में यह प्रचलित धारणा है कि, वैदिक काल में अग्नि, सूर्य जंसे प्राकृतिक या नैसर्गिक शक्तियों को ही देव रूप में स्तुति की जाती थी ; पर यह धारणा सत्य नहीं है। अनेक वैदिक मत्रों में रूद्र[73] भारती[74], शिव[75], सरस्वती[76], प्रमुख सगुण

---

68. ऋक् (६/४७/१८)-'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव...'इन्द्रो मायाभिः पुरू रूप ईयते...'।
69. ऋक् (१०/९०/१,३)-'सहस्रशीर्षा पुरुषः पादोऽस्य विश्वा भूतानि...' ; मु. (२/१/४)-'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ...पद्भ्यां पृथ्वी...'।
70. श्वे. (३/३)।
71. ई. (१६)।
72. श्वे. (६/२३)।
73. ऋक् (१/११४/१-११) ये सम्पूर्ण सूक्त ही रुद्र देव के प्रति की गयी प्रार्थना हैं।
74. ऋक् (१/१४२/९)।
75. यजुर्वेद का संध्यामंत्र 'ॐ नमः शिवाय च शिवतराय च' है [यजु. १६/-४१]। जो लोग इस प्रकार का गलत प्रचार करते हैं कि, शिव वैदिक देवता नहीं हैं बल्कि अनार्यों के देवता हैं, ऐसे लोग यदि शान्त मस्तिष्क से यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय का अध्ययन करें तो उनकी यह अनार्यवाणी सदा के लिए मौन हो जाएगी। इस अध्याय को 'रुद्राध्याय' कहा जाता है। किन्तु शिव का भी नाम बार-बार उच्चारित हुआ है एवं परवर्ती काल के पुराणों में हमें जिस शिव मूर्ति का परिचय मिलता है, इस रुद्र अध्याय में उन सभी विशेषणों के द्वारा एक ही आलेख्य अंकित हुआ है—

देवताओं की भी स्तुतियाँ हैं। और फिर उपनिषदों में 'रूद्र'[77], शिव[78], काली[79], करालो[80], देवो[81] शब्दों का प्रयोग किया गया है।

साकार की कल्पना :

इन रूपों में ईश्वर के सगुणत्त्व की कल्पना करने पर साकारत्व का अनुमान करना कठिन नहीं होता, क्योंकि जब भी ईश्वर को प्रजापति[81], भूताधिपति[82] भूतपाल[83], हिरण्यगर्भ के जनयिता[84], कहा जाता है, तब ही एक जगत्पिता[85] की मूर्ति[86] हमारे नेत्रों में प्रतिबिंबित हो उठती है। उनकी उस आकृति को हम मनुष्य का रूप प्रदान करते हैं। क्योंकि हम मनुष्य हैं, और मनुष्य

उदाहरणस्वरूप, गिरिश, नीलग्रीव, कृत्तिवास, पिनाकधारी, सहस्राक्ष, कपर्दी [या जटाजुटधारी], शितिकंठ [या नीलकंठ], भव, पशुपति, शर्व इत्यादि। इस वर्णन के साथ तुलना करके देखिए-लिंगपुराणोक्त विष्णुकृत शिवस्तोत [रूद्र एवं शिव एक ही देवता के लिए व्यवहृत शब्द हैं] ; तुः स्कन्द पुराण के ब्रह्मोत्तर खण्ड का शिवकवच ; याज्ञवल्क्यकृत शिवरक्षा स्तोत्र ; शिवपुराण के ज्ञानसंहिता का शिवसहस्रनाम कथन।

76. ऋक् (१/३/१०-१२) ; (७/६५-६६) ; (१/१४२/६)।
77. ऋक् (२/३३/१)।
78. श्वे० (४/२०)।
79. श्वे० (४/१४)।
80. मु० (१/२/४)।
81. प्र० (१/३)—'कुतो ह वा···प्रजाकामो वै प्रजापतिः' ; श्वे० (४/२)—'तदेव···प्रजापतिः'।
82. मैत्री० (५/२)—'···स भूतानामधिपतिर्वभूव···'।
83. वृ० (४/४/२२)—'···भूताधिपतिरेष भूतपालः···'।
84. श्वे० (३/४)—'···हिरण्यगर्भं जनयामास···'।
85. ऋक् (१०/८२)—'यो नः पिता जनिता···यन्त्यन्या'।
86. ऋक् (१०/८१)—'विश्वतश्चक्षुरूत···जनयन्देव एकः' ; (१०/१२१)—'हिरण्यगर्भः···प्रजापते···वभूव···'।

को ही इस परिदृश्यमान जगत् का श्रेष्ठ जीव माना जाता है। इस प्रकार निराकार ब्रह्म की साधना से होकर साकार मूर्तिपूजा तक पहुँचने में तीन प्रकार के मानसिक स्तरों का विकास होता है—(क) सगुण कल्पना ; (ख) साकार कल्पना ; (ग) साकार की मूर्ति की कल्पना। हमलोग प्रथम स्तर की आलोचना कर चुके हैं।

ऋग्वेद के देवीसूक्त[87] में आद्याशक्ति महामाया का जगत्प्रसविनी माता के रूप में वर्णित किया गया है, और कहा गया है कि देवता तथा मानव अनेक स्थानों पर उनकी आराधना अनेक रूपों में करते हैं। कृष्ण-यजुर्वेदीय, तैत्तिरीय, आरण्यक एवं नारायण उपनिषद् में 'दुर्गा'[88] देवी का नाम है ; मात्र इतना ही नहीं, उनके रूप का वर्णन कर उनकी आराधना की भी व्यवस्था की गयी है—

'तामग्निवर्णा तपसा ज्वलंतीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्।
दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरसि तरसे नमः ॥[89]

केन उपनिषद् में है कि ब्रह्मशक्ति प्राप्ति के लिए, इन्द्र आदि देवता 'बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्' के निकट उपस्थित हुए थे।[90]

अमूर्त्त ब्रह्म हिन्दू धर्म का लक्ष्य होने पर भी क्यों साकार उपासना की आवश्यकता हुई, विष्णु पुराण[91] में इसकी विस्तृत व्याख्या की गयी है। उदाहरणार्थ 'आधारहीन वस्तु की धारणा

---

87. ऋक् (१०/१२५/३,७)—'अहं राष्ट्री···व्यदधुः पुरूत्रा···सुवे पितरमस्य मूर्धन्···'।

88. याज्ञिका० (१०/१/७) ; (ना० १/३४)—'कात्यायनाय विद्महे···दुर्गिः प्रचोदयात्'।

89, ना० (ख० २/२/२)।

90. के० (३/१२ ; ४/१)—'···तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम···ब्रह्मेति'।

91. विष्णु० (६/७/७८-८२)—'तच्चमूर्त्तं हरेरूपं···नोपपद्यते···'।

संभव नहीं'[92] अतएव भगवान की कल्पना चतुर्भुज या अष्टभुज 'विष्णु' के रूप में (या महिमामय पुरुष) के रूप में करो[88]। साकार उपासना की स्वीकृति के पश्चात्, उन्हें पितृ रूप में

92. सनातन धर्म के इसी स्पष्ट सत्य को त्यागने के कारण ही, उपनिषद् पर प्रतिष्ठित होने के बाद भी, ब्राह्म धर्म को लुप्त हो जाना पड़ा। महर्षि देवेन्द्रनाथ के द्वारा रचित 'ब्राह्म धर्म' नामक पुस्तक में जो प्रतिज्ञा है--'सृष्टि, स्थिति, प्रलयकर्ता···परब्रह्म की उपासना में रत रहोगे'—उसके साथ किसी भी हिन्दू धर्मावलम्बी का मतभेद नहीं हो सकता।

लेकिन सनातन धर्म 'विद्रोही' जो प्रतिज्ञा है, वह यह है—'परब्रह्म मान कर सृष्ट किसी भी वस्तु की पूजा नहीं करोगे' (इस पुस्तक के पृ० सं० ५ पर)। 'परमेश्वर के रूप में प्रतिमा इत्यादि किसी भी इन्द्रियगोचर वस्तु की आराधना नहीं करोगे' (उसीमें पृष्ठ ३७६ पर)।

यह कहना अनुचित नहीं होगा कि, इस सनातन धर्मविरोधी प्रतिज्ञा का मूल स्रोत है Bible (Exodus 20.4)—'Thou Shalt not make unto thee any graven image, or any likeness of any thing that is in heaven above...'। यह अवश्य है कि किसी भी 'वस्तु' को ब्रह्म मानकर उसकी पूजा करना मूर्खतापूर्ण कार्य है, लेकिन किसी भी हिन्दू शास्त्र में ऐसा करने को नहीं कहा गया है। दूसरी ओर महानिर्वाण तंत्र में भी बार-बार कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान के सिवा मुक्ति संभव नहीं [म० नि० त० (१४/१३५)]; एक मात्र ब्रह्म ही आराध्य एवं उपास्य हैं, परन्तु अमूर्त्त ब्रह्म का चिन्तन अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी कारण उपासक की आराधना में सहायता देने के लिए ही ब्रह्म के विभिन्न नामों एवं रूपों की चर्चा की गयी है। उपनिषद-काल में ऐसी कल्पना नहीं थी, ऐसा मतवाद भी भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि रामपूर्वतापनीयोपनिषद् में (१/७) कहा गया है-"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना"।

लेकिन वह काल्पनिक रूप अथवा मूर्ति ब्रह्म नहीं है। साकार की सहायता से ब्रह्म की धारणा अर्जित होने पर सिद्धावस्था में साधक सर्वत्र ब्रह्म दर्शन कर ब्रह्मत्व की प्राप्ति करता है [म० नि० त०-२/५२; ३/५१; ८/२८४; १०/२१२; १३/४; १४/११३-४]। प्रारंभ में साधक में अतीन्द्रिय अनुभूति के अभाव के कारण ही इस कल्पना की

अधिष्ठित किया जाएगा, या मातृ रूप में, यह एक गौण प्रश्न है। पौराणिक काल में हम दोनों ही पद्धतियों को सुप्रतिष्ठित पाते हैं। जिस प्रकार एक तरफ नारायण की पूजा[93] की व्यवस्था है, उसी प्रकार दूसरी तरफ मार्कंडेय पुराण में चंडिका देवी की जगधात्री मूर्ति में पूजा को व्यवस्था भी अंकित है।[94]

हमलोगों ने अबतक निराकार ब्रह्म की कल्पना में सहायक के रूप में अतिमानवीय रूप की कल्पना कर[95] उनकी उपासना के इतिहास का पर्यालोचन किया। मात्र एक कदम और अग्रसर होने पर हम मूर्ति या प्रतिमा की पूजा के प्रश्न पर आ जाएँगे। किन्तु

आवश्यकता होती है [म० नि० त० (१३/१३)-'एवं गुणानुसारेण रूपाणि विविधानि च। कल्पितानि हितार्थाय भक्तानामल्पमेधसाम्']। यही नहीं यहां तक कहा गया है कि, ब्रह्मज्ञान के लक्ष्य से भ्रष्ट होने पर मूर्ति पूजा 'बाल क्रीड़नवत्' है [म० नि० त० (१४/११७)] या बच्चों के खेल के समान है। दूसरी तरफ यदि कोई भाग्यवान पूर्वजन्म अर्जित ज्ञान की शक्ति से साधना के प्रथम स्तर में ही अमूर्त्त ब्रह्म का ध्यान करने में सक्षम हो जाते हैं, तो फिर उन्हें साकार उपासना या मूर्ति पूजा की क्या आवश्यकता है ? लेकिन शंकराचार्य के समान अद्वैतवादी ने भी उनके द्वारा प्रतिष्ठित मठों में नाना प्रकार के विग्रहों की स्थापना की है, यह भी द्रष्टव्य है।

93. भा० (४/८/४७-५१)-'···शंखचक्रगदापद्मैरभित्यक्तचतुर्भूजम्···वरदर्षभम्' ; (११/३/५८-५३) ; (११/११/३४, ३८)। द्र : ना० (क) ४-'ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो···नारायणं कारणपुरूषं···परं ब्रह्म ओऽम्।]

94. चण्डी के ११/४२ श्लोकों में है 'नंदगोपगृहे जाता यशोदागर्भसंभूता' इससे ही पितृ तथा मातृ रूपों के भेद का समाप्त हो जाना उचित है।

95. दार्शनिक तत्त्व में इस पद्धति को 'अध्यारोप' कहा जाता है—धारणा की सुविधा के लिए एक वस्तु का अन्य वस्तु के रूप में कल्पना करना। [तु: रा० उ० (९-१०)–'यो ह वै श्रीरामचन्द्र: स भगवानद्वैत···' ; गो० पू० ता० (३) 'एको वशी सर्वग: कृष्ण···एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति']।

इसके पूर्व वाह्यपूजा का औचित्य या सार्थकता क्या है ? इसकी उपलब्धि करना भी आवश्यक है।

उपनिषदों में हमें कुछ तत्त्वों की प्रधानता देखने को मिलती है—

(क) किसी यज्ञ या वाह्य क्रिया-कर्म आदि के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, जबतक की ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती[96]।

(ख) ब्रह्म मात्र अरूप ही नहीं हैं वरन् वे अचिन्तनीय एवं अनिर्वचनीय[97] भी हैं, किसी भी इन्द्रियग्राह्य वस्तु के साथ उनको तुलना नहीं की जा सकती ; अतः उनकी कोई भी प्रतिमा नहीं होती।[97]

(ग) अमूर्त्त ब्रह्म का दर्शन अत्यन्त कष्टसाध्य है एवं वे दुर्ज्ञेय हैं ; अतः अनेक प्रयासों के पश्चात् भी ब्रह्म का दर्शन उस ब्रह्म की कृपा पर ही निर्भर है।[98]

---

96. वृ० (४/४/२२)-'··यज्ञेन दानेन···मुनिर्भवति' ; मु० (१/२/१२)-'परीक्ष्य···नास्त्यकृतः कृतेन' ; श्वे० (४/८)-'···यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति···' ; म० नि० त० (१४/१११-११९)।

97. यजु० (३२/३)—'न तस्य प्रतिमा अस्ति···सर्वतोमुख;···निहतं गुहा··· विभु···' ; वृ० (२/३/६)—'···अथा त आदेशो नेति नेति···' ; मा० (७)—'···अचिन्त्यमव्यपदेश्यम्···' ; मु० (३/१/८)-'न चक्षुषा··· कर्मणा वा···' ; क० (२/३/१२)-'नैव वाचा··न चक्षुषा···, ; तै० (२/४)-'यतो वाचो निवर्तन्ते···मनसा सह···' ; के० (१/६)-'यन्मनसा न मनुते···' ; श्वे० (४/१९)-'···न तस्य प्रतिमा अस्ति···'।

98. क० (१/२/२३)-'नायमात्मा···यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः···' ; श्वे० (६/१०,१८/२१)।

99. श्रीमद्भागवत में भी (३/२९/२१-२५) कहा गया है कि, सर्वभूताश्रय ईश्वर की धारणा नहीं होने तक मूर्ति पूजन की सार्थकता है, लेकिन उस परमात्मा एवं उनके मूर्तप्रकाश सर्वजीवों को भूलकर प्रतिमा की पूजा करना निरर्थक है। चरम परिणति में मुक्ति के लिए आवश्यक है—हरि में ही निर्गुण, आत्मस्वरूप परब्रह्म की उपलब्धि करना [भा० १०/८८/५, १०-हरिर्हि निर्गुण···तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं···संसारात् परिमुच्यते]।

इस तीसरे सिद्धान्त से ही परवर्ती समय में साकार एवं मूर्ति कल्पना उत्पन्न हुई है।

मूर्ति कल्पना:

पूराणों के समय में मात्र साकार ही नहीं बल्कि मूर्तिपूजा भी प्रतिष्ठित हो गई थी। श्रीमद्भागवत में[93/99] विष्णु की प्रतिमा के समक्ष उनके चरणों में अर्घ्य निवेदन करना एवम् प्राणायाम आदि के द्वारा चित्त को संयत कर पूजा करने का विधान दिया गया है। और अंत में, इस शरीर रूपी मंदिर में ही भगवान की पूजा कर रहा हूँ, इस प्रकार के चिंतन के साथ परमात्मा का ध्यान करने से मुक्ति को प्राप्ति होगी, ऐसा कहा गया है।[1]

मार्कण्डेय पुराण में चण्डिका देवी की जगधात्री मातृमूर्ति की पूजा का विधान दिया गया है। मेधस ऋषि के उपदेश से राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य ने अपनी-अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए चण्डिका देवी की मृण्मयी मूर्ति का निर्माण[2] कर नदी तट पर धूप-दोप आदि के द्वारा पूजन किया।[2] महाभारत में विराट पर्व के षष्ठ अध्याय में जिस 'विंध्यवासिनी' देवी का उल्लेख है आज भी उन्हीं की मूर्ति ही विंध्याचल-पीठस्थान में विराजमान है। दिल्ली के उपनगर में बहुत प्राचीन भग्नावशेषों और ध्वंसावशेषों के मध्य जो 'कालका' जी का मंदिर है, उस मंदिर की देवी महाभारत में वर्णित और पाण्डवों के द्वारा पूजित कालिका देवी हैं, ऐसी जनश्रुति प्रचलित है।

---

1. भा० (३/११/४७-५५)। यह अवश्य है कि किन उपादानों से मूर्त्ति का निर्माण होगा उसका वर्णन नहीं है।
2. चण्डी (१३/१०)-'तौ तस्मिन् पुलिने देव्या: कृत्वा मूर्त्तिं महीमयीम्··· तर्पणै:'। मत्स्यपुराण में भी दुर्गा की मूर्ति के निर्माण का निर्देश दिया गया है। प्रतिमा, मिट्टी, पत्थर, धातु या काष्ठ की निर्मित हो सकती है [म० नि० त० (१३/१४-१५)]।

यह अवश्य है कि ऋग्वेद में, 'देवतागण मेरी आराधना अनेक प्रकार से करते है'[3] कहे जाने पर भी प्रतिमा का निर्माण कर उसकी आराधना की बात कहीं भी उल्लिखित नहीं है। फिर भी यही आद्यादेवो ही मार्कण्डेय पुराण में अंकित महामाया दुर्गा या चण्डिका देवी हैं, यह निसंदेह कहा जा सकता है। क्योंकि मार्कण्डेय पुराण के अंतिम भाग में वर्णित सुरथ एवं समाधि का दुर्गापूजन मात्र धुप-दोप आदि के द्वारा प्रतिमा की अर्चना ही नहीं थी वरन् उसके साथ 'देवी सूक्त[4], जाप के द्वारा तपस्या करना भी था।

जिस सभ्यता का आविष्कार सिन्धुतटवर्ती हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो में हुआ है, वह यदि खिृष्ट शताब्दी आरंभ के तोन हजार[5] वर्ष पूर्व की हों तो फिर वैदिक युग में ही मृण्मयी प्रतिमा में मातृपूजा के प्रचलन का अनुमान सार्थक प्रमाणित होता है। क्योंकि इन सब स्थानों से पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भूगर्भ से अनेक मृत्तिका निर्मित देवी मूर्तिओं को प्राप्त किया है।

पूर्वोक्त उपादानों से इतना अवश्य प्रमाणित होता है कि, ऋग्वेद एवं मार्कण्डेय पुराण के मध्य किसी भी समय प्रतिमा पूजन हिन्दू धर्म का अंग बना था।

इस ग्रंथ का उद्देश्य हिन्दू धर्म से संबंधित इतिहास की खोज

---

3. ऋक् (१०/१०/१२५/३)।
4. चण्डी (१३/८)-'स च···देवीसूक्तं परं जपन्'।
5. किसी-किसी मतानुसार पाँच हजार वर्षों से अधिक है (स्वामी जगदीश्वरानंद, श्री श्री चंडी भूमिका)। हड़प्पा सभ्यता की लिपि में वृषवाहन शिव तथा शिवलिंग का उल्लेख है और हड़प्पा की सभ्यता वैदिक सभ्यता का निदर्शन है, यह वर्तमान के अनेक अनुसंधानकर्ताओं के द्वारा स्वीकृत हुआ है [(१९७७) 45 Truth 39-9 अभेदानंद, भारतीय संस्कृति, २९८-३०१]।

करना नहीं है ; अतः मूर्ति पूजा, जो अत्यन्त प्राचीन काल से[6] हिन्दू धर्म के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकृत है, यह सिद्धान्त जान लेना ही यथेष्ट है। यह अवश्य है कि ईश्वर के सगुणवाद के साथ प्रतिमा पूजन का सम्बन्ध रहने पर भी यह कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिए कुछ लोग यह भी मत प्रकाशित करते हैं कि, वैदिक युग में मंत्र में ही देवता तथा यज्ञार्थ में ही ईश्वर के विभिन्न रूपों की कल्पना करने पर भी मूर्ति पूजा का प्रचलन नहीं था ; मन्त्रोच्चारणों के साथ अग्नि में आहुतियां देकर यज्ञों को सम्पन्न किया जाता था। लेकिन, अल्प होने पर भी वेदों[7] में कई स्थानों पर मूर्तियों के अस्तित्व एवं क्रय-विक्रय योग्य वस्तु या पण्य रूप में व्यवहार का उल्लेख मिलता है।

ये सभी मूर्तियाँ किस प्रकार ब्रह्म साधना में अवलंबन स्वरूप परिणत हुईं, इसे जानने के लिए, सर्वप्रथम, उपासना में प्रतीकों की सार्थकता का अध्ययन करना होगा ; क्योंकि प्रत्येक धर्म के आध्यात्मिक अभियान में प्रतीकों की कार्यकारिता थोड़ी बहुत स्वीकृत है। किसी भी धर्म में ईश्वर को इंन्द्रियग्राह्य वस्तु नहीं कहा गया है। उस

6. बहुत से लोग यह जानकर आश्चर्यचकित होंगे कि निरीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन तंत्रों में सरस्वती, मारीचि, भारती, शारदा, वागीश्वरी, ब्राह्मणी, व्रतचारिणी आदि देवियों का उल्लेख है तथा बौद्ध 'साधनमाला' में महासरस्वती का ध्यान मंत्र है—'भगवती शरदिन्दुकराकार···व्युहावभासित लौकत्रया'। 'रत्नसागर' नामक जैन धर्म ग्रंथ में सरस्वती के ध्यान मंत्र में उन्हें 'विश्वरूपिणी' कहा गया है [स्वामी जगदीश्वरानंद, श्री श्री चण्डी (भूमिका, ५)]।

7. ऋक् (४/२४/१०) ; (८/१/१५)। इसके अतिरिक्त षडविंश ब्राह्मण (१०/५) पारस्कर गृह्यसूत्र, आपस्तंब गृह्यसूत्र, पाणिनि में (ई० पू० आठवीं शती), प्राग्य पौराणिक युग में प्रतिमा का उल्लेख मिलता है।

अदृश्य एवं अव्यक्त सृष्टिकर्त्ता की धारणा किन उपायों के द्वारा की जा सकती है, यही प्रत्येक धर्म का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रतीक की उपयोगिता :

लेकिन मनुष्य का मन, उसकी बुद्धि इत्यादि सीमित होने के कारण, हम प्रत्यक्ष दृष्ट अथवा उपलब्ध वस्तु की सहायता के सिवा किसी भी अदृश्य या अज्ञात विषय का अनुमान नहीं कर सकते। इसीलिए ईश्वर की धारणा या स्मरण करने के लिए इस ज्ञातजगत् से किसी वस्तु का अवलंबन[8] करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। इन्हीं कारणों से पौत्तलिकता-विरोधी धर्म में भी क्रुशचिह्न[9] और यीशु मरीयम की प्रतिमूर्ति; मक्का के काबा[10] नामक मस्जिद में जोड़ा गया हेजराल आछुयाद नामक काला पत्थर खण्ड, आकाश का चांद या महापूरूषों की समाधि-स्थान की सहायता से, अतीन्द्रिय जगत् में अधिष्ठित सृष्टिकर्ता या परलोकगत धर्मप्रवक्ताओं का स्मरण कराया जाता है।

इस प्रकार के प्रतीकों का आवश्यकता अनुसार बहुल[11] व्यवहार हिन्दू धर्म की विशेषता है। प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति या प्रवृत्ति

8. 'ब्रह्मभावनया लौकिकवस्तुचिंतनं प्रतीकोपासनम्' (ऐतरेय आरण्यक भाष्य—१/२)।

9. मा० कारिका (२५)-'युंजीत प्रणवे चेतः···ब्रह्म निर्भयम्···।' [क्रुश चिह्न, चन्द्रमा इत्यादि का प्रतीकों के रूप में उपयोग अन्य धर्मों में भी है। इसाई धर्म के मतवाद में क्रुशचिह्न एवं यीशु के मूर्त्तियों का बहुल उपयोग तथा उसकी सार्थकता की व्याख्या की गयी है Dr. Albert Moore—The Development of Images of Jesus Christ jn Early Christianity (Bulletin of the Ramakrishna Mission Institute of Culture (1974) Vol. XXV, PP. 6-12)].

10. कुरान —मं १/सि० २/सू० २/आ० १४४।

11. उदाहरणार्थ प्रणव या ओंकार, स्वस्तिक, शिवलिंग, त्रिशूल, घड़ा, जल, पुष्प, तांत्रिक यंत्र इत्यादि।

इत्यादि ही इस बाहुल्य का औचित्य है, जिसका उल्लेख हमने बार-बार किया है।

इन विभिन्न प्रतीकों में से दृष्टान्त स्वरूप आदि एवं सूक्ष्मतम प्रतीक "प्रणव" के विषय में संक्षिप्त आलोचना करूंगा।

प्रणव :

किसी मूर्त्त वस्तु के अवलंबन के बिना अमूर्त्त ब्रह्म की धारणा करना दुरूह है, यह उपनिषदों में प्रणव रूपी प्रतीक के प्रयोग से ही प्रमाणित हो जाता है। यह प्रणव[12] या ॐ, शब्द-ब्रह्म[13] या परमात्मा[14] का प्रतीक है। सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रणव के साथ मन को युक्त करने के लिए कहा गया है।[9] जो ब्रह्म के किसी भी प्रतीक की कल्पना को वेद-विरूद्ध समझते हैं[15], वे प्रणव के अवलंबन को मिथ्या प्रमाणित नहीं कर सकते, क्योंकि जिस यजुर्वेदीय बाजसनेय संहिता या ईशोपनिषद में कहा गया है कि, ब्रह्म की कोई प्रतिमा नहीं होती, उसी में ॐ रूपी शब्दब्रह्म[16] की उपासना का उपदेश दिया गया है।

---

12. अथर्ववेद के शिखोपनिषद् के अनुसार मात्र एक बार उच्चारण करने से ही प्राणादि वायु को निम्नग पथ से ऊर्ध्वगामी कर सुषुम्ना के द्वारा मूर्ध स्थान पर ले जाता है, इसीलिए इसे 'ओंकार' कहा गया है, एवं सभी प्राणियों के प्राणों को परमात्मा में सन्निवेशित करता है इसी कारण से इसका दूसरा नाम 'प्रणव' है ['स एष सर्वान् प्राणान्··· प्रणमयति']।

13. मा० (१-४)-'ओमित्येतदक्षरं···तस्योपव्याख्यानम्···ब्रह्म'।

14. मा० (२)-'सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा·· ब्रह्म।'

15. यथा, दयानंद-सत्यार्थ प्रकाश, 533, 539।

16. यजु० (१४/१५, १७)-'···ॐ क्रतो स्मर···ॐ स्वं (अथवा 'खं') ब्रह्म'; सामवेद का छा० (१/१/१); अथर्ववेद का मा० (१)।

इसी ओंकार को शब्द-ब्रह्म कहा गया है एवं इसी कारण से ओंकार का ध्यान और उपासना करने पर अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के प्रतीक की उपासना करने पर अन्य किसी भी प्रकार के यज्ञ, अध्ययन, जप, तपस्या की प्रयोजनीयता नहीं रहती है ; छान्दोग्योपनिषद[18] में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है।

इसी प्रकार का तथ्य मुण्डकोपनिषद् में भी पाया जाता है। परमात्मा से जीवात्मा का मिलन या उनमें प्रविष्ट होना ही जीवन का लक्ष्य है। इस गन्तव्य पर पँहुचने के लिए प्रणव को धनुष के रूप में व्यवहृत कर आत्मा को ब्रह्म के प्रति परिचालित करना होगा।[19] ॐ रूपी एकाक्षर में तन्मय होकर बार-बार ओंकार का ही जप करने पर जीवात्मा ब्रह्म के साथ युक्त हो जाएगी।[20] क्योंकि ओंकार एवं ब्रह्म अभिन्न है[21]।

स्थानाभाव के कारण इस पुस्तक में शब्दब्रह्म तत्त्व के विषय में विस्तृत व्याख्या करना संभव नहीं है। हिन्दूशास्त्रों में शब्द को मात्र एक प्राकृतिक उपादान ही नहीं समझा जाता। इस शास्त्र की सृष्टि और विवर्तनवाद के सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप से विज्ञान सम्मत

---

17. मु० (२/२/६)-'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं··· ।'

18. छा० (२/२३/१)-'त्रयो धर्मस्कन्धा···ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' ; प्रश्न० (५/५)-'यः पुनरेतं त्रिमात्रेण ओमित्येतेनै वाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत···।'

19. मु० (२/२/४)-'प्रणवो धनुः···ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते···।'

20. मैत्रा० (३/४)-'···ॐ ब्रह्मणों महिमा··· अजस्रं चिन्तयति···चिन्तया चोपलभ्यते ब्रह्म' ; (६/४)-'···एतेनै तदुपासिताजस्रमिति···' ।

21. तै० (१/८)-'ओमिति ब्रह्म···' ; ना० (४)-'पत्यगानंदं ब्रह्मपुरुषं··· अकार उकारो मकार ईति' ; क० (१/२/१५-१७)-'सर्वे वेदा···एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म···एतदालंबनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते' ; ब्र० विद्या (३)-(३)-ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म···' ।

हैं। सृजन के प्रति अनुरक्त होने पर ब्रह्म ने सर्वप्रथम आकाश[22] की सृष्टि की। यह आकाश ही समस्त शब्दों की समष्टि है; इसकी कल्पना पाश्चात्य के लोगों ने भी विश्व संगीत के वाहक के रूप में की है जिस ध्वनि का उच्चारण कर ब्रह्म आकाश का सृजन किए थे; वह 'ओऽम्' ही है। यह तीन मात्राओं से युक्त शब्द है, अर्थात् अ+उ+म्, इन तीन वर्णों की संधि से यह उत्पन्न हुआ। इसका अर्थ यही है कि, यह 'ओऽम्' शब्द ही सृष्टि के आदि से लेकर मध्य एवं अंत तक विराजमान है।[23] भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में जो कुछ भी घटित होगा वह ओंकार की ही अभिव्यक्ति होगी।[24] यही सारे शब्दों का जनक है और इसके बाहर कोई भी शब्द नहीं है।[25] ब्रह्म के साथ इस शब्द का इसप्रकार निकटतम सम्बन्ध एवं सायुज्य होने के कारण ही इसे ब्रह्मप्राप्ति का श्रेष्ठ आलंबन[26], आयतन[27] या प्रतीक कहा जाता है। इन्हीं कारणों से जो उस परमपुरुष का ध्यान ॐ एकाक्षर की सहायता से करते हैं, वे उस सर्वव्यापी सर्वभूतात्मा पुरूष के दर्शन करने में समर्थ हो जाते हैं।[28-29]

---

22. तै० (२/१/४)—'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः...'।
23. विभिन्न उपनिषदों मे इस शब्द की विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक प्रकार की व्याख्या की गयी है [ब्र० वि० (५–१०)]।
24. (१/१)—'भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव'; मैत्रा० (६/३)—'···तिस्रो मात्रा एताभिः सर्वमिदमोतं प्रोतं···'।
25. छा० (२/२३/३)—'सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदं··· ।'
26. क० (१/२/१७)—'एतदालंबनं···महायते ।'
27. प्रश्न० (५/२)—'···तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।'
28. प्रश्न० (५/५)—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेण···परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'; ब्र० वि० (१३–१४)—'···ओंकारस्तु···सोऽमृतत्वाय कल्पते'।
29. मूर्तिपूजा की सार्थकता के विषय में यही व्याख्या भागवत में भी दी गयी है—जबतक साधक ईश्वर को सर्वभूतों में तथा स्वयं के हृदय में अनुभव

यदि अव्यक्त एवं अमूर्त ब्रह्म की साधना में प्रतीक की सार्थकता को स्वीकार किया जाय, तो फिर वह प्रतीक किस रूप अथवा आकृति का होगा इससे कुछ भी नहीं आता जाता।[30] जिस अवलंबन से साधक के मन में भगवद् अनुरक्ति उत्पन्न होती है, अथवा भगवत् चिन्ता की प्रस्तुति के लिए अपरिहार्य मानसिक एकाग्रता की स्थापना[31] में सहायता होती है, वही अवलंबन ग्रहण योग्य है।

प्रतिमा :

इस प्रकार प्रतिमा एक प्रतीक विशेष है। प्रतीक का अर्थ प्रतिरूप, एवं लिंग का अर्थ भी प्रतीक या चिह्न है ; अतएव लिंग या प्रतीक से मूर्ति का कोई विशेष तात्पर्य मूलक भेद नहीं है। ये सभी ब्रह्म के स्मारक के रूप में ही व्यवहृत किए जाते हैं।

अतएव यह देखा जा रहा है कि, मूर्ति या प्रतिमा पूजा ही हिन्दू धर्म का एकमात्र विधान नहीं है। प्रत्युत यदि कोई प्रणव या अन्य किसी भी प्रतीक की सहायता से देवत्व का विकास कर पूर्णत्व या ब्रह्म सायुज्य की प्राप्ति में समर्थ होता है, तो फिर उसके लिए प्रतिमा पूजन की आवश्यकता नहीं रह जाती। इन्हीं कारणों से आर्य-समाजिओं या ब्राह्मसमाजिओं द्वारा प्रतिमा पूजन नहीं किए जाने पर भी, प्रणवावलंबन में विश्वासी होने के कारण, उन्हें हिंदूत्व की संज्ञा से पृथक नहीं किया जाता।

नहीं करेगा, तबतक उस प्रतिमा में ही भगवान अवस्थित हैं इसप्रकार की विचारधारा के साथ मूर्ति का ही पूजन-अर्चन करना उचित होगा [भा० (३/२९/२०)—'अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं···सर्वभूतेष्ववस्थितम्']।

30. इस अर्थ में प्रतीक एक ग्रंथ भी हो सकता है, जैसे सिक्खों का ग्रंथसाहब, इसाईयों का वाईविल, मुसलमानों का कुरान तथा हिन्दुओं का श्रीमद्-भगवत गीता !

31. पा० यो० (समाधि० ३९)—"यथाभिमतध्यानाद्वा।"

उपासना के आलंबन के रूप में मूर्ति को विशेषता यही है कि, दिव्य भावों का व्यंजक होने पर भी मनुष्य देह के साथ उसका सादृश्य है। हमलोग देहधारी हैं, अत: किसी भी विदेही वस्तु की धारणा करना हमारे लिए दुरूह एवं दु:साध्य है, यह बात गीता[32] में भी कही गयी है। इसीलिए अन्य प्रतीकों की अपेक्षा मूर्ति के माध्यम से ईश्वर का ध्यान करना अधिक सहज है तथा सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य है।

जिससे ईश्वर के अनन्त भावों एवं गुणों की अभिव्यक्ति हो, इसप्रकार की कोई भी मूर्ति ईश्वर की प्रतिमा हो सकती है। उदाहरणार्थ, सृष्टि, पालन एवं प्रलय के कर्ता के रूप में क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्तियों की पूजा होती है; और सिद्धिदाता के रूप में गणेश की। ये सभी ब्रह्म की मुख्य-मुख्य शक्तियों की मूर्तियाँ हैं।[33]

ब्रह्म तथा शक्ति :

बंग देश में शक्तिपूजा का प्रचलन अधिक है। यह शक्ति अद्वैत ब्रह्म की ही शक्ति है, क्योंकि शक्तिमान के साथ शक्ति का संबंध अभिन्न है। जिसप्रकार कि अग्नि से उसके दाहक शक्ति को अलग करना असंभव है। ईश्वर जिन असीम शक्तिओं के द्वारा सृष्टि-स्थिति-प्रलय रूपी विशाल कार्य को सम्पन्न करते हैं, हम उन्हीं शक्तियों की पूजा करते हैं।

यदि इसप्रकार के विभिन्न शक्तियों की उपासना के द्वारा उसी एक ईश्वर की ही उपासना की जाती है[34], तो फिर हिन्दू धर्म

32. गी० (१२/५)—'अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते'।
33. विष्णु० (१/२२/५६ —ब्रह्माविष्णुशिवा: प्रधाना: ब्रह्मशक्तय:'।
34. भा० (४/७/५२-५४) तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये··· त्रयाणामेकभावानां··· शान्तिमधिगच्छति'; (६/४/३२-३४)—'अस्तीति नास्तीति···नामानि रूपाणि च···स ईश्वर:।

'बहुदेववादी'[35] है, इसप्रकार का अपवाद अज्ञानता के कारण है यह स्वत: सिद्ध होता है। एक प्रश्न उठ सकता है कि, यदि हिन्दू धर्म एकेश्वरवादी है, तो फिर हिन्दू सर्वगुणसम्पन्न तथा शक्ति के समष्टिगत रूप उस एकेश्वर की ही पूजा क्यों नहीं करते? इसका उत्तर बहुत सरल है। मनुष्य का मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ इतनी क्षुद्र और सीमित हैं कि, इसके द्वारा सर्वशक्तिमान् ईश्वर के सम्पूर्ण रूप की धारणा या कल्पना करना संभव नहीं है; इसीलिए उनके किसी एक विशिष्ट शक्ति या गुण को रूपायित कर, मानो महाकाश में विचरण-योग्य व्योमयान के रूप में व्यवहृत किया जाता है। ससीम से असीम में, रूप से अरूप में, अंश से अनन्त के प्रति, हिन्दूधर्म का यह जो अभियान है, इसे किसी भी प्रकार से पौत्तलिकता या बुत्तपरस्ती कहकर संज्ञायित नहीं किया जा सकता।[36] हिन्दू अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियों की पूजा ईश्वर के रूप में नहीं करते।[36] ईश्वर अनन्तशक्ति सम्पन्न एवं अनन्तरूपों वाले हैं, उनकी यह शक्ति असख्य रूपों में विभिन्न शक्तियों में प्रकाशित हुई है। इन्हें देवता मानकर हिन्दू उसी एकेश्वर की ही साधना या उपासना करते हैं।[36] जब सूर्य की स्तुति की जाती है, तब सूर्य को ईश्वर नहीं कहा जाता बल्कि जो सूर्य के भी स्रष्टा[37] हैं,

---

35. Polytheist

36. मैं एक मुसलमान पर्यवेक्षक का कथन इस स्थान पर उद्धृत करना चाहता हूं, ये हैं प्रख्यात ग्रंथ आइने-अकबरी के रचयिता आवुल फज़ल—"हिन्दू जिन पत्थर या काष्ठ निर्मित मूर्तियों के समक्ष भक्ति निवेदन करते हैं, उन्हें मूर्ख व्यक्ति पुतले समझते हैं, लेकिन प्रकृतत: इस प्रकार की धारणा गलत है। प्रत्येक हिन्दू एकेश्वरवादी है। हर प्रकार के धार्मिक कार्य-कलाप या उत्सव में वे अद्वितीय परब्रह्म की सम्प्रभुता एवं अभिव्यक्ति का मनन करते हैं।"

37. ऋक् (१०/१९०/३)—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'।

नियन्ता[38] हैं, वरेण्य[39] हैं, उसी अक्षर ब्रह्म की ही उपासना की जाती है। सूर्य उनके तेज[40] या नेत्र होने के कारण इस उपासना के उत्तम अवलंबन के रूप में ग्रहण किए जाते हैं और उनसे अनुग्रह की भिक्षा माँगी जाती हैं।[41]

ऋग्वेद के देवी सूक्त में आद्याशक्ति के जिन गुणों का वर्णन है, वे सब सृष्टिकर्ता ईश्वर के ही गुण हैं—उदाहरणस्वरूप, 'वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा'।[42] इसी प्रकार मार्कण्डेय पुराण के चण्डी में चण्डिका देवी का वर्णन 'नित्यैव सा जगन्मूर्त्तिस्तया सर्वमिदं ततम्'[43] ; 'त्वयैतत् धार्यते सर्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्'[42] इत्यादि भाषाओं में किया गया है। ये ही सर्वव्यापिनी तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलय की शक्ति रूपिणी हैं।[44]

प्रकृतत: ईश्वर जिस शक्ति या प्रकृति की सहायता से ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं[45], हिन्दू उसी शक्ति की पूजा महामाया के रूप में करते हैं[45]।

---

38. क० (२/१/६)—'यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति' ; (१५)—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' ; (मु०-२/२/१०), श्वे० (६/१४) ; वृ० (३/८/६)-'···अक्षरस्य प्रशासने सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत'··· ; तै० (२/८/१)—'···भीषोदेति सूर्यः'।
39. श्वे० (४/१८)-'सवितुर्वरेण्यं'।
40. छा० (३/१८/५)—'···स आदित्येन ज्योतिषा भाति'।
41. श्वे० (२/१-३)—युंजानः···सविता प्रसूवाति तान्'।
42. ऋक् (देवीसूक्त—१०/१०/१२५/८)।
43. चण्डी (१/६४, ७५)
44. चण्डी (५/३४)—'चितिरूपेण या कृतस्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्'।
45. चण्डी (१/६३)—'जगद्धात्रीं स्थिति-संहार-कारिणीम्' ; (१/६८-७१ ; ११/११) ; म० नि० त० (४/२६-२९)-'···निमित्तमात्रं तद् ब्रह्म··· जगदेतच्चराचरम्' ; दे० भा० (५/१९/२), २८ ; (९/४/११)।

दुर्गा, काली, चण्डिका किसी भी नाम[46] का उपयोग क्यों न किया जाय, वस्तुतः विभिन्न नामों एवं रूपों से उसी ब्रह्ममयी, ब्रह्मरूपा महामाया की ही पूजा की जाती है।[47] ईश्वर की शक्ति बहुमुखी है, इसी कारण भिन्न-भिन्न शक्तिओं की भिन्न-भिन्न रूपों से उपासना की जाती है। इनमें जो रूप साधक के पूर्व संस्कार, धारणा या रुचि के अनुसार ग्राह्य होता है, वह उसी मूर्ति को ही 'इष्ट' या उपास्य के रूप में ग्रहण करता है।[48] इसी के कारण हिन्दूधर्म में अनेक देव और देवियां हैं। परन्तु इनकी पट भूमिका में वही 'एकमेवाद्वितीयम्' ही है। इसमें किसी भी प्रकार का असामजस्य नहीं है,[49]—जसे कि, दाहिका शक्ति या ज्योति, इन दोनों के मध्य ही अग्नि का अनुमान किया जाता है। यही हिन्दू धर्म का 'अनेक रूपों में एकेश्वरवाद' है।

महामाया की पूजा करने का उद्देश्य यही है कि, जिस अविद्या या माया के द्वारा हमारे ज्ञान चक्षु ढके हुए होने के कारण हम ब्रह्म के साथ अपनी आत्मा के एकत्व की उपलब्धि नहीं कर पाते हैं, वह मायाजाल मात्र महामाया की कृपा होने पर ही हट सकता है।[50] जो ध्यान, तपस्या तथा योग के द्वारा ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त

---

46. 'चंडी के मूर्तिरहस्य' अध्याय में देवी के अनेक नामों का उल्लेख है। ५० से अधिक नाम, स्वामी जगदीश्वरानंद कृत श्री श्री चंडी के (३३) पृष्ठ पर ही अंकित हैं।
47. वृहन्नारदीय पुराण।
48. यजुर्वेद के अन्तर्गत ब्राह्मण-मंडलोपनिषद के विष्णु-शिव आदि की उपासना में जो ब्रह्मनिष्ठ होने का उपाय है उसे स्पष्टतः कहा गया है—'उक्तविकल्प सर्वमात्मेव। तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति'।
49. दे० भा० (३२/२-३)–'···तदात्मरूपं चित्संधित्परब्रह्मैकनामकम्··· विश्रुता।'
50. चण्डी (१/४६-५१)-'महामाया हरेश्चैतत्तया सम्मोह्यते जगत्···सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ; भा० (१०/१/२५)।

करना चाहते हैं, उन्हें इन्हीं महामाया की कृपा की आवश्यकता होती है[51] कारण, महामाया ही ब्रह्मविद्या की अधिष्ठात्री हैं।[51] इसीलिए ज्ञानमार्गी उपनिषदों में बार-बार कहा गया है कि, किसी भी तपस्या किसी भी तंत्र-मंत्रादि के द्वारा भगवान् का दर्शन संभव नहीं हो सकता, जबतक कि वे स्वयं कृपा नहीं करते।[52] उस कृपा को प्राप्त करने के लिए और माया मोह के जाल को काटने की शक्ति पाने के लिए ही, शक्तिवादी उस भगवत्शक्ति की आराधना करते हैं। दूसरी तरफ महामाया से जिस 'रूप', 'जय' एवं 'यश' की प्रार्थना की जाती है, उसकी आध्यात्मिक व्याख्या है—परमात्मरूप और उनके ज्ञान की प्रार्थना ; 'विद्यावन्त' बनने[53] की जो प्रार्थना है, वह ब्रह्मविद्या की ही प्रार्थना है।

मूर्ति पूजा की सार्थकता : भक्तिमार्ग :

प्रतीत हो सकता है कि, मूर्ति पूजा मात्र एक प्राथमिक सोपान है। परन्तु ऐसा नहीं। भक्तिमार्ग के अनुसरण-कर्ता यह विश्वास करते हैं कि अनन्त शक्तिमान, विश्वव्याप्त, विश्वमूर्ति ईश्वर के लिए किसी भी प्रकार के रूप का अवलंबन करना संभव है। अतः साधक जिस रूप में एकाग्रचित्त होकर उनका ध्यान करता है, यदि

---

51. चण्डी (४/९)-'मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषैर्विद्यासि सा भगवती···' नीलकंठकृत शप्तसत्यंग-षट्क-व्याख्यान।

52. श्वे० (३/२० ; ६/२१)-धातुः प्रसादात्' ; 'देवप्रसादाच्च' ; क० (१/२/२३)-'···यमेवैष वृणुते···' ; (मु० ३/२/३)।

53. अर्गलास्त्रोत्र (१७)। इसीलिए महामाया को एकप्रकार से 'भोगस्वर्गा-पवर्गदा' (चण्डी-१३/५) भी कहा गया है, सकाम उपासना करने पर ऐश्वर्य प्राप्त होगा तथा निष्काम भावना से उपासना करने पर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है [चंडी (१२/३७)-'साऽयाचिता च विज्ञानं··प्रयच्छति' (१३/२५)-'···संसिद्ध्यै तव ज्ञानं भविष्यति']।

वह सिद्धि प्राप्त करने योग्य है, तो ईश्वर उसी रूप में उसे दर्शन देते हैं।

'सेयं शक्तिर्महामाया सच्चिदानन्दरूपिणी।
रूपं विभर्त्यरूपा च भक्तानुग्रहहेतवे ॥[54]

अर्थात् उसी सच्चिदानंद की पराशक्ति ही अरूप होकर भी भक्तों पर कृपा करने के लिए इच्छित रूप धारण करती है। इसीप्रकार रामकृष्ण, रामप्रसाद, वामाक्षेपा जैसे प्रमुख साधकों ने अपने स्वयं के ईष्टदेव की मूर्तियों में ही सिद्धि प्राप्त की थी।

जो निराकार हैं, वे ही साकार हैं और साकार का अवलंबन करने पर उस निराकार के पास ही पँहुचा जाता है, यह तत्त्व रामकृष्ण परमहंस देव स्वीय प्रत्यक्ष दर्शन के द्वारा बार-बार कह गए हैं।[55] जो स्वयं ही सच्चिदानंद के चिन्तन में समर्थ हैं उनके लिए निराकार, निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई भी सत्ता नहीं है।[56] परन्तु "ज्ञान योग अत्यन्त ही कठिन है। देहात्मबोध समाप्त नहीं होने तक ज्ञान नहीं होता"।[57] अतः जबतक 'मैं' और 'तुम' की भावना है, जबतक 'मै प्रार्थना या ध्यान कर रहा हूँ' इसप्रकार का ज्ञान है, तबतक 'आप' (ईश्वर) प्राथना सुन रहे हैं, यह ज्ञान भी है अर्थात ईश्वर के व्यक्ति होने का बोध है···तबतक सगुण ब्रह्म को ही मानना होगा'।[58] इन दोनों के मध्य विरोध नहीं है। "नित्य के सहारे लीला और फिर लीला के सहारे नित्य है। चित्समुद्र का कोई अंत नहीं है। उससे ही यह सब लीला उत्पन्न हुई, और उसमें

54. दे० भा० (५/८) ; ब्र० सु० (१/१/२०)-'स्यात् परमेश्वरस्यापीच्छा-वशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहम्'।
55. कथा० (१/६२, २२६)।
56. कथा० (१/६२ ; १/२२८) कै० (१/१७-२४)-'यत् परं ब्रह्म शुद्धं परमात्मरूपम्'।
57. कथा० (१/८२)।
58. कथा० (१/१९५)।

ही विलीन हो गयी''।[58] ''भक्ति रूपी हिम के द्वारा कहीं-कहीं उसी समुद्र का जल जम जाता है; अर्थात भक्तों के समक्ष वे साक्षात् होकर कभी-कभी साकार रूप में दर्शन देते हैं। और फिर ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने पर वे वर्फ की तरह गल जाते हैं''।[56]

इसलिए साकार की उपासना करनेवाले परिणाम में उसी निराकार में जा पहुंचते हैं। ''काली का चिन्तन करते-करते साधक मा काली के रूप में ही उनका दर्शन पाता है। उसके बाद वह देखता है कि, वह रूप अखण्ड में लीन हो गया''।[59]

जो मूर्ति पूजा करते हैं वे वस्तुतः अद्वितीय परब्रह्म की ही उपासना करते हैं, इस विषय में सामान्य चर्चा कर वर्तमान प्रसंग को समाप्त करुँगा।

जो उनकी पूजा वासुदेव के रूप में करते हैं, उनका विश्वास है कि भगवान अरूप (रूपहीन) हैं, लेकिन वे स्वय के मायागुण से विविध रूपों में इस विश्व में प्रगट हुए हैं[60]; और अरूप के विग्रह वासुदेव का भक्ति भाव से भजन करने पर ब्रह्मदर्शन, आत्म दर्शन तथा मोक्षप्राप्ति सुलभ होती है।[61]

यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जो माता के रूप में आद्याशक्ति की पूजा करते हैं, वे भी ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति में सहायता के लिए महामाया की कृपा प्रार्थना करते हैं। रामकृष्ण, रामप्रसाद जैसे माँ काली के प्रमुख साधकों ने बार-बार कहा है कि 'जो काली हैं वे ही ब्रह्म हैं'।[62] ब्रह्म के साथ आद्याशक्ति

59. कथा० (४/८६)।

60. भा० (१/३/३०)-'एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनि'; वासु०-'...मद्रूपमद्वयं ब्रह्म...चाव्ययम्'।

61. भा० (१/२/११-१२)-'वदन्ति...श्रुतगृहीतया'; (१/२/२१)-'एवं...दृष्ट एवात्मनीश्वरे'।

62. कथा० (१/४४, ४/२२७, ५/६६); दे० भा० (५/८); रूद्रयामल में (४७) महामाया को 'परब्रह्म' कहा गया है।

के संबंध को 'अर्धशिक्षित' श्री रामकृष्ण परमहंस ने जिस प्रकार सहज एवं सरल भाषा में समझाया है उससे अच्छी व्याख्या आजतक कोई भी शास्त्रज्ञ पण्डित शायद ही दे पाया हो।

श्री रामकृष्ण ने कहा "जब वे निष्क्रिय रहते हैं, सृष्टि-स्थिति-प्रलय का कोई कार्य नहीं करते—जब ऐसा सोचता हूँ, तब उन्हे ब्रह्म कहता हूँ। जब वे इन सभी कार्यों को करते हैं तब उन्हें काली कहता हूँ, शक्ति कहता हूँ"।[63]

दुर्गा पूजन का ब्रह्मतत्व :

दुर्गोत्सव के समय जिन मंत्रों का उच्चारण होता है, उस पूजन में भी निराकार ब्रह्म को अधिष्ठित देखते हैं। सर्वप्रथम आचमन मंत्र है—

'ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः
दिवीव चक्षुराततम्'।

यहां 'विष्णु' का अर्थ विश्वव्यापी है और 'पद' स्थान के अर्थ में व्यवहृत हुआ है ; उन्हें देखने के लिए ऋषि अपने नेत्रों को आकाश की ओर लगाए रहते हैं, क्योंकि वे 'आकाशमयविग्रह' हैं।[64] 'तद्विष्णोः परमं पदम्' का वाक्य कठोपनिषद् के १/३/९ श्लोक में आता है। इसी प्रसंग में आए वाक्य की व्याख्या 'ब्रह्म के स्वरूप' इस प्रकार भी की गयी है। अतः देखा जा रहा है कि प्रतिमा पूजन का लक्ष्य प्रारम्भ से ही ब्रह्म दर्शन या ब्रह्म उपलब्धि ही रहा है।

इसके बाद के स्तर में प्रणव जप कर प्राणायाम[65] करना पड़ता है। यह प्रणव या ॐ प्रत्येक मंत्र के पूर्व उच्चारित होता है। यह

---

63. कथा० (५/३८, ६६, ६६)।
64. प० ब्र० (१४)।
65. का० पु० (६३/१४)-'···अत्रोक्तेन···प्राणायामं तथा चरेत्।'

पहले ही कह चुका हूँ कि, यह ब्रह्म का प्रतीक है। अतएव प्रतिमा पूजन की मानसिकता के मूल में ब्रह्म ही है। इस प्रकार शरीर शुद्धि के पश्चात् जीवात्मा को हृदय में स्थापित कर सोऽहं' मंत्र के द्वारा प्राणायाम प्रक्रिया से पूजक जीवात्मा के साथ परमात्मा का संबंध स्थापित करेंगे तथा स्वयं के देह मंदिर में ही परमात्मा प्रतिष्ठित हैं, इस प्रकार की धारणा कर, अपने हृदय को संबोधित कर प्राण प्रतिष्ठा के मंत्र का उच्चारण करेंगे, जिसका अर्थ है— हे आराध्य देव, तुम मेरे ब्रह्मज्ञान-पूत हृदय में अधिष्ठित हो, और अब इस प्रतिमा में भी अवतरित होओ। इसके द्वारा प्रमाणित हुआ कि, प्रतिमा पूजन की पटभूमि में निराकार ब्रह्म ही हैं, एवं वैदान्तिक 'सोऽहं' या देव भाव को जाग्रत करने में प्रतिमा पूजन एक उपाय स्वरूप है। साधक के मन में जबतक पशुत्व की समाप्ति हो कर देवत्व का जागरण नहीं होता, तबतक प्रतिमा पूजन शुरू ही नहीं हो सकता। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' का यही तात्पर्य है। अतएव प्रतिमा पूजा का मुख्य उद्देश्य ढाक (वाद्ययंत्र) का स्वरघोष या घंटे की ध्वनि नहीं है, वरन् अपने देवत्व को जाग्रत करना है। उपास्य देव किसी मिट्टी के पुतले नहीं हैं बल्कि वे साधक के हृदय रूपी कमल पर अधिष्ठित सदा जाग्रत रहने वाले देवता हैं तथा प्रतिमा मात्र उनकी छाया है। एक तरफ ईश्वरीय शक्ति की प्रतीक उस प्रतिमा को देखने से साधक का देवत्व उद्दीप्त होता है, तो दूसरी तरफ उसी उद्बुद्ध जीवात्मा को परमात्मा के साथ एक कर उन्हें ही प्रतिमा में स्थापित कर पूजा की जाती है। इसी कारण पूजा के प्रारंभ में ही अंगन्यास, तथा ध्यान के पश्चात् पूजक अपने मस्तक पर पुष्प प्रदान कर 'मानसिक उपचारों' के साथ पूजा करता है।[66] इसप्रकार, जिस एकात्मकता को सम्पन्न करना वेदान्त का लक्ष्य है,

66. तु: म० नि० त० (५/१४२)-'एवं ध्यात्वा स्वशिरसि पुष्पं दत्त्वा···मानसैरुपचारकैः'।

प्रतिमा पूजन उसी की एक सर्वजनग्राह्य पद्धति है। यह ब्रह्म चिन्तन तथा दुर्ज्ञेय ब्रह्ममें चित्त को स्थापित करने में सार्थक सहायक स्वरूप है। यह एक प्रकार से चित्तशुद्धि, आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान का मधुर समन्वय है।

यदि प्रतिमा को ही ईश्वर माना जाता तो फिर पूजा के उपरान्त उस प्रतिमा को जल में विसर्जित करना संभव नहीं था। लेकिन विसर्जन की परिकल्पना से भी यह प्रमाणित होता है कि, प्रतिमा मात्र ब्रह्म की अनुभूति का अवलंबन है। साधक ने जिस देवता को, स्वयं के प्राणों का उत्सर्ग कर, प्रतिमा में प्रतिष्ठित किया था, पूजा की समाप्ति पर उसी तेज को वह अपने हृदय में पुनः स्थापित कर लेता है, यही विसर्जन का अर्थ है। 'संहारमुद्राय तत्तेजः पुष्पैः सार्द्धं सहृदयमानयेत्।' हिन्दू शास्त्रों में कहीं भी मिट्टी या पत्थर की बनी प्रतिमाओं को ईश्वर नहीं कहा, बल्कि कहा है कि, उनकी उपमा या सादृश्य की कोई वस्तु इस इन्द्रियग्राह्य संसार में नहीं है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति···'।[67] परन्तु पहले ही कहा गया है कि, ब्रह्म इन्द्रियों की अनुभूति से परे हैं। ब्रह्म के विषय में धारणा करने में सहायता के लिए ही ऐसे प्रतीक की आवश्यकता है जिससे उनकी अनंतशक्ति का कुछ आभास या संकेत पाया जा सके। मिट्टी से निर्मित मूर्ति का उपादान मिट्टी ही है, इस प्रकार का तथ्य हिन्दू कभी भी अस्वीकार नहीं करते। लेकिन, साधक के आत्मनिवेदन के द्वारा ही उस जड़ प्रतिमा को तेजोदीप्त किया जा सकता है, यह हिन्दू साधकों का मात्र विश्वास ही नहीं है, बल्कि उन्होंने उसे प्रमाणित भी कर दिखाया है। यह मात्र पुतलों की पूजा या पौत्तलिकता नहीं है।

---

67. श्वे० (४/१९/२०)-'···न तस्य प्रतिमा···हृदा हृदिस्थं य एनमेवं विदुः···।

इसप्रकार से प्रतिमाओं को तेजोदीप्त या चिन्मय करने के जो उपाय पूजापद्धतियों में हैं, उन्हें ही 'प्राण प्रतिष्ठा' कहा जाता है। यह पुजारी का स्वीय ब्रह्मत्व साधन का एक उपाय है। प्रतिमा तो उसका उपकरण मात्र है।

विभिन्न देवी देवता ब्रह्म से अभिन्न हैं :

मुर्ति उपासना के पूर्वलिखित तत्त्वों को हृदयगम करने पर अनुभव होगा कि, शाक्त, वैष्णव, शैव इत्यादि हिन्दू धम के विभिन्न सम्प्रदायों में बीच-बीच में जो तर्क-वितर्क होता है, वह युक्तिहीन तथा निरर्थक है। सवंगुण सम्पन्न सर्वशक्तिमान ईश्वर को सम्पूर्ण रूप से ध्यान में लाना अत्यन्त दुरूह होने के कारण ही उनके विभिन्न शक्तिओं की आंशिक रूप से उपासना की जाती है। इसमें किसी भो प्रकार से बड़े-छोटे का प्रश्न ही नहीं उठता। रामकृष्ण, राम प्रसाद जंसे जन्मजात साधकों के लिए हरि एवं हर, कृष्ण तथा काली में किसी भो प्रकार का भेद ही नहीं था ; क्योंकि वे एक ही ईश्वर के विभिन्न रूप या अभिव्यक्ति हैं। अतः उन्हें पिता, माता, सखा या प्रभु किसी भी रूप में पुकारने पर भक्त के साथ ईश्वर का निकटतम सम्बन्ध प्रतीत होता है। निष्ठा पूवंक जिस रुप के मनन द्वारा ब्रह्म की उपलब्धि का मार्ग सुगम होता है, भक्त उसी रुप को अपने उपास्य या 'इष्ट' के रूप में ग्रहण कर सकता है (यह अवश्य है कि गुरु इष्टरूप के निर्वाचन में उसे निद्दश दंगे)।

विभिन्न देवी-देवताओं में उत्पन्न किया गया यह भेद शास्त्र सम्मत नहीं है, बल्कि यह साम्प्रदायिक स्वार्थों की रक्षा के लिए परवर्ती काल के संकीर्ण विचारों वाले धार्मिक नेताओं का कृत्य है। स्कन्दोपनिषद में ऐसा कहा गया है—

'यथा शिवमयो विष्णुरेयं शिवः। यथान्तरं न पश्यामि तथा मे स्वस्तिरयुषि'। अर्थात विष्णु जिसप्रकार शिवमय हैं, शिव भी उसो

प्रकार विष्णुमय हैं ; मेरा जीवन ऐसा मंगलमय हो कि, मैं इनमें किसी भी प्रकार का भेद न देखूं[68]। कैवल्योपनिषद् के अनुसार 'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालाऽग्निः स चन्द्रमाः'।

इस अभेदत्व के कारणों का उल्लेख तो हमने पहले ही किया है कि, ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये सभी ब्रह्म की ही शक्तियाँ हैं तथा ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। सृष्टि, स्थिति तथा सहार के लिए वे सृजन, पालन तथा संहारक शक्तियों का उपयोग करते हैं। ये शक्तियां उनकी स्वयं की अन्तर्निहित शक्तियां हैं और जब वे इन सभी कार्यों को करने के लिए इन तीनों प्रकार की शक्तियों का प्रयोग करते हैं, तब उसी ब्रह्म को ही हम क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु महेश के नामों से अभिहित करते हैं। इनमें विरोध उत्पन्न होने का कोई प्रश्न ही नहीं है ; क्योंकि ये 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म से अभिन्न हैं। जिन सब पुराणों के कारण भिन्न-भिन्न सत्ता एवं मतों का निर्माण हुआ है, उनमें अग्रगण्य 'विष्णु पुराण' के अनुसार—

"ब्रह्माविष्णुशिवाः प्रधानाः ब्रह्मशक्तय :।"[69]

अवश्य ही यह बात सत्य है कि, साधनात्मक शास्त्रों में (उदाहरण स्वरूप पुराणों, आगमों में) अपने-अपने उपास्य देवताओं या देवियों की स्तुति उन्हें सर्वश्रेष्ठ कहकर की गयी है। इन सब उक्तियों से ही साम्प्रदायिक कलह उत्पन्न हुआ है। लेकिन यह झगड़ा इन शास्त्रों में नहीं है, बल्कि यह अज्ञानी एवं संकीर्ण मनोवृत्ति वाले भक्तों के मन में है। 'निष्ठा' साधनमार्ग का एक अत्यावश्यक तथा अपरिहार्य उपकरण है। इसलिए गुरु के द्वारा निर्देशित मार्ग तथा 'ईष्टदेव' के ऊपर अविचल आस्था नहीं रहने पर यह संक्षिप्त

68. भा० (११/४/५)-'आदावभूच्छतधृती···पुरुषः स आद्यः···'।
69. विष्णु (१/१२/५६)।

मानव जन्म, एक मतवाद से किसी अन्य मत की ओर या एक उपास्य से दूसरे उपास्य को हृदय में मनोनित करने की प्रक्रिया में ही समाप्त हो जाएगा। इन्हीं कारणां से, अपने इष्टदेव के प्रति दृढ़ रूप से निष्ठावान बनाने के लिए ही प्रत्येक देवदेवी के प्रवक्ताओं ने उन देवताओं या देवियों के महात्म्य का विशेषरूप से वर्णन किया है,—किसी दूसरे को हीन प्रमाणित करने के लिए नहीं। प्रत्येक शास्त्र में अंकित है कि, ब्रह्मप्राप्ति ही मानव जीवन का उद्देश्य है, एवं ब्रह्म के जिस किसी भी रूप की उपासना क्यों न करें, अंत में उसी ब्रह्म के ही पास पहुँचना है।[70] यही नहीं, ऐसा भी कहा गया है, जबतक यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा कि, विभिन्न देवी-देवता एक ही ब्रह्म के प्रतिबिंब या प्रतिरूप मात्र हैं, तबतक किसी भी देवता की उपासना में सिद्धि प्राप्त नहीं होगी—'ऐक्यज्ञानं बिना देवि कथं सिद्धिमवाप्नुयात्'।[71] इसका कारण यह है, जिस इन्द्रियग्राह्य मूर्ति की उपासना की जाती है, वे तो ब्रह्म नहीं हैं।[72] जो सभी इन्द्रियों की दृष्टि से परे हैं तथा जिनसे इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है, वे ही ब्रह्म हैं वे ही एकमात्र उपास्य हैं। उन्हें जाने बिना मुक्ति नहीं होगी।[73-74]

ज्ञान मार्ग :

अतएव यह प्रमाणित हुआ कि, मूर्ति पूजा ज्ञानमार्ग के विपरीत तो है ही नहीं, वरन् उसकी एक सहायक प्रक्रिया है। क्योंकि

70. कथा० (४/१०५)।
71. यही विवर्तनवाद की शिक्षा है-'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा, विवर्त्त इत्यु-दीरितः'।
72. म० नि० त० (१४/११७-११९)-'बालक्रीडनवत् ··न यान्ति ते' : (१४/२३५)-'आत्मज्ञानमिदं·· '।
73. के० (१/५-९)।
74. के० (२/४-५) ; श्वे० (३/८) ; (६/५)-'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ; कै० (९)-'···ज्ञात्वा तं···विमुक्तये।'

जबतक चित्त की मलिनता तथा विक्षेपरूपी विकार को दूर नहीं किया जाय, तबतक उस मलिन एवं विक्षिप्त चित्तदर्पण में ब्रह्म का प्रतिबिंबित या प्रकाशित होना संभव नहीं है ; यह तो पहले ही कह दिया गया है। इन्द्रियभोग्य विषयों के प्रति अत्यधिक आकर्षण ही चित्त की मलिनता है। और फिर वह आकर्षण ही चित्त को विषय से विषयान्तर में भ्रमित या बेलगाम घोड़े की तरह निरंतर दौड़ाता रहता है। ऐसे मन के लिए ब्रह्म के चिन्तन का अवकाश कहां है ? ब्रह्म के प्रतीक के रूप में मूर्ति की उपासना, सभी प्रकार के विषयों की चिन्ता से मुक्त कर, चित्त को इष्टदेव पर ही केन्द्रित कर देती है। इस तरह सिद्धि प्राप्त कर श्री रामकृष्ण परमहंस जैसे साधकों ने सत्य ही इसकी उपलब्धि की कि, उनकी उपास्य मूर्ति जड़ न होकर, चिन्मयी हैं—उस समय 'देवी काली तथा ब्रह्म एकाकार' हो जाते हैं।[75] इस प्रकार जो अविद्या साधक के अन्तर्निहित आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान को छिपाए हुए थी, वह भी दूर हो जाती है। तब साधक को यह ज्ञात होता है कि, जो सब में एवं सभी स्थानों पर विद्यमान हैं, वे ही प्रतिमा में तथा उसके अन्तस्थल में भी विराजमान हैं। इस प्रकार से ज्ञानमार्ग में भी प्रतिमा पूजन स्थूल से सूक्ष्म के प्रति अग्रसर होने की प्रणाली को शिक्षा देकर ब्रह्मविद्या में सहायक होती है[76] तथा इस प्रकार मूर्तिपूजक भी चरम स्तरपर पहुंचकर 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने में समर्थ होता है।

---

75. कथा० (१/२१ ; ४४ ; १/२२-२८ ; २४१-५३ ; २/११५ ; ५/३४, ३९, ५२, ७०, १०३) ; राम प्रसाद के गीता कथा० (२/१६४)।
76. इसके सर्वोत्कृष्ट प्रमाण अकृत्रिम अद्वैतवादी शंकराचार्य स्वयं हैं। द्वैत-रूप में ब्रह्म की कल्पना करना वेद के विरूद्ध है तथा ज्ञान की सहायता से इस द्वैतवाद को समाप्त करना ज्ञानमार्गी का लक्ष्य है [श० वि० (२४४)-'अथात अदेश···तयोर्निरासः करणीय एव च'], इस प्रकार की वाणी प्रचारित करने के वाद भी, उन्होंने स्वयं के द्वारा स्थापित प्रत्येक

कुछ पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों ने यह मत प्रकाशित किया है कि, यदि मिट्टी तथा पत्थर की पूजा देवता के रूप में की जाय तो फिर लकड़ी, ईंटों जैसी किसी भी वस्तु की पूजा की जा सकती है। इसका उत्तर यही है कि, यह भी संभव है। यदि साधक को यह ज्ञान हो कि, जड़, चेतन जैसे ईश्वर सृष्ट प्रत्येक पदार्थ में ही ईश्वर स्वयं विद्यमान हैं, तो फिर सम्पूर्ण विश्व में जिस किसी भी वस्तु को देखने पर ही उसके हृदय में अनन्तरूपोंवाले स्रष्टा का चिन्तन उत्पन्न हो जाएगा। जो सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने में समर्थ हुए हैं, वे मार्ग के धूलिकणों को भी चंदन के सदृश्य मानते हुए उसका तिलक लगा सकते हैं। 'मधुमत् पार्थिवं रजः'[77]। वे कुत्तोंके साथ भी जुठा भोजन कर सकते हैं। यहां तक कि वे अपनी स्त्री की पूजा भी जगत्‌माता के रूप में कर सकते हैं।[78] नाले कुड़े-कर्कट इत्यादि उनकी दृष्टि में अलग नहीं दिखाई पड़ते ; वे मात्र देखते हैं—'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'[79] जो कुछ भी नेत्रों से दिखाई देता है ; वह कृष्णमय हो जाता है 'जहां नेत्र पड़े तहां कृष्ण स्फुरे'[80]

इन्द्रिय वशीभूत मन के द्वारा हिन्दू धर्म के इस विराट तत्व की उपलब्धि संभव नहीं।

मठ में विभिन्न प्रकार के देव मूर्त्तियों की स्थापना कर उनकी पूजा की व्यवस्था की है। अतः यह समझना होगा कि उन्होंने जनसाधारण के अधिकारभेद को ध्यान में रखकर ही ऐसा किया है।

77. ऋक्० (१/९०/६-९)।
78. श्री रामकृष्ण परमहंस।
79. मु० (२/२/७)।
80. चैतन्यचरितामृत।

पंचम अध्याय

विभिन्न मार्गों का समन्वय

हिन्दू धर्म में मानव जीवन का लक्ष्य :

इस पुस्तक के प्रारभ से ही बार-बार यह कहा गया है कि, परमात्मा के साथ जीवात्मा का संबंध स्थापित करना ही मानव जीवन का उद्देश्य है। और यह भी कहा गया है कि, जबतक मनुष्य अपने पार्थिव शरीर की संकीर्णता एवं कामनाओं के नागपाश में आबद्ध रहेगा तबतक असीम के साथ उसके मिलन की कल्पना मात्र आकाश-कुसुम ही होगी। स्वयं को इस देह के कारागार से मुक्त कर देवत्व में जबतक आरोहण नहीं किया जाएगा तवतक ब्रह्मदर्शन किस प्रकार संभव है ?[1] सम्पूण हिन्दू धर्म ही, नरत्व से देवत्व को प्राप्त करने के उपायों के आविष्कारों का निरतर अनुसंधान एवं परीक्षण-निरीक्षण है।

यह अवश्य है कि एक ही लक्ष्य पर पंहुचने के लिए विभिन्न ऋषियों, साधकों एवं शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न मार्गों को निर्दशित किया है, लेकिन इन सभी मार्गों का गन्तव्यस्थल एक हो है ; इस प्रकार का बोध हो जाने के उपरान्त हिन्दू धर्म के आपात विरोधी पंथ एवं मतवादों के बीच सभी विभेद स्वतः ही समाप्त हो जाएंगे।

विभिन्न मतवादों का कारण :

हिन्दू धर्म के विभिन्न मतवादों की उत्पत्ति के कारणों पर पहले अध्याय में ही हमने विवेचन किया है। प्रधानतः दो कारण हैं— (क) धर्म के चिन्तन में स्वाधीनता तथा (ख) अधिकारवाद। प्रत्येक

---

1. वृ० (४/४/६)-'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।

मनुष्य में जन्मगत वैषम्य अनिवार्य है, अतः सभी मनुष्यों के लिए तथा सभी स्तरों में एक ही व्यवस्था तर्क संगत नहीं हो सकती।[2] एक वृद्ध का पथ्य एक शिशु को देने पर उसका प्राणान्त हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है। इसके अतिरिक्त जो तत्व इन्द्रियग्राह्य नहीं है या वास्तव प्रमाण सापेक्ष नहीं है, बल्कि परम अतीन्द्रिय अनुभूति का विषय है, उस विषय में किसी एक व्यक्ति के मतवाद को ही एकमात्र उपाय के रूप में प्रचारित करना चरम धर्मान्धता के सिवा और क्या कहा जा सकता है? हिन्दू ऋषि इस प्रकार के कार्य से विरत रहे, यह उनको व्यर्थता या कल्पनाविलास नहीं, बल्कि अतीन्द्रिय जगत में प्रत्येक साधक की स्वाधीन गवेषणा एवं अभिज्ञता का परिचायक है। इस अभूतपूर्व स्वाधीनता का उत्कृष्ट प्रमाण यही है कि, विभिन्न पंथावलम्बियों ने निरीक्षणोपरान्त एक ही लक्ष्य को पाया और एक गन्तव्यस्थल पर पहुँचे।

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति :

हिन्दू धर्म में अनेक मत एवं मार्ग होने पर भी सही दिशा निर्देशन करनेवाले मात्र दो ही मार्गों को माना जा सकता है—प्रवर्तक एवं निवर्तक या प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग।[3] वर्तमान विवेचना में कुछ दूर जाने पर ही हम देखेंगे कि, इन दो मार्गों के बीच कोई चरम विरोध नहीं है, दोनों का गन्तव्य स्थल एक ही है। केवल अधिकार भेद या आध्यात्मिक विकास के स्तर भेद के कारण उनके अनुशासनों में कुछ भिन्नता है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन के प्रारंभ में ही उसके पूर्व संस्कारों के अनुसार इन दोनों मार्गों में किस मार्ग पर उसकी यात्रा परिचालित होगी, यह निर्धारित होता है। यदि निष्ठा के साथ अपने-अपने मार्ग के कर्मसूचियों का पालन किया

2. मनु (१२/८८)-'...प्रवृत्तिच निवृत्तिच द्विविधं कर्म वैदिकम्'।
3. कथा० (१/२१)।

जाता रहे, तो फिर अंत में देखा जाएगा कि इन दो भिन्न मार्गों के पथिक एक ही लक्ष्य पर आकर पहुँचेंगे तथा उस अवस्था में उनके कार्यक्रम भी एक हो जाएंगे।

हमलोगों ने देखा कि, मनुष्य के अन्तर्निहित देवत्व को प्रकृति की माया या अविद्या[4] तमावृत किए हुए है। यह अविद्या अथवा अज्ञानता हमें अमृतत्व से वंचित कर इस अनित्य देह एवं उससे भी अधिक क्षयशील शरीर के भोग उपकरणों के प्रति आसक्त किए हुए है। वही आसक्ति हमें जन्म तथा मृत्यु के चक्र में आबद्ध कर निरंतर रोग-शोक-जरा जैसे अपार दुःखों का कारण बनती है।[4] अतएव सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि, प्रकृति पर विजय प्राप्त करने पर ही सारे दुःखों की समाप्ति होतो है, तथा ब्रह्मत्व प्राप्ति के मार्ग की सभी बाधाएं दूर होती हैं। हिन्दू धर्म ने इसीलिए अपने पहले ही उपदेश में प्रकृति पर विजय प्राप्ति के लिए दो विकल्प समाधानों की व्यवस्थाएं की हैं।

प्रवृत्ति मार्ग तथा सकाम कर्म :

(क) पहला मार्ग तो सहज बुद्धि के द्वारा सृष्ट हुआ है। हम यदि क्षुधा-व्याधि-जरा (संभव होने पर मृत्यु) इत्यादि को दूर करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं तो फिर प्रकृति हमें किस प्रकार और दुःख दे सकती है? लेकिन प्रकृतिजन्य सभी कष्टों तथा व्याधियों के निवारण हेतु असीम शक्ति, ऐश्वर्य एवं वास्तविक विद्या का सर्वांगीण विकास आवश्यक है।

इसीलिए प्रवृत्ति मार्ग में कामना एवं कर्म की अधिकता है। स्वयं के प्रयास से संभव न होने के कारण स्रष्टा से प्रार्थना की जाती है, एवं इस 'देहि देहि' प्रार्थना की पराकाष्ठा हम मार्कण्डेय चण्डी

4. क० (१/२/५) ; मु० (१/२/८)-'अविद्यायामन्तरे···यथान्धाः'।
5. चण्डी (अर्गला, ३-२६)-'···रूपं देहि जयं देहि···'।

के अर्गलास्तोत्र में पाते हैं। वहां मनुष्य के ऐहिक सुख एवं अभ्युदय तथा दु:खों के निवारण के लिए रूप, जय, यश, श्री, सौभाग्य, आरोग्य, शत्रुनाश इत्यादि[5] जो कुछ आवश्यक माना गया है, जगत्‌जननी चण्डिका के समक्ष उन सब की प्रार्थना को गयी है। वैदिक यज्ञ-कर्म आदि भी प्रवृत्ति मार्ग के अन्तर्गत आते हैं।[6]

परा एवं अपरा विद्या :

जिस मार्ग पर चलकर मनुष्य सत् या पुण्य कर्म करेगा, वह ऐहिक या भौतिक सुखों के लिए तो है ही, साथ ही उसका उद्देश्य मृत्यु के पश्चात् स्वर्गसुख की प्राप्ति भी होगी। जिस विद्या के द्वारा मोक्ष लाभ अथवा ब्रह्मप्राप्ति नहीं होगी, उस प्रकार के शास्त्रों के अध्ययन या अध्यापन को भी प्रवृत्ति मार्ग के अन्तर्गत रखा गया है। क्योंकि इसप्रकार के विद्याओं की परिचर्चा से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है लेकिन ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव 'ब्रह्मविद्या' या जिस विद्या को जानने पर अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो जाएगा, उसे ही 'परा' विद्या ; तथा वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष पाठ के वाह्य अनुष्ठान को 'अपरा' विद्या कहा गया है।[7]

इस प्रकार लोक कल्याण के लिए यज्ञादि, दान, वृक्षरोपण, तालाबों तथा धर्मशालाओं के निर्माण इत्यादि सुकृतकर्मों के द्वारा देहावसान के पश्चात् स्वर्ग में स्थान प्राप्त होता है।[8] यहाँ तक कि देवताओं के समान सुखों का भोग किया जा सकता है।[9] तथापि यह स्वर्ग सुख भी चिरस्थायी नहीं होगा, पुण्यकर्मों का फल भी

6. मु० (१/२/१-७)-'...मन्त्रेषु कर्माणि...पुनरेवापि यान्ति'।
7. मु० (१/१/४-५)-'द्वे विद्ये वेदितव्ये ..तदक्षरमधिगम्यते'।
8. मु० (१/२/१०)-'इष्टापूर्तं...नाकस्य पृष्ठे विशन्ति' ; छा० (८/१/६)-'तद् यथेह कर्मजितो.. पूण्यजितो लोकः क्षीयते...' गी० (९/२०/२१)-'त्रैविद्या...मर्त्यलोकं विशन्ति...'।
9. क० (१/१/१२-१८)-'स्वर्गे लोके...मोदते स्वर्गलोके'।

भोग के द्वारा क्षीण होता जाता है और एक दिन उस संचित सुकृति का भण्डार समाप्त हो जाने पर पुनः मानव देह धारण कर जन्मग्रहण करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।[8] अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। एकमात्र 'ब्रह्म संस्थ' होने पर ही यह संभव है।[10]

निवृत्ति मार्ग या निष्काम कर्म :

(ख) यदि कामना एवं कर्म दुःख तथा सांसारिक बंधनों का कारण है, तो फिर सभी वासना तथा कर्मों का त्याग कर एकमात्र ब्रह्मनिष्ठ होने पर सारे दुःखों का अवसान तो होगा ही, साथ ही मोक्ष प्राप्ति भी सहज हो जाएगी।[11] इसको ही निवृत्ति मार्ग या सन्यास कहा जाता है।

प्रकृति के नियमानुसार हमारी प्रत्येक इन्द्रिय वहिर्मुखी है[12] : इसीलिए हम अपने हृदय में स्थित अथाह आनंद के उत्स परामात्मा को नहीं देख पाते,[13] तथा अनित्य सुख के विषय वस्तुओं के प्रति इन्द्रियों द्वारा आसक्त होकर जन्म से जन्मांतरों में घूमते रहते हैं। अतएव इस शाश्वत दुःख की समस्या का एकमात्र समाधान है इन्द्रियों को उनकी समस्त कामनाओं तथा भोग्य विषय वस्तुओं से निवृत्त कर अन्तर्मुखी करना।[12] जिस पथ पर इस उद्देश्य की सिद्धि होगी, उसे ही निवृत्ति मार्ग कहा जाता है।

परन्तु, हमने पहले ही देखा है कि, दैनन्दिन जीवनयात्रा का निर्वाह करने के लिए, देहधारियों को न्यूनतम होने पर भी इन्द्रियों

---

10. छा० (२/२३/१)-'त्रयो धर्मस्कंधा···ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' ; गी० (२/४२-४४)–यामिमां पुष्पितां वाचं···समाधौ न विधीयते।'
11. गी० (५/२२)–'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते···'।
12. क० (२/१/१)-'परांचि खानि···अमृतत्वमिच्छन्' ; गी० (२/५८)– 'यदा संहरते चायं कुर्मोऽगानीव सर्वशः···'।
13. क० (१/३/११/१२)-'महतः···सूक्ष्मदर्शिभिः।'

के द्वारा परिचालित कुछ कार्य तो करना ही होगा ; उदाहरणार्थ आहार, नित्य-कर्म आदि। यदि ऐसा प्रत्येक कार्य परिणाम में दुःख या बंधन का कारण हो (क्योंकि प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल होता ही है) तो फिर उसके निवारण का उपाय क्या है ?

निवृत्ति मार्ग में, इस समस्या के समाधान के लिए कुछ उपायों की रचना की गई है :

1. इन्द्रियों को भोग का उपकरण नहीं समझ, उन्हें केवलमात्र जीवन धारण की आवश्यकता मानकर, उनका न्यूनतम (कम से कम) तथा परिमित उपयोग करना होगा।[14]

2, इन्द्रियों से प्राप्त सुख चिरस्थायी नहीं होते, इनसे दुःखों की समाप्ति सदा के लिए नहीं होती[15] इसप्रकार का ज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्रियों की भोग तृष्णा कम होगी, इन्द्रियग्राह्य पदार्थ या कर्म के प्रति आसक्ति भी लुप्त हो जाएगी।

जिन्हें इसप्रकार का ज्ञान हुआ है, वे भौतिक पदार्थों से सुखों को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते ; क्योंकि वे अपने अंत: करण से ही असीम आनंद की प्राप्ति कर आत्माराम[16] या भूमानंद हो जाते हैं।

3. जिन कर्मों को करना ही होगा, उन्हें कमल के पत्ते पर स्थित जल के समान[17] अनासक्त रहकर एवं कर्तृत्व अभिमान को

---

14. गी० (४/२१)-'निराशीर्यतचित्तात्मा···शारीरं केवलं कर्म···'; (६/१६-२७)-नात्यश्नतस्तु ··· युक्ताहारविहारस्य ··· युक्तस्वप्नावबोधस्य ··· दुःखहा।'
15. छा० (७/२६/१)-'···नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्।'
16. गी० (५/२१-२४)–'वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा···योऽन्त: सुखोऽन्तराराम: ···'।
17. छा० (४/१४/३)-'यथा पुष्करपलाश आपो···कर्म न श्लिष्यते।' हम इस मंत्र की प्रतिध्वनि गीता के ५/१० श्लोक में पाते हैं-'···लिप्यते··· पद्मपत्रमिवांभसा'। 'कर्मयोग' के प्रसंग में इसकी विस्तृत विवेचना होगी।

त्याग[18] कर सम्पन्न करना होगा। क्योंकि, जो कर्म कामना प्रेरित होकर करने पर 'प्रवृत्त' कर्म होंगे, वे ही कर्म ज्ञान पूर्वक निष्काम होकर किए जाने पर 'निवृत्त' कर्म होकर मुक्ति की प्राप्ति में सहायक होंगे[19] अतः निवृत्ति माग का उद्देश्य नैष्कर्म्य (या कर्महीनता—जो असंभव है) नहीं बल्कि निष्काम भावना से कर्मों का सम्पादन है, और इसे ही गीता में प्रकृत सन्यास कहा गया है।[20]

4. कामनाहीन होने के लिए, वे ईश्वर के सम्मुख भी प्रार्थना नहीं करेंगे।[21] पुत्र, धन, लोक सभी प्रकार की कामनाओं को त्याग कर सन्यास या प्रव्रज्या का अवलंबन करेंगे[22]।

निवृत्ति यदि अपरिहार्य है तो फिर प्रवृत्ति मार्ग की आवश्यकता क्यों ?

देखा गया कि प्रवृत्ति मार्ग में याग-यज्ञ, पुण्यकर्म आदि जो कुछ भी क्यों न किया जाय, उससे स्वर्ग का सुख तो अर्जित हो सकता है, लेकिन मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता ; दूसरी तरफ, निवृत्ति मार्ग में सन्यास योग से परमात्मा के साथ एकाकार हो कर निर्वाण की प्राप्ति होती है।[23] अब यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि, यदि मोक्ष की प्राप्ति ही नहीं होगी, तो फिर हिन्दूधर्मावलंबी कोई भी

---

18. गी० (५/८-९)—'नैव किंचित करोमीति···इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु··· धारयन्।'
19. मनु० (१२/८९-९०)-'इह चामुत्र···भूतान्यत्येति पंच वै ; गी० (४/२०)-'त्यक्त्वा कर्मफलासंग ··नैव किंचित् करोति सः' ; (५/१०-१२)-'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि पद्मपत्रमिवांभसा···सक्तो निबध्यते'।
20. गी० (५/२-३)-'संन्यासः···ज्ञेयः स नित्यसन्यासी···प्रमुच्यते' ; (१८/७-११)-'नियतस्य तु सन्यासः···स त्यागीत्यभिधीयते'।
21. क. (२/१/२)-'···अथ धीरा···न प्रार्थयन्ते'।
22. वृ. (४/४/२२)-'एतमेव प्रव्राजिनो···प्रव्रजन्ति··· ।'
23. मु. (३/२/६)-'···सन्यासयोगाद् यतयः···परिमुच्यन्ति सर्वे ; गी. (५/२४)-'योऽन्तःसुखः···ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति' ; भा. (११/१७/१४)-'···सन्यासः शिरसि स्थितः'।

व्यक्ति प्रवृत्ति के पथ पर जाएगा ही क्यों, जबकि मोक्ष प्राप्ति ही हिन्दू धर्म का लक्ष्य है ?

इस प्रश्न का उत्तर देगा, अधिकारवाद, जिसका हमने बार-बार उल्लेख किया है।

(क) चूंकि मनुष्य का शरीर जैविक है, इसलिए भोजन शयन इत्यादि जैविक क्षुधा भी उसी शरीर की स्वाभाविक वृत्ति है। इसीलिए इन्द्रियग्राह्य भोग्य पदार्थों के प्रति कामना का पूर्ण होना कठिन है[24] तथा इन्द्रियों का राजा मन भी 'पागल घोड़े' के समान बन्धन रहित है।[25] अत: जबतक उस मन को ज्ञान के द्वारा त्याग-धर्म की ओर प्रेरित न किया जाय[26], तबतक केवलमात्र इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा उनकी स्वाभाविक वृत्तियों के प्रतिरोध का प्रयास 'मिथ्याचार'[27] कहा गया है।

(ख) प्रकृति के विवर्तन में पशु जीवन का दूसरा स्तर मानव जीवन है,[28] इसे पाश्चात्य विज्ञान ने हिन्दू ऋषियों से कम-से-कम पाँच हजार वर्षों के पश्चात् स्वीकार किया है। इस विवर्तन में प्रत्येक जीव एक ही दिन में मनुष्य के रूप में विकसित नहीं हो गया। सभी के पूर्व जन्मों के कर्म समान नहीं होते, अतएव जन्म से ही किसी-किसी मनुष्य में जैविक प्रवृत्ति अधिक और किसी किसी में कम देखी जाती है। इन सहजात गुणों में कौन से गुण 'आसुरी' तथा कौन से देवी हैं, इनका विस्तृत विश्लेषण गीता के सोलहवें

24. गी. (३/३६)-'···कामरूपेण···दुष्पूरेणानलेन च'।
25. गी. (२/६०)-'···इन्द्रियाणि प्रमाथीनि···मन:'; गी. (६/३४-३५)-'चंचलं हि मन:···दूर्निग्रहं चलम्: '; क. (१/३/५)-'यस्त्वविज्ञानवान्···दुष्टाश्वा इव सारथे:'।
26. गी. (३/४०-४३)-'इण्द्रियाणि···कामरूपं दुरासदम्'।
27. गी. (३/६)-'कर्मेन्द्रियाणि···मिथ्याचार: स उच्यते'।
28. ऐ. (१/२/२-३)-'ताभ्यो गामानयत्···ताभ्य: पुरुषमानयत्'।

अध्याय में किया गया है। हम पशुत्व से कितना ऊपर उठ पाये हैं, इस प्रकार के प्रश्न के उदय होने पर, गीता का यह अध्याय उसका समाधान कर देगा यहां तक कि मानव जन्म प्राप्ति के बाद भी यदि पशुओं के समान धर्म-अधर्म के ज्ञान से हीन होकर, कामसर्वस्व या हिंस्र क्रूरता पूर्ण जीवन यापन करें, तो फिर पुनः पशुयोनि में जन्म लेने की संभावना रहती है।[29]

(ग) जो भी हो, अधिकांश मनुष्य 'आसुरो' प्रवृत्ति के होते हैं, क्योंकि पशुओं के समान वे अपनी आत्मा का ज्ञान न प्राप्त कर प्राण ('असु') या शरीर को ही सबकुछ मान लेते हैं। अत: निवृत्ति मार्ग ही एकमात्र मोक्षप्रद मार्ग है। सन्यास मानव जीवन का चरमलक्ष्य होने पर भी, जो मनुष्य पशुत्व के स्तर से अधिक ऊपर नहीं उठ पाए हैं, उन्हें यदि एकदिन में ही इन्द्रियभोग को प्रत्येक वस्तु एवं वृत्तियों से निवृत्त होने को कहा जाय तो वह मात्र निष्फल ही नहीं होगा बल्कि उसके हित के प्रतिकूल भी होगा। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं कि, शोक-ताप या सामयिक विराग के वशीभूत होकर कुछ व्यक्ति गृहत्याग कर सन्यास ग्रहण कर लिए, यहां तक कि कुछ समय के लिए सन्यास जोवन व्यतीत भी किये, परंतु अन्तत: पुनः गृहस्थ जोवन में आकर विवाहादि कर उन्होंने शेष जीवन घोर सांसारिकता में व्यतीत किया है।[30] यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि, यदि आज संसार के सभी व्यक्ति सन्यास ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करें, तब भी वह प्रतिज्ञा रुप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शमय प्रकृति के जादू के बल से, क्षण मात्र में बुदबुद की भांति विलोन हो जाएगी और एक दिन में सम्पूर्ण मानव जाति को सन्यासी बनाने की योजना आकाशकुसुम की भांति असंभव हो जाएगी।

29. गी. (१६/१९-२०)-'तानहं···आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि···'। [इस 'असुर योनि' का अभिप्राय इतर पशु जन्म से है]।

30. कथा. (५/२१६)।

दूसरे शब्दों में कहने पर, इन्द्रियों के बहिर्मुखी होने के कारण तथा शरीर धारण की एक नियत समस्या होने के कारण, साधारण मनुष्य 'श्रेय' को छोड़कर 'प्रेय' को ही स्वभाववश अंगीकार करता है, क्योंकि इस प्रेयमार्ग में ही उसके शारीरिक सुख-सुविधाओं के अनुकूल उपकरण प्राप्त होते हैं। लेकिन जबतक इस प्रेय को त्याग कर श्रेय अर्थात् पारमार्थिक कल्याण के मार्ग का अनुसरण नहीं करेगा, तबतक संसार चक्र से उसे मुक्ति नहीं मिलेगी।[31] इसीलिए उपनिषद के ऋषियों ने जैविक शरीर के स्वाभाविक वृत्ति एवं विकार आदि की उपेक्षा न कर, साधारण मनुष्य को प्रवृत्तिमार्ग से ही जीवन यात्रा प्रारंभ करने का निर्देश दिया है। परन्तु यह उसके मनुष्य जीवन की चरम परिणति नहीं है। देह के प्रति अत्यधिक आसक्त व्यक्ति भी कुछ समय के भोग के उपरान्त यह अनुभव करेगा कि दैहिक सुखों की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, समाप्त नहीं होती।[32] इसप्रकार का ज्ञान जिसे जितना शीघ्र होगा, वह उतना ही भाग्यवान् होगा, क्योंकि समय कम है और किस समय जीवन रूपी दीप बुझ जाएगा, इसे कोई भी नहीं कह सकता।

इन सभी स्वाभाविक या प्रकृतिजन्य प्रभावों की विवेचना करके ही ऋषियों ने 'चतुराश्रम' (चार आश्रम) का प्रणयन[33] कर क्रमशः 'सन्यास' की भी व्यवस्था की है।[34] (घ) एक और महत्वपूर्ण कारण है कि, यदि सृष्टि की रचना में कोई उद्देश्य निहित है[35], तो फिर निश्चित रूप से ईश्वर ने इस सृष्टि को विलुप्त करने के लिए मानव का सृजन नहीं किया है[35] यदि आज प्रत्येक मनुष्य सन्यासी हो जाय, तो फिर आधी शताब्दी

31. क. (१/२/१-२)-'अन्यत् श्रेयः···योगक्षेमाद् वृणीते'।
32. मनु (२/९४)-'न जातु कामः···भूय एवाभिवर्द्धते'।
33. जा. (८)-'···ब्रह्मचर्य्यं परिसमाप्य···वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'।
34. क. श्रु. (१/१)-'योऽनुक्रमेण सन्यसति स सन्यस्तो भवति···'।

के पश्चात् मनुष्य रुपी जीव पृथ्वी पर खोजने पर भी नहीं मिलेगा। दूसरी ओर यदि सभी मनुष्य निष्क्रिय होकर कृषि, शिल्प, वाणिज्य इत्यादि का परित्याग कर दें, तब भी यह कर्मभूमि मरुभूमि में परिणत हो जाएगी। इन्हीं कारणों से वैदिक ऋषियों ने सवसाधारण के लिए चतुराश्रम की व्यवस्था की, जिससे कि वे शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वंशरक्षा[36] एवं पंच यज्ञ का अनुष्ठान कर सृष्टि रक्षा के अनुकूल कार्यों को सम्पन्न करें। इस आश्रम में पुनः भोग के प्रति आसक्त न होकर त्याग के द्वारा भोग का अनुशीलन कर निवृत्ति मार्ग की तैयारी आरंभ करने का उपदेश दिया गया है। इससे प्रौढ़ होने के पूर्व ही वाणप्रस्थ और उसके बाद सन्यास ग्रहण कर गृहस्थ जीवन का त्याग करने पर प्रकृति-विरुद्ध कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रहती।[37]

इसीलिए उपनिषद में अभ्युदय या संसारिक उन्नति तथा निःश्रेयस या मुक्ति, दोनों की ही व्यवस्था है। वस्तुतः हिन्दू धर्म, प्रवृत्ति से निवृत्ति, अभ्युदय से निःश्रेयस, स्थूल से सूक्ष्म तथा पशुत्व से देवत्व के क्रमिक विकास की एक शृंखलाबद्ध कर्मसूची है। इसी कारण उपनिषद् के ऋषियों ने एकमात्र ब्रह्म ज्ञान को 'विद्या' या 'परा विद्या' कहने पर भी, विद्या एवं अविद्या की चर्चा करते हुए सौ वर्षों तक जीवन धारण[38] कर, विद्या की सहायता से अमृतत्त्व की प्राप्ति का निर्देश दिया है।

---

35. श्वे. (२/१६)-'···स एव जातः स जनिष्यमानः'।
36. इसीलिए वंश परम्परा को बनाए रखना, गृहस्थ के आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में निर्देशित किया गया है [तै. (१/११/१)-'···प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः']
37. चारों आश्रमों की परम्परा में जो सन्यास (चौथा आश्रम) है, उसे ऋषियों ने किसी कारण से 'क्रम सन्यास' कहा है तथा उसे प्रमुखता दी है [क. श्रु. (१/१)-'योऽनुक्रमेण सन्यसति···']।
38. ई. (२)-'कुर्वन्नेवेह कर्माणि···जिजीविषेच्छतं समाः···'।

चतुराश्रम :

चार आश्रमों के विषय में कुछ कहने के पूर्व 'वर्णाश्रम' शब्द का व्याख्या आवश्यक है। वर्ण का अभिप्राय है मनुष्य जाति का श्रेणी विभाग। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र—ये ही चार वर्ण हैं। 'आश्रम' का तात्पर्य है (वर्ण निर्विशेष या निरपेक्ष) मनुष्य जीवन का चार विभिन्न स्तरों में विभाग—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ तथा सन्यास (यति, भिक्षुत्व, प्रव्रज्या[40])। वर्तमान प्रसंग में 'वर्ण' प्रासंगिक नहीं [41] होने के कारण इसका विस्तार अनावश्यक होगा यहां हम चतुराश्रमों की विवेचना कर रहे हैं; क्योंकि एक मनुष्य किस प्रकार स्वयं के प्रयत्नों से क्रमशः भोग से त्याग और मनुष्यत्व से देवत्व में उन्नीत हो सकता है, इन चारों आश्रमों की शृंखला में इसी का निर्देशन है।

आयु के अनुसार ही प्रत्येक मनुष्य का जीवन कुछ स्वाभाविक स्तरों में विभक्त है, उदाहरणार्थ—शैशव, कौमार्य, यौवन, प्रौढ़त्व तथा वृद्धावस्था या जरा। इसके प्रत्येक स्तर में मनुष्य का दैहिक एवं मानसिक सभी प्रकार का परिवर्तन होता है। फलतः शैशव या यौवन काल में जो खाद्य, आचरण एवं वृत्तियाँ हितकारी या लाभदायक होंगी, वे वृद्धावस्था के लिए उपयोगी नहीं होंगी। ऋषियों ने इन स्वाभाविक विवर्तनों को आधार मानकर ही सौ वर्षों के मानव जीवन को प्रायः चार भागों में विभाजित कर, प्रथम भाग मे ब्रह्मचर्य, दूसरे में गृहस्थी, तीसरे में वाणप्रस्थ चौथे में सन्यास की व्यवस्था की थी।[42]

---

39. ई. (११)-'विद्यां चाविद्यां···अमृतमश्नूते'।
40. मनु (६/३८, ५४); मु. (१/२/११)।
41. एक अलग परिशिष्ट में इस विषय की संक्षिप्त विवेचना करूंगा।
42. मनु. (४/१, ६/२३)।

ब्रह्मचर्य :—

(क) संक्षेप में कहने पर[43], ब्रह्मचारी गुरु के गृह में निवास करता हुआ गुरू की सेवा कर विद्या अर्जन करता है। इस आश्रम की विशेषता है ब्रह्मचर्य का पालन करना ; इसका अभिप्राय मात्र अविवाहित जीवन से ही नहीं है, बल्कि यह सभी इन्द्रियों की अनुशासनबद्धता भी सूचित करता है, क्योंकि जिस विद्या को वे प्राप्त करना चाहते हैं, वह वेदनिहित ब्रह्मविद्या या आत्मज्ञान है, जिसके लिए इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाना आवश्यक है—इसका विवेचन हमने पहले किया है। ब्रह्मचर्य उसी की आधारशिला है।[44] इसलिए शिष्य कितना भी मेधावी क्यों न हो, गुरू उसे शिक्षा देने के पूर्व ब्रह्मचर्य पालन का शर्त अवश्य रखते थे।[45]

गार्हस्थ्य :—

(ख) पचीस वर्ष की आयु हो जाने पर, शिष्य का अधिकार प्रवृत्ति या निवृत्ति किस मार्ग की ओर है, यह निर्णय कर गुरु उसे गार्हस्थ्य या उसके परवर्ती आश्रम में प्रवेश करने का उपदेश दिया करते थे। गृहस्थ आश्रम में विवाहित जीवन के साथ धर्माचरण के माध्यम से, धर्म, अर्थ तथा काम की उपलब्धि की जाती है[46]

---

43. म. भा. (शान्ति, १९१/८-११ ; १९२/१-६)।
44. मु. (३/१/५)-'सत्येन लभ्यः···ब्रह्मचर्येण नित्यम्' ; क. (१/२/१५)-'···यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति···' ; प्रश्न. (५/३)-'···ब्रह्मचर्येण···महिमानमनुभवति' ; छा. (२/२३/१)—'···ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी···अमृतत्वमेति' ; (८/४/२) '···ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति···'।
45. प्रश्न. (१/२) '···तपसा ब्रह्मचर्येण···संवत्स्यथ···वक्ष्याम इति'।
46. म. नि. (८/२२-८१ ; ८९-१०७ ; या. स. (१/९७-१२८) ; मनु (३/२-२८६ ; ४/१-२६०) ; विष्णु (५९-९३ अः) ; हारीत (४ अः) व्यास (३-४ अः) ; दक्ष (३ अः) ; गौतम (४-१० अः) ; भा. (११/१७/३९-५४)।

मोक्ष प्राप्ति के लिए अंतिम स्तर में वाणप्रस्थ तथा सन्यास की आवश्यकता होती है।[47]

इस प्रकार की दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होगा कि गृहस्थाश्रम भोग की ओर उन्मुख है। लेकिन शास्त्रकारा ने गृहस्थ के कर्त्तव्यों के विषय में जो विस्तृत तालिका दी है[41] और हर कदम पर जिन अनुशासनों को मानने के लिए कहा है, उसकी ओर ध्यान देने पर क्षणमात्र में यह अनुभूति हो जाएगी कि, गृहस्थाश्रम प्रत्येक साधारण मनुष्य के लिए त्याग और जनकल्याणार्थ आत्मोत्सर्ग की शिक्षा की एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है। इस परीक्षा का विषय-वस्तु मनुष्य स्वयं है—जड़ पदार्थ नहीं।

गृहस्थ का कर्त्तव्य :—

निम्नलिखित शास्त्रों के वचनों का विश्लेषण करने पर गृहस्थ के कर्त्तव्यों तथा अकर्त्तव्यों की एक संक्षिप्त तालिका इस प्रकार होगी—

(क) कर्त्तव्य कर्म :[48]

१ प्रत्यक्ष देवता जान कर माता-पिता की सेवा।

२ माता-पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बहन इत्यादि का लालन-पालन।

३ पुत्र तथा कन्या को शिक्षित करना।

४ स्वजन तथा अतिथियों की सेवा।

५ उपयुक्त पात्र या याचक को दान।

६ स्वाध्याय।

७ अंतः परिष्करण तथा वाह्य परिष्करण।

---

47. निश्चित रूप से ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि, निष्ठा के साथ गार्हस्थ्याश्रम के कर्तव्यों का पालन किया जाय तो गार्हस्थ्य आश्रम से भी मोक्ष प्राप्त की जा सकती है [(३/४/४८)-'कृत्स्नभावात् तु गृहिणा उपसंहारः']।
48. इस सम्पूर्ण कर्म सूची को पंचयज्ञ' कहा जाता है। मैं अगले अध्यायों में इस विषय पर कुछ और प्रकाश डालूंगा।

८ आवश्यक भोजन, निद्रा, इन्द्रिय आदि का संयत उपयोग।

९ सन्ध्या, वदना, जप, होम, देवार्चना।

१० जन कल्याणकारी कार्य ; उदाहरणार्थ, मार्ग में जलाशय का निर्माण, वृक्ष-रोपण, विश्रामालय का निर्माण।

उपर्युक्त सभी कर्मों को ब्रह्मनिष्ठ होकर तथा ब्रह्म को समर्पित करके ही करना होगा।[49]

(ख) जो कर्त्तव्य नहीं है अथवा निषिद्ध कर्म :[50]

१ मिथ्या भाषण, आत्मस्तुति, परनिन्दा।

२ दुष्ट आचरण, व्यसन, कुसंग।

३ परस्त्री के प्रति आसक्ति।

४ अभक्ष्य का भक्षण।

५ सुरा इत्यादि न पीनेवाले पदार्थों को पीना।

६ जीवों की हिंसा।

७ चोरी।

८ शास्त्रों के विरूद्ध कार्य।

९ आलस्य, आसन-वसन तथा शरीर सेवा का आधिक्य।

वाणप्रस्थ :

(ग) पचास वर्ष की आयु होने पर गृह का त्याग कर जंगलों में चले जाना, इसे ही वाणप्रस्थ कहा जाता है। चित्त की शुद्धि के लिए तीर्थयात्रा, देव-दर्शन इत्यादि का अनुमोदन है, परन्तु धन का संग्रह किसी भी उद्देश्य के लिए करना उचित नहीं होगा। इसी आश्रम से सन्यास-जीवन के दैहिक कठोरता की शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इसके लिए वाणप्रस्थ आश्रम में गए मनुष्य उपवास फल-मूल इत्यादि का भोजन, आग में पके हुए अन्न का वर्जन, भूमि शय्या पर शयन, जाड़ा-गर्मी इत्यादि को सहने की शिक्षा ग्रहण करते हैं।[50]

---

49. म. नि. (८/२३)।

50. मनु. (६/१-३२) ; आ० (२/१)-'···वेदेषु उपनिषदमावर्तयेत्··· ।'

इस आश्रम में सन्यास जीवन की मानसिक तैयारी के लिये उपनिषदों तथा अन्य ग्रन्थों के अध्ययन[50] के द्वारा अहंकार को विनष्ट तथा देहाभिमान को समाप्त करने की शिक्षा का उपदेश दिया गया है।[51] इससे ही अद्वैत तत्व का बोध उत्पन्न होगा।

सन्यास :—

(घ) गृहस्थ आश्रम का मंत्र त्यागपूर्ण भोग है, वाणप्रस्थ का भोगवर्जित त्याग है ; और सन्यास त्याग के मंत्र की पूर्णाहुति है।[52]

क्योंकि, वाणप्रस्थ आश्रम में ब्रह्मचर्य जीवन का पालन करने पर भी पत्नी का परित्याग नहीं कर उसे वनवास में संगिनी बनाया जा सकता है ; परन्तु सन्यासी पूर्णत: एकाकी होगा—स्त्री, मित्र यहाँ तक कि, ऊँची अवस्था में पहुंच कर सन्यासियों के समाज को भी त्याग देना होगा।[53] वाणप्रस्थ आश्रम में रहने वाले कुटियों में निवास कर सकते हैं, लेकिन सन्यासी 'अनिकेत' है अर्थात् उसका कोई निर्दिष्ट निवास स्थान या ठिकाना नहीं है। मार्ग ही उसका

---

51. भा. (७/१२/१८-३१)।

52. निश्चित रूप से जो सन्यास मंत्र से दीक्षित हो गए हैं, वे सभी एक ही श्रेणी के अथवा निवृत्तिमार्ग के एक ही स्तर में स्थित हैं इसप्रकार का अनुमान करना भ्रान्तिपूर्ण होगा। त्याग के परिणाम तथा साधना की पद्धति के अनुसार, यति या सन्यासी को अनेक श्रेणियों में विभाजित किया गया है। अनेक शास्त्रों के अनुसार परमहंस ही सन्यासी का श्रेष्ठपद है ; क्योंकि वे आत्मज्ञान प्राप्त कर केवलमात्र व्रह्म के ध्यान में निमग्न हो, 'व्रह्मास्मि' की उपलब्धि कर पूर्णतया आनंद के रस में डूवे रहते हैं [प० (१६) ; जा. (१८)]। पुनः कहीं-कहीं शास्त्रों ने ईनके ऊपर भी 'अवधूत' को स्थापित किया है, क्योंकि वे दिगम्बर हो कर वर्णाश्रम का परित्याग कर उन्माद या पिशाच की भाँति तुरीयावस्था में विचरण करते हैं [तु०— '···प्रणवात्मकत्वेन···कृत कृत्यो भवति···' ; भा. (११/७/२४, ६/३०)]।

53. ना. प. (३/५६-५६)—'एके भिक्षु:···न हि केन सहालपेत्'।

आश्रयस्थल है तथा प्रव्रज्या या विचरण करना ही उसके प्रतिदिन का कार्य है।[53-54]

उनमें मोक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की अभिलाषा नहीं होगी। और वे इसके लिए सभी प्रकार के विषयों से इन्द्रियों का ध्यान समेटकर, राग, द्वेष, तर्क यहाँ तक कि शास्त्रों से ज्ञानार्जन का भी परिहार कर, प्राणायाम या ध्यानयोग के माध्यम से आत्मज्ञान की उपलब्धि का प्रयास करेंगे।[55] दूसरी तरफ सभी जीवों के प्रति अहिंसात्मक आचरण के द्वारा सर्व जीवों में ब्रह्मदर्शन का प्रयास करेंगे। इस प्रकार सच्चे समाहित सन्यासी हमेशा ब्रह्म में तल्लीन रहते हैं, इसीलिए गीता में उन्हें 'योगी' कहा गया है।[56] इसी का फल ब्रह्मनिर्वाण[57], ब्रह्मस्थिति[58] या मोक्ष[59] होता है।

सन्यास का समय :

चारों आश्रमों में सन्यास के मार्ग का एक अन्तराय यह है कि, यदि पच्चीस वर्ष वाणप्रस्थ आश्रम का निर्वाह कर पचहत्तर वर्ष की आयु में सन्यास ग्रहण किया जाए[60] तो फिर बहुतों के भाग्य में इतनी दूर तक जाना संभव नहीं होगा। यदि आयु रहती भी है तो भी

---

54. ना. प. (५ म उपदेश) ; भा. (७/१३/१-१०) ; तु.—'···सर्वदा संचरशील:' ; क. श्रु. (५/२)—'···अनिकेतश्चरेत्···'।

55. ना. प. (५)—'···नाध्येतव्यो न श्रोतव्यमन्यत् किंचित प्रणवादन्यत्···'; (५/३६)—'ब्रह्मैवाहमिति स्मरण्···स्वरूपानुसंधानेन···मुक्तो भवति···'; भा. (७/१३/७-८) ; (११/१८/२८-३०)।

56. गी. (६/७-२६)—'जितात्मन: प्रशान्तस्य···समदर्शन:'।

57. गी. (५/२४-२८)—'योऽन्त: सुखोऽन्तराराम:···मुक्त एव स: ।'

58. गी. (२/७२)—'एषा ब्राह्मी स्थिति: ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।'

59. स. (५/१)—'···भूयस्ते न निवर्त्तन्ते···परात् परमावस्थादिति'।

60. ना. प. (१/२) ; क. श्रु. (४/१) ; जा. (८)।

वृद्ध दुर्बल शरीर से तथा आतुर अवस्था में[61] सन्यास के कठोर नियमों का पालन करने में कितने लोग सक्षम होंगे? इसी कारण से, जहाँ एक ओर क्रमसन्यास को प्रकृत सन्यास कहा गया है, वहीं दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि सन्यास ग्रहण के लिए कोई निर्धारित वयःक्रम नहीं है ; जब भी प्रकृत रूप से वैराग्य की उत्पत्ति हो तभी सन्यास ग्रहण या प्रव्रज्या का अवलंबन किया जा सकता है।[62] पूर्व तीन आश्रमों का उद्देश्य है, इन्द्रियों को विषय से अलग कर उन्हें अन्तमुंखी करने का प्रयास ; अतः जबतक सभी वस्तुओं के प्रति वितृष्णा नहीं उत्पन्न होगी तबतक सन्यास ग्रहण करना पाप तो होगा ही,[63] साथ ही, सामयिक वैराग्य के आवेश का प्रभाव समाप्त होने पर पुनः ससार में प्रत्यावर्तित होने की सभावना रहती है। और ऐसा होने पर उच्छिष्ट चाटने[64] के समान निकृष्ट अवस्था होती है—बीच भवँर में पड़ कर दोनों किनारों से हाथ धोना पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही तीन ऋणों से आबद्ध होता है—ऋषिऋण, देवऋण एवं पितृऋण। इन्हीं तीन ऋणों की पूर्ति के लिए ब्रह्मचर्य, ग्राहस्थ तथा वाणप्रस्थ आश्रमों की व्यवस्था को गयी

---

61. निश्चित रूप से मृत्यु के कुछ पूर्व भी वैराग्य उत्पन्न होने पर अगले जन्म की शुद्धि के लिए सन्यास का विधान है। लेकिन यह हमारा आलोच्य नहीं है, क्योंकि इसप्रकार के सन्यास से ब्रह्मत्व का सम्पादन नहीं होता।

62. जा० (६) ; ना० प० (३/७६)—'······यदहरेरविरजेत् ······तदहरेर प्रव्रजेत्'।

63. ना० प० (३/११-१३)—'···यदा मनसि संजातं···करः'

64. भा० (७/१५/३६)—'यः प्रव्रज्य···वान्ताश्यपत्रपः'। क्योंकि वे तो सन्यास ग्रहण के पूर्व ही पिता द्वारा प्रदत्त शरीर का परिष्करण कर चुके होते हैं [क० श्रु (१/२-३)-'···यजमानस्यांगान्···सर्वेषु समारोपयेत्' ; आ० (२/१)—'···उदराग्नौ समारोपयेत्···']।

है। इन सभी ऋणों की पूर्ति बिना किए यदि कोई मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से सन्यासमार्ग का अवलंबन करता है, तो फिर उसका उद्देश्य सफल तो होगा ही नहीं, बल्कि उसे अधोगति ही प्राप्त होगी।[65]

परन्तु मनुष्य कुल में ऐसे भाग्यवान भी जन्म ग्रहण करते हैं, जो पूर्व संस्कारवश या अच्छे कर्मों के कारण सहजात वैराग्य को लेकर जन्मग्रहण करते हैं, जैसे शुकदेवजी। इन्हें वैराग्य उत्पन्न करने के लिए चारों आश्रमों में विचरण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती[66]। इसीलिए ऋषियों ने कहा है कि, यदि किसी को ब्रह्मचर्य आश्रम में ही वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तो फिर वह गृहस्थ और वाणप्रस्थ आश्रम को छोड़कर उसी उमर में सन्यास ग्रहण कर सकता है। इसी प्रकार गृहस्थ[67] या वाणप्रस्थ अवस्था में रहते हुए ही उत्कृष्ट वैराग्य के उदय होने पर, तत्काल ही सन्यास का अधिकार मिल सकता है[64]।

सन्यास की आवश्यकता क्या है?

सबकुछ कहने पर भी एक प्रश्न रह जाता है कि, यदि भगवत् प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है, तो संसार में रहकर साधना करने पर क्यों नहीं होगा, उसके लिए संसार त्याग करने की क्या आवश्यकता

---

65. मनु० (६/३५-३७)—'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य···व्रजत्यधः'।
66. शुकदेवजीने उपनयन संस्कार के पूर्व ही सन्यास ग्रहण कर लिया था भा० (१/२)—'यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं···'], वे जन्म से ही आवरणहीन रहे तथा उनमें स्त्री-पुरुष के भेद का ज्ञान ही उत्पन्न नहीं हुआ [भा० (४/५)-'···स्त्रीपुंभिदा···विविक्तदृष्टेः']। आरूणेय उपनिषद में उपनयन के पूर्व या बाद में सन्यास का विधान है (५/१)—'खलु वेदार्थं यो विद्वान्···त्यजेत् पितरं···अपीह'।
67. ऐतिहासिक समयों में, गौतम बुद्ध तथा श्री चैतन्यदेव गार्हस्थ जीवन से सन्यास ग्रहण किए थे। अतः उन्हें वाणप्रस्थ की आवश्यकता नहीं हुई। आदिगुरू शंकराचार्य ८ वर्ष की आयु में सन्यास ग्रहण कर ३२ वर्ष की आयु में शरीर त्याग दिए थे।

है ? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है, क्योंकि अनेक शास्त्रों में गृहस्थ धर्म के महात्म्य का वर्णन किया गया है। मनु ने गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठ कहा है। कारण गृहस्थ ही अन्य सभी आश्रमवालों का, —(ब्रह्मचारी, वाणप्रस्थी तथा सन्यासी का) भरण-पोषण करता है।[68] इसमें संदेह नहीं की लोक-कल्याण के लिए गृहस्थ आश्रम अपरिहार्य है। लेकिन प्रश्न यह है कि, इसी आश्रम में रह जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होगी या नहीं। इस प्रश्न का उत्तर मनु ने स्वयं दिया है[69] " परमगति को पाने के लिए आयु के शेष वर्षों में गृहस्थ को सांसारिक कर्त्तव्यों का त्याग कर सम्पूर्ण रूप से निस्पृह होकर, सन्यास का अवलंबन करना होगा" । इसी अवस्था में मोक्ष प्राप्ति संभव होगी।[69]

हमने पहले ही देखा कि प्रवृत्ति मार्ग से स्वर्ग में स्थान तो पाया जा सकता है लेकिन मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती।[70] प्रवृत्ति मार्ग इसीलिए ग्रहणीय है कि, वह निवृत्ति मार्ग को आश्रय करने की शिक्षा देता है। यदि यह कथन सत्य है तो फिर पूरी आस्था के साथ गृहस्थ धर्म का पालन करने पर मुक्ति के पथ का पाथेय संग्रहित हो

68. मनु (६/८९-९०) ; म० भा० (शान्ति १९१/१०)—'तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति' ।

69. मनु० (६/९६)—एवं संन्यस्य कर्माणि···सन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ; भा० (७/१३-२६)—'कर्माणि······निवृत्तोऽस्मि······ सर्वेहोपरतिस्तनुः···संविशन्' ।

70. महाभारत में भी (शान्ति ११/१५, १२/३८), गृहस्थाश्रम में ही पंचयज्ञ का पालन तपस्या तथा सिद्धिकारक कर्म कहा गया है ; लेकिन इससे अधिक नहीं कहा गया कि, इन कर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है। कहा गया है कि, इन सभी यज्ञों के सम्पादन से गृहस्थ त्याग मंत्र में दीक्षित होता है। आन्तरिक वैराग्य एवं त्याग के उत्पन्न नहीं होने तक सन्यास ग्रहण करना क्षणभंगुर प्रमाणित हो सकता है। यहां भी पूर्णरूप से त्याग करनेवाले सन्यासी को ही मोक्ष का अधिकारी कहा गया है। [श० (१८९/१७)—'निर्वेदादेव निर्वाणं···'] ।

सकता है। लेकिन मोक्ष प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि, सभी प्रकार के अहंकार तथा ममत्वबोध ('मैं' या 'मेरा') को समाप्त कर स्वयं को पूर्णतः रिक्त किया जाय। इसका कारण अत्यन्त स्पष्ट है। स्वर्ग हो या कोई अन्य काम्य वस्तु हो, उसकी प्राप्ति और मोक्ष की प्राप्ति परस्पर समकक्ष नहीं है। मोक्ष में किसी भी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। मुक्त पुरुष ब्रह्म में लीन हो जाता है, उसे प्राप्त करने के लिए कुछ रह ही नहीं जाता। लेकिन ब्रह्म में लीन होने के लिए स्वयं को उन्नीत कर ब्रह्म के सम पर्याय में लाना होगा।[71] यदि कामना-वासना रूपी ऐश्वर्याभूषणों के साथ ब्रह्म में लीन होने की कल्पना की जाय तो फिर वह राजवेश ही मुमुक्षु व्यक्ति व ब्रह्म के बीच व्यवधान उत्पन्न कर देगा। ऐसा व्यक्ति क्या उस प्रकार ब्रह्म में लीन हो पाएगा, जिस प्रकार नदी समुद्र में विलीन हो जाती है। यदि कणमात्र भी कामना बची रही तो फिर मुक्ति संभव नहीं।[72] जब सभी प्रकार की आसक्तियों का बंधन नष्ट हो जाता है, तब ससीम देह के ढाँचे से मुक्त होकर कृतकृत्य सन्यासी असीम के साथ एकाकार होकर कह सकता है—'तद्‌ब्रह्माहमस्मीति'।[73]

केवल अन्य धर्मावलंबियों की ही नहीं, हिन्दू नामधारी कुछ व्यक्तियों की भी यह धारणा है कि, हिन्दू सन्यासी निर्मम तथा कर्मों से विमुख होते हैं। परन्तु इन दोनों आरोपों में से एक भी सत्य नहीं है।

---

71. मु (३/२/८)—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति···पुरूषमुपैति दिव्यम्'।
72. वृ० (४/४/६)—'योऽकामो···ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'; नृ० (ऊ:५/८); कथा० (१/८०); (४/१२८)।
73. प० (१६)—'यत् पूर्णानंदैकरसबोधः तद्‌ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति···'; ना० प० (४/३६)—'चिन्मयः···मुक्तो भवति···'; (६/१६)—'···स्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा···सोऽहमिति न स पुनरावर्त्तते···।'

(क) सन्यासी को स्नेह और प्रेम की जिस धारा का विसर्जन करना पड़ता है, वह है 'ममत्व बोध'। इसीलिए वह केवल अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र के साथ ही संबंध को समाप्त नहीं करता, वरन्, उसे संसारिकता की सभी स्मृतियों को भुला देना पड़ता है। क्योंकि, ये सब उसके 'तुच्छ मैं' के साथ जुड़े हुए स्नेह के बंधन हैं।

विवेकवान् शास्त्रकारों ने, इस प्रकार का उपदेश दिया है कि, 'स्नेह' नाना प्रकार के दुःखों का कारण है एवं स्नेह का परित्याग कर पाने पर ही सुख है यह उपदेश[73] इस 'ममत्व' बोध से उत्पन्न होनेवाले आसक्ति के त्याग के अर्थ में ही दिया गया है।[74] इसका अर्थ यह नहीं है कि, मनुष्य को अध्यात्म मार्ग पर चलने के लिए निर्दय एवं निष्ठुर होना पड़ेगा। मनुष्य जन्म मुक्तिप्राप्ति का सुनहरा अवसर ला देता है ; भूमा के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाने पर ही मुक्ति संभव है। गृह, पुत्र-परिजनों में यदि किसी के प्रति भी 'यह मेरा है', ऐसी भावना या आसक्ति रहेगी तो फिर स्रष्टा के विराट सृष्टि में वे अपने संकीर्ण अस्तित्व को किस प्रकार विलीन करेंगे ? इसलिए सन्यासी को स्वार्थ से उत्पन्न स्नेह और लौकिक संबन्धों का त्याग कर, 'लोकसंग्रह' या विश्वजन के हित के लिए अपने आप को न्योछावर कर देने के लिए कहा गया है। यह तो निर्ममता है ही नहीं, बल्कि यह प्रकृत रूप से कोमल चित्तवृत्ति का परिचायक है। जबतक अपने पुत्र या परिवार के प्रति कोई आसक्त रहता है तबतक वह स्नेह किसी न किसी स्वार्थ के द्वारा प्रेरित होता है। लेकिन जो व्यक्ति सम्पूर्ण निस्वार्थ भावना के

---

74. भा० (११/७/५२,७४)—'नातिस्नेहः प्रसंगो वा कर्त्तव्य···यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्···तमारूढच्युतं विदुः। सन्यासी को शास्त्रों में भी 'निर्ममः' की संज्ञा से अभिहित किया गया है [ना० प० (६/१९, २३)]—लेकिन इसका अर्थ 'निष्ठुर' नहीं बल्कि 'ममत्वबोध शून्य' है।

साथ अनात्मीयों के लिए, जगत्‌कल्याण के लिए, अपना जीवन उत्सर्ग कर पाए हैं, उनसे बढ़कर स्नेहपरायण मनुष्य और कहाँ मिलेगा ?

सन्यास ग्रहण के पश्चात् जिस सन्यासी का आत्मीय स्वजन के साथ कोई संबंध नहीं रहा, उसकी स्नेह भावना, उसकी कल्याण कामना, सभी जीवों पर समान रूप से वितरित हो जाती है। सन्यासी का दीक्षामंत्र है 'स्वस्ति सर्वजीवेभ्यः'[75], अर्थात् 'सभी जीवों का कल्याण हो'। इस मंत्र के द्वारा जिसकी दीक्षा हुई वह सिद्धि प्राप्ति कर जीवन से मुक्त होने पर भी स्वतः अयाचित रूप से परहित में नियोजित रहता है[76]; स्वयं संसार रूपी समुद्र पर विजय प्राप्त करने के बाद भी दूसरे को पार कराने के लिए स्वयं की मुक्ति को विलंबित करता है[77]। क्या ऐसा सन्यासी हृदयहीन या पत्थर हृदय है ?

(ख) सन्यासी का कर्मत्याग वास्तव में अपने स्वार्थ के लिए किए जाने योग्य कर्मों का त्याग है। जिसका कोई निवास स्थान ही नहीं—पहाड़ की गुफा या निर्जन वृक्ष के नीचे जिसका दिन रात बीत जाता है, एक मुट्ठी भिक्षा द्वारा ही जिसके जीवन की रक्षा हो जाती है, उसकी कार्यतालिका तो निश्चित ही संक्षिप्त हो जाती है[78]। स्वय को इतना संकुचित करने का उद्देश्य है इन्द्रियों को वश में कर, अपने दैहिक अस्तित्व को विलुप्त करना[79], तथा हृदय

---

75. क० श्रु० (५/१)।

76. श० स० वे० सि० (६८२)—'···परार्थेष्विव पूर्णात्मा···'।

77. श० वि० (३७)—'तीर्णाः स्वयं···जनानहेतुनाऽन्यानपि तारयन्तः'।

78. ना० प० (७/३३-३८)—'न स्नानं न जपः···अन्तःसंगपरित्यागी··· चलाचलनिकेनश्च···'; जा० (१८)—'त्रिदंड···यज्ञोपवीतंच परित्यज्य···'।

79. छा० (८/१२/१)—'···अशरीरं वाव संतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।'

की कन्दरा में छिपे हुए परमात्मा की खोज कर उन्हीं में तल्लीन हो जाना या ब्रह्म-स्वरूप हो जाना।[80]

सन्यासी का अपना कुछ भी नहीं होता। इसलिए उसका कर्म पाकशाला या अर्थोपार्जन की वृत्ति से बंधा नहीं होता। वह विश्व स्रष्टा के विशाल यज्ञशाला के प्रत्येक कण में विस्तृत रहता है, क्योंकि 'सर्वं खल्विद ब्रह्म'—जिस ब्रह्म में उसने स्वयं को सन्यासमंत्र द्वारा उत्सर्ग किया है।

उसकी कोई आकांक्षा नहीं होती, यहाँ तक कि स्वर्ग सुख भी उसे आकर्षित नहीं कर सकता। इसलिए उसे वैदिक क्रियाएँ, यज्ञ इत्यादि भी नहीं करनी पड़ती। क्योंकि ये सभी कर्म मोक्ष के अनुकूल तो हैं ही नहीं, वरन् अन्य संसारिक कर्मों के समान बंधनों के कारण बनते हैं।[81]

हमने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति इन दोनों को दिशानिर्देशक के रूप में अभिहित किया है। क्योंकि मोक्षमार्ग की ओर जानेवाला यात्री किस दिशा में यात्रा करेगा यह तो उसे इन दो मार्गों में से एक को निर्धारित करके ही स्थिर करना होगा। लेकिन इससे पूरी समस्या का समाधान नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक महान् मार्गों से अनेक शाखाएं निकलो हैं। यदि उनमें से किसी एक को सद्गुरु के निर्देश अनुसार (अथवा जबतक उपयुक्त गुरु की प्राप्ति नहीं होती,

---

80. या० (२/३)—'···भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति···लक्ष्यालक्ष्यनिर्वर्त्तज: परिव्राट् परमेश्वरो भवति'; गी० (८/१२-१३)—'सर्वद्वाराणि संयम्य गतिम्' गी० (६/३)—'···योगारूढस्य···शमः कारणमुच्मते'; श० वि० (३४०)—'दृश्यस्याग्रहणं··· संन्यस्ताखिल-धर्म-कर्म-विषयैर्नित्यात्मनिष्ठा-परैः···'; जा० (१८)—'···आत्मानमन्विच्छेत्'; मनु० (६/४६)—'अध्यात्मरतिरासीनो··· सुखार्थी विचरेदिह"।

81. मु० (१/२/७)—'प्लवा ह्येते···पुनरेवापि यान्ति'; (१/२/१२)—परीक्ष्य लोकान्···निर्वेदमायात्···'; गी० (९/२०-२१)—त्रैविद्या··· मर्त्यलोकं विशन्ति।'

तबतक स्वयं की आन्तरिक प्रवृत्ति एवं अंतः प्रेरणा की सहायता से ही) निर्धारित कर उसका अनुसरण नहीं किया जाय तो फिर सारा जीवन घूमते ही व्यतीत हो जाएगा और पथ निर्णय करने के पूर्व ही यह संक्षिप्त आयु समाप्त हो जाएगी।

महाभारत के युग में ज्ञान, कर्म, भक्ति एवं राजयोग इन चार मार्गों[82] की स्वीकृति थीं।[83] यद्यपि परवर्ती समयों में इन मार्गों से असंख्य शाखाएँ तथा उपशाखाएँ उत्पन्न हुई हैं, ब्रह्मत्व की प्राप्ति हेतु सार तत्वों के संधान के लिए इन्हीं चार योगों के मूल निर्देशों की विवेचना की जाएगी, क्योंकि कोई भी उपशाखा इन्हें अस्वीकार कर अपने कुल का परिचय देने में समर्थ नहीं होगी।

ज्ञानयोग :

पाश्चात्य मत के अनुसार जिस किसी भी प्रकार के विद्यार्जन का नाम ज्ञानप्राप्ति (Knowledge) ही होता है। लेकिन हिन्दू शास्त्रों में 'ज्ञान' कहने पर किसी व्यवहारिक तत्व की जानकारी नहीं प्रतीत होती। जिसके ज्ञात होने पर समस्त वस्तुओं का ज्ञानप्राप्त हो जाता है[84]—उसी ब्रह्म को जानना या आत्मज्ञान प्राप्त करना ही 'ज्ञान' कहलाता है। क्योंकि वे ही एकमात्र सत्ता हैं जो विभिन्न

82. राजयोग एक परिपूरक पंथ होने के कारण, इसमें केवल भागवत ज्ञान, कर्म तथा भक्ति, इन्हीं तीन योगों का उल्लेख है [भा० ११/२०/६)]। लेकिन राजयोग की उपयोगिता का वर्णन भागवत् के अनेक प्रसंगों में है [यथा, ११/२०, १८-२३, ३२–४६]।
83. गी० (३/३)—'लोकेऽस्मिन्·· योगिनाम्'; (४/२९)—'अपाने··· प्राणायामपरायणाः'; (९/१४-१५)—'···नमस्यन्तश्च मां भक्त्या··· ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये···'; (१३/२४)—'ध्यानेनात्मनि···कर्मयोगेन चापरे'।
84. छा० (६/१/३)—'···येन अश्रुतं···विज्ञातं'; बृ० (४/५/६)—'···आत्मनि सर्वं विदितम्'; मु० (१/१/३) 'कस्मिन्न···विज्ञात भवतीति'।

रूपों, नामों अथवा उपाधियों से प्रकाशित होते हैं[85]। जिस पद्धति से इस अद्वैत ब्रह्म की उपलब्धि की जाती है उसे ब्रह्मविद्या[86] या ज्ञानयोग कहा जाता है।

ब्रह्म के अतिरिक्त जानने लायक कुछ भी नहीं है[87], क्योंकि वे ही जगत्‌रूप में प्रकाशित होकर सर्वत्र विराजमान हैं एवं वे ही युगपत् भोक्ता, भोग तथा भोग्य कार्य में व्याप्त रहते हैं।[88] उन्हें जानने के पश्चात् शेष कुछ भी जानने को नहीं रह जाता। मुमुक्षु व्यक्ति को मुक्ति के लिए और कुछ भी जानने को आवश्यकता नहीं, क्योंकि जो ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि करते हैं, उनमें अविद्या से उत्पन्न सभी प्रकार के बंधनों का विनाश हो जाता है और वे पूर्ण होकर मुक्ति-लाभ करते हैं।[89] एकमात्र ब्रह्म को ही जानने पर अमृतत्व की उपलब्धि होती है। अतः मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है।[90]

लेकिन ब्रह्म तो अव्यक्त, कायाहीन हैं; तथा वाणी, मन, नेत्र इत्यादि सभी इन्द्रियों के अगोचर[91] हैं; अध्ययन अथवा बुद्धि के

---

85. मु० (२/२/११)—'···ब्रह्मैवेदं···विश्वमिदं वरिष्ठम्।
86. मु० (१/२/१३)—'···येनाक्षरं···ब्रह्मविद्याम्'।
87. श्वे० (१/१२)—'नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्' प्रश्न० (६/६/७)—अरा ईव···तं वेद्यं पुरुषं वेद···नातः परमस्तीति'; मा० (७)—'···स आत्मा। स विज्ञेयः'।
88. श्वे० (१/६)—'ज्ञाज्ञौ···ब्रह्ममेतत्'।
89. श्वे० (१/११)–' ज्ञात्वा देवं···आप्तकामः' क० (२/३/८)-'···यं ज्ञात्वा···अमृतत्वं च गच्छति'; मु० (३/२/६)-'···परमं ब्रह्म वेद··· अमृतो भवति'।
90. श्वे० (३/७-८)-'···तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति···नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।
91. क०; (२/३/१२)-'नैव वाचा··· न चक्षुषा···"।

द्वारा उन्हें जाना नहीं जा सकता[92] ; तो फिर उन्हें जानने का उपाय क्या है ?

उपनिषदों के ऋषियों ने इसका उत्तर अत्यन्त संक्षिप्त रूप में दिया है—'स्वयं को जानो'[93] या 'अपने स्वरूप को पहचानो'।[94]

जो आत्मा सभी जीवों में स्थित है, वही आत्मा हमारे शरीर में भी स्थित हैं।[95] चूंकि वे हमारे शरीर में ही निहित रहकर अदृश्य हैं, इसीलिए इस शरीर में ही ज्ञानयोग के द्वारा उन्हें जानना होगा।[96] यदि कोई विश्वकृत् उस विश्वात्मा को अपने हृदय कंदरा में दर्शन करने में सक्षम हो जाएँ, तो फिर वे सभी दुःखों तथा विनाशों का अतिक्रमण कर, स्वयं विश्वमय हो कर, अमृतत्व की

---

92. क० (१/२/२३)-'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन···'।

93. मु० (२/२/५)-'···जानथ आत्मानम्···' ; (३/१/६)-'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः···' ; वृ० (२/४/५)-'···आत्मा वा अरे विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' ; (४/५/६)-'···आत्मनि खलु···विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' ; छा० (८/३/३)-'स वा एष आत्मा···एवंवित् स्वर्गं लोकमेति'।

94. छा० (८/७/१)-'य आत्मा··विजिज्ञासितव्यः···' ; (८/१/१)-'अथ यदिदमस्मिन्··विजिज्ञासितव्यमिति' ; (८/३/४)-अथ···शरीरात् समुत्थाय···स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत···एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति···' ; श्वे० (१/१२)-'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्···' ; के० (२/४)-··· आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विंदतेऽमृतम्' ; वृ० (४/४/१२)–'आत्मानं चेद् विजानीयात्···'।

95. वृ० (३/७/१५)—'···यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत···'।

96. मु० (३/१/७)—'···पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' ; क० (२/३/१७) —'तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुंजादिवेषीकां धैर्येन···' ; मु० (२/२/७)— 'मनोमयः···तद्धि ज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः···'।

उपलब्धि करेंगे।[97] एकबार जो अपनी आत्मा का स्वरूप अर्थात् आत्मा के साथ परमात्मा के अभेदत्व का ज्ञान प्राप्त[98] कर लेंगे, वे क्या पुनः नश्वर वस्तुओं की कामना कर शरीर का ही गुणगान कर शोकग्रस्त होंगे ?[98]

आत्मज्ञान या आत्म-स्वरूप की उपलब्धि निम्नलिखित दो महावाक्यों द्वारा निर्देशित मार्ग पर अग्रसर होती है, और संक्षेप में कहने पर, समस्त उपनिषदों में कदम कदम पर मनुष्य को इन्हीं दो सत्यों की अवधारणा करने के लिए तैयार किया गया है। ये दो महावाक्य हैं—(क) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ)[99] ; (ख) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्ममय है)। ज्ञानयोग के मूल सिद्धान्तों का विश्लेषण करने पर, इन दोनों महावाक्यों को समझने में सुगमता होगी।

(क) प्रश्न की मीमांसा को 'विचार' कहते हैं। ज्ञानयोग के प्रथम सोपान में जिस जिज्ञासा का होना आवश्यक है, वह है— 'मैं कौन हूँ' ?

उपनिषद के ऋषि इस प्रश्न पर विचार करने के उपरान्त इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि, रक्त-मांस से निर्मित यह शरीर या इसका कोई अंग-प्रत्यंग 'मैं नहीं हूँ'[1] ; इन सभी अवयवों को कोई अन्य अदृश्य शक्ति चला[2] रही है, जिसकी अनुपस्थिति में यह शरीर मृतक

97. वृ० (४/४/१३-१७)—यस्यानुवित्तः···तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्' ; क० (२/२/१२-१३)—'एको वशी···तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः···, ; श्वे० (६/१२)—'एको वशी···नेतरेषाम्' ।
98. वृ (४/४/१२)—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरूषः ···शरीर-मनुसंज्वरेत्' ।
99. वृ० (१/४/१०) ।
1. छा० (३/१४/१) ।
2. क० (२/२/४-५)—'अस्य विस्रंसमानस्य···उपाश्रितौ' ।

के रूप में परित्यक्त होता है।[3] आत्मा ही वह वस्तु है और इसकी विशेषता यह है कि, विनाशशील शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी आत्मा का विनाश नहीं होता।[4] क्योंकि, यह आत्मा अजर, अमर शाश्वत तथा सनातन है और एक पार्थिव शरीर के मरणोपरान्त नये-नये कलेवर धारण कर सदा विद्यमान रहती है।[5]

(ख) देखा गया कि, हमारे देह में स्थित आत्मा ब्रह्म के समान ही अविनाशी तथा बंधनों से रहित है। लेकिन इस विषय में अज्ञानतावश हम अपने को परमात्मा से अलग समझ रहे हैं और यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि, वही विश्वात्मा सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि कर उसी में अदृश्य हो गए हैं तथा इसी कारण से हमारी अन्तरात्मा एवं परमात्मा अभिन्न सत्ता हैं[6]। इस अविद्या एवं अज्ञानता को दूर करनेवाले मार्ग को ज्ञानयोग कहा जाता है। इसीलिए उपनिषदों ने अपने स्वरूप को पहचानने के लिए कहा है। इसी आत्म स्वरूप या परमात्मा के साथ जीवात्मा के एकत्व का जिसे ज्ञान हुआ है, वह ही निष्कपट भाव से कह सकता है—'मैं ही वह ब्रह्म हूँ'।

(ग) दूसरा महावाक्य भी उसी एक ही सृष्टितत्त्व या विवर्तन-वाद से उत्पन्न हुआ है एवं एक को छोड़कर दूसरे वाक्य का सही अनुभव नहीं हो सकता। जो सभी जीवों में तथा सर्वत्र विद्यमान हैं, वे ही हममें अन्तर्यामी आत्मा के रूप में हैं, क्योंकि सब उसी विश्वात्मा की अभिव्यक्ति हैं[7] वे मात्र हमारी अन्तरात्मा ही नहीं हैं, बल्कि सभी जीवों की अन्तरात्मा हैं।[8]

---

3. क० (१/३/३)—'आत्मानं रथिनं विद्धि···मनः प्रग्रहमेव च'।
4. क० (१/२/१८); गी० (२/२०)—'न जायते म्रियते···हन्यमाने शरीरे'।
5. गी० (१/२२-२४)—'वासांसि जीर्णानि···सनातनः'।
6. मा० (२)—'···अयमात्मा ब्रह्म···'।
7. वृ० (२/५/१)—'योऽयमात्मा इदममृतं इदं ब्रह्म इदं सर्वम्'; (५/४/-

इसलिए समदर्शन या समबुद्धि[9] ज्ञानयोगियों का सर्वोत्कृष्ट लक्षण है। उन्हें शत्रु या मित्र का बोध नहीं होता, उनके लिए ब्राह्मण, शुद्र, गाय, हाथी, कुत्ते में कोई भेद नहीं है।[10] क्योंकि अविद्या के मायाजाल को विनष्ट कर जो स्वय के साथ ब्रह्म के एकत्व को अनुभव में प्राप्त करना चाहते हैं, वे सभी जीवों में उस ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं[11], और जिन्हें इस सम्पूर्ण एकत्व का अनुभव हो गया है, वे स्वय ही ब्रह्मत्व को प्राप्त करते हैं।[12] उस समय वे ज्ञानयोग में सिद्ध होकर निष्कपट भाव से कह सकते हैं—'अहं ब्रह्मास्मि'।[13]

अतएव यह गलत धारणा है कि ज्ञानयोगी दूसरों के प्रति उदासीन होते हैं। बल्कि स्वय के व्यक्तित्व को समाप्त कर, केवल मानव जाति की ही नहीं, ईश्वर द्वारा निर्मित सभी जीवों की ईश्वर ज्ञान से सेवा करना ही उनकी साधना का चरम सोपान है।[14] उस स्थिति में उनकी उपासना भी नहीं रह जाती, क्योंकि वे ब्रह्म के साथ एकाकार हो गए हैं। अतः अब वे किसकी उपासना करेंगे ?[15]

---

१६)—'···नेह नानाऽस्ति किंचन···' ; (१/४/७)—'···स एष इह प्रविष्टः···' ; (२/५/१६)—'रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव···अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः···' ; क० (२/२/१०)—वायुर्यथैको···रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च' ; छा० (६/८/७)—'स य···एतदात्म्यमिदं सर्व ··स आत्मा तत्वमसि'।

8. मु० २/१४)—'अग्निर्मूर्धा···सर्वभूतान्तरात्मा' ; मा० (६)—एषो-ऽन्तर्यामी ··'।

9. गी० (१२/३-४)-'ये त्वक्षरं···समबुद्धयः···सर्वभूतहिते रताः'।

10. गी० (५/१८)—'विद्याविनयसम्पन्ने···समदर्शिनः'।

11. ई० (६-७)—'यस्तु सर्वाणि भूतानि···एकत्वमनुपश्यतः' ; के० (२/५)-'···भूतेषु भूतेषु···अमृता भवन्ति' ; कै० (१/१०)—'सर्वभूतस्थमा-त्मानं···सम्पश्यन् ब्रह्म···'।

12. गी० (१३/३०)—'यदा···ब्रह्म सम्पद्यते तदा'।

23. वृ० (१/४/१०)।

14. गी० (५/२५)-'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः···सर्वभूतहिते रताः'।

15. वृ० (४/५/१५)—'यत्र तु अस्य···तत् केन कं पश्येत्···'।

ज्ञानयोग की साधना-पद्धति अर्थात् किन उपायों के द्वारा अविद्या के पर्दे को दूर कर अपनी आत्मा के साथ परमात्मा के अभेदत्व की उपलब्धि की जाय, इसकी व्याख्या एक अध्याय में करना संभव नहीं। केवलमात्र संक्षेप में कहा जा सकता है कि, इसकी प्रथम प्रस्तुति, चित्त की शुद्धि है और चित्त की शुद्धि होने पर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन है।[16] चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक साधना-चतुष्टय अर्थात् (क) शम इत्यादि की षट् सम्पत्ति यथा—शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा तथा समाधान ; (ख) नित्यानित्य वस्तुविवेक ; (ग) इहामुत्रफलभोगविराग ; (घ) मुमुक्षुत्व। इस पद्धत्ति तथा उपकरणों का क्रमिक वर्णन आगे के अध्यायों में किया जाएगा।

कर्मयोग :

साधारणतः लोग समझते हैं कि कर्मयोग का तात्पर्य अधिक कार्य करना और कर्मयोगी का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जो सर्वाधिक कार्य कर सकता है। लेकिन 'कर्मयोग' का मूलतः यह अर्थ नहीं है।

कर्म तो सभी करते हैं, यहाँ तक कि जबतक देह है, तबतक प्रतिक्षण हम कर्म करने के लिए बाध्य हैं[17], क्योंकि प्रकृति का स्वभाव ही है इन्द्रियों को परिचालित कर कोई न कोई कर्म करना। इस अर्थ में निश्वास एवं प्रश्वास इत्यादि की स्वाभाविक क्रिया भी तो कर्म ही है। तो फिर क्या हम सभी कर्मयोगी हैं? नहीं ऐसा कभी नहीं है, क्योंकि कर्मयोग का मार्ग अत्यन्त कठिन है।

---

16. बृ० (२/४/५ ; ४/५/६)-'आत्मा वा अरे···श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो···विदितम्'।

17. गी. (३/५)-'न हि कश्चित्··· प्रकृतिजैर्गुणैः'।

यदि सु और कु दोनों प्रकार के कर्म ही संसार-बंधनों के कारण हैं, तो फिर मोक्ष के मार्ग के रूप में केवल एक ही उपाय अंकित किया जा सकता है ; वह यह है कि प्रत्येक कर्म को भगवान के लिए ही किया जाए। इसे ही गीता में कर्म का 'कौशल'[18] या कर्मयोग कहा गया है।

उपनिषद वेद के ज्ञानकांड कहे जाने पर भी, विभिन्न उपनिषदों में विहित कर्म ज्ञानमार्ग के प्राथमिक सहायक के रूप में व्यक्त हुआ है। ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक है चित्तशुद्धि, क्योंकि चित्त दर्पण के समान होता है, जिसके मलिन रहने पर उसमें विशुद्ध-सत्त्व ब्रह्म प्रतिबिंबित नहीं हो सकते। इसलिए तपस्या, दम तथा कर्म ब्रह्मविद्या की 'प्रतिष्ठा'[19] कही गयी है।

गीता में सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को प्रधानता दी गयी है।[20] हमने सन्यास आश्रम के प्रसंग में देखा कि चूंकि सभी कर्मों से ही आसक्ति का जन्म होता है, इसलिए सन्यास आश्रम में वेद विहित कर्मों को भी त्याग कर 'निर्वेद'[21] या वैराग्य का अवलंबन करने का उपदेश उपनिषद के ऋषियों ने दिया है। लेकिन उपनिषद् में ही अंकित है कि कामना या आसक्ति को त्याग देना ही वैराग्य का मूल अर्थ अथवा उद्देश्य है।[22] क्योंकि जबतक कामनारूपी बंधन रहेगा तबतक बार-बार इस संसार चक्र में आना पड़ेगा। जिस दिन कामना की ग्रंथि का अन्त हो जाएगा उसी दिन मरणशील

---

18. गी. (२/५०)-'···बुद्धियुक्तो···योग: कर्मसु कौशलम्'।
19. के. (४/८)-'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा···'।
20. गी. (५/२)-'···संन्यास: कर्मयोगश्च···कर्मयोगो विशिष्यते'।
21. मु. (१/२/७ ; १/२/१२)-'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा···कृतेन'।
22. क. (२/२/१४) ; वृ. (४/४७)–'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा···ब्रह्म समश्नुते'।

मनुष्य मुक्त पक्षी की भांति जन्म-मृत्यु के बंधन को तोड़ कर पार्थिव शरीर के रहते ही ब्रह्मलीन हो जाएगा।[22]

उपर्युक्त श्रुतिवाक्य का विस्तार करके ही गीता ने 'कर्मफल त्याग'[23] रूपी महामंत्र की आधारशिला पर कर्मयोग की रचना कर, वह ज्ञान एवं ध्यान की अपेक्षा शांति के लिए अत्यधिक अनुकूल है, ऐसा बताया है।

लेकिन यह सहज नहीं है कि सत्कर्म करके उसके लिए यश, या आत्मसंतोष तक पाने की आकांक्षा भी न की जाये। यह पहले ही कहा गया है, कि मोक्ष की प्राप्ति सभी कामनाओं तथा आसक्तिओं को दूर करने पर ही होती है। परन्तु जबतक सभी कामनाओं का उन्मूलन नहीं होता, तबतक कर्मफल त्याग की शिक्षा कैसे होगी इसकी व्यवस्था भी गीता में की गयी है—'मैं काया-मन-वाक्य तथा विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ कर रहा हूँ सभी भगवान् के कार्य हैं और ये सभी मेरे भगवद् उपासना के नैवेद्य है'[24], इस भावना से ओत-प्रोत रहने पर किसी प्रकार के फललाभ का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जो इसप्रकार से ईश्वर के समक्ष सभी कर्मों का समर्पण कर सकते हैं उन्हें किसी भी प्रकार के शुभ-अशुभ कर्म का फल बंधन में नहीं बाँध सकता, और उनको मोक्षप्राप्ति अवश्यंभावी है।[25]

अतएव कर्मयोग का सारतत्त्व है कि, कितने भी कर्मों का त्याग क्यों न किया जाये लेकिन कुछ कर्म रह ही जाते हैं। अत: सभी कर्मों का फल ईश्वर को समर्पित कर दिया जाए तो वे कर्म किसी

---

23. गी. (१२/१२)-'श्रेयो हि··· कर्मफलत्याग: त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'।
24. गी. (९/२७)-'यत् करोषि ··मदर्पणम्'; (१८/४६)-'···स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य···'; भा. (११/२/३६)-'कायेन वाचा मनसा··समर्पयेतत्'।
25. गी. (९/२८)-'शुभाशुभफलैरेवं···कर्मबंधनैः'।

भी प्रकार के बंधन या आसक्ति के कारण नहीं होते, बल्कि इससे संसार का कल्याण ही होगा।[26]

लेकिन कर्म करने के पश्चात उसके 'फल' को त्याग देने के पूर्व यह प्रश्न आ जाता है कि, किस प्रकार का कर्म करें अर्थात् जो कुछ करने की इच्छा हो उसे करने से क्या वह चित्त की शुद्धि में सहायक होगा? इस प्रश्न का सही उत्तर पाने पर हमारे पूर्वोक्त कर्मों की अधिकता का या कर्त्तव्य कर्म के परिमाण के प्रश्नों का भी समाधान हो जाएगा। इस मीमांसा के प्रारम्भ में ही हमें अधिकारवाद या क्रमविकास के मौलिक तत्त्वों का पुन: स्मरण करना होगा।

विधाता ने मनुष्य के इन्द्रियों की सृष्टि इसप्रकार से की है कि, वे बहिर्मुखी हैं; इसलिए वे सदा ही वाह्य जगत् से रूप-गन्ध-शब्द-स्पर्श आदि भोग-वस्तुओं के संग्रह में व्यस्त रहती हैं।[27]

इसलिए कर्म मनुष्य के जीवदेह के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति है तथा प्रवृत्ति के स्तर से अलग हो कर साधारण मनुष्य के लिए मोक्ष द्वार रूपी निवृत्ति मार्ग का अवलंबन करना संभव नहीं। सो आध्यात्मिक जीवन का निम्नतम स्तर अत्यधिक कर्मों से भरा तो होगा ही। क्योंकि मोक्ष प्राप्ति रूपी श्रेय के स्थान पर, साधारण मनुष्य धन-विषय-पुत्र इत्यादि के अर्जन रूपी प्रेय को ही स्वीकार करते हैं।[28] यदि कोई इस स्तर के किसी भी मनुष्य को निर्वेद या कर्मत्याग का उपदेश देता है, तो उपदेश देनेवाले की ही हास्यास्पद स्थिति हो जाती है। यही कारण है कि गीताने साधना की प्राथमिक अवस्था में कर्मत्याग न कर, इन्द्रियों द्वारा प्रेरित कर्मों को

---

26. गी. (३/१९-२०)-'तस्मादसक्त:···लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि'; (३/२५); (४/२०)–'त्यक्त्वा कर्मफलासंगं···करोति स:'; (५/१०)-ब्रह्मण्याधाय कर्माणि···पद्मपत्रमिवाम्भसा'।
27. क. (२/१/१)-'परांचि खानि···परां पश्यति···'।
28. क. (१/२/१)-'अन्यत् श्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय:···प्रेयो वृणीते···'।

ही भगवद् उद्देश्य में समर्पित करने का उपदेश दिया है और इस प्रकार के विहित कर्मों को 'यज्ञ' कहा गया है। आत्मशुद्धि के लिए जिन कर्मों का विधान है वे हैं दान, तपस्या, शास्त्राध्ययन, अतिथिसेवा जैसे पंचयज्ञ[29], जिनका उल्लेख हमने गार्हस्थ आश्रम के आवश्यक कर्त्तव्यों के रूप में पहले ही किया है। भक्तिमार्ग में भी कहा गया है कि, जबतक वैराग्य और भगवान की कथा के श्रवण कीर्तन ईत्यादि में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती, उस समय तक स्वधर्म में स्थित नित्य कर्मों तथा यज्ञ इत्यादि को करते जाना होगा। यहाँ तक कि योगी भी जबतक समस्त कामनाओं का परित्याग कर 'योगारूढ़' या ब्रह्म के साथ संयुक्त नहीं होता, तबतक उसे भी इन्हीं कर्मों को करते जाना होगा।[30] अतएव याद रखना है कि, कर्मयोग की पहली सीढ़ी में कर्मों की वाह्य अधिकता रहने पर भी वे इन्द्रिय-चरितार्थता के सहायक कर्म नहीं हैं। वे शास्त्रविहित कर्म हैं, जो प्रवृत्तिमार्ग, के अन्तर्गत तो हैं, लेकिन निवृत्ति के पाठ्यक्रम में भी हैं। क्योंकि विषयों के प्रति अनासक्ति एक दिन में नहीं आ सकती वरन् इन्द्रियों को उनके स्वाभाविक वहिर्मुखी दृष्टि से अन्तर्मुखी करने की शिक्षा धीरे धीरे ही दी जाती है।[31]

इससे ही कर्मयोग का विशिष्ट उपकरण लोकसंग्रह भी आ जाता है।[32] यह ईश्वर के प्रति सभी कर्मों के समर्पण का एक उपाय भी है। ब्रह्म यदि सभी जीवों में, सर्वभूतों में विद्यमान हैं, तो फिर कर्म के द्वारा ईश्वर की सेवा का प्रत्यक्ष उपाय है ईश्वर सृष्ट सभी जीवों की सेवा करना और उनकी सृष्टि रक्षा के अनुकूल

29. भा. (११/२०/९-१०)-'तावत् कर्म्माणि कुर्वीत ··समाचरेत्'।
30. गी (६/३-४)-'आरूरूक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते···योगारूढस्तदोच्यते'।
31. गी. (६/२५)-'शनैः शनैरुपरमेत्···'।
32. गी. (३/२५)-'···कुर्य्याद्विद्वान्···लोकसंग्रहम्'।

कार्यों को करना। इस प्रकार के कार्य में व्यक्तिगत स्वार्थ या किसी प्रकार के फल प्राप्ति का कोई स्थान नहीं होता।[33]

क्या कर्मयोग का यह सर्वोच्च सोपान ज्ञानयोग के सभी पदार्थों में निहित ब्रह्म की सेवा नहीं है ?[31] इसलिए दोनों ही अमृतत्व के उपाय हैं।[34] पुन: जो बिना ज्ञान प्राप्त किए ही निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त हुए हैं वे विश्व की यज्ञशाला में इसप्रकार के अनासक्त कर्म को साधना के द्वारा हो सर्वभूतात्मा का उत्कृष्ट परिचय पाएँगे।[35]

भक्तियोग :

ज्ञानकांड रूपी उपनिषदों में भक्तियोग को व्याख्या[36] का नहीं रहना स्वाभाविक ही है और भक्तियोग का विस्तार पौराणिक युग से आरंभ हुआ है, यही मूलत: सत्य है।

तथापि ज्ञानमार्गी के लिए भी ब्रह्मप्राप्ति के सर्वोच्च स्तर में शरणागति को आवश्यकता का आभास कई उपनिषदों[36] में मिलता है। और उन्हीं के आधार पर भक्तिशास्त्रों की रचनाएँ हुई हैं। वास्तव में ज्ञानमार्ग की दुर्गमता ही भक्तियोग के उद्‌भव का कारण है।[37-38]

---

33. गी. (१८/४६)-'···स्वकर्मणा तमभ्यर्च्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:'।
34 श्वे. (१/६)-'सर्वाजीवे जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति'।
35. गी. (४/३३)-'···सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'।
36. यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के नाद विन्दु उपनिषद में भक्ति को ज्ञान-योगी के लिए भी चरम आलंबन के रूप में उद्‌धृत किया गया है। [ना. वि. (१९-२०)-'तद्‌भक्तस्तत्‌समासक्त:···ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्नुते']। श्वेताश्वतर उपनिषद के अंतिम मंत्र भी अविस्मरणीय हैं (६/२१, २३)-'तप: प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ··यस्य देवे परा भक्ति:···प्रकाशन्ते···']; तथा, कठ. (१/२/२३)-'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:···'।
37. गी. (१२/२-८)-'मय्यावेश्य मनो···न संशय:'।
38. इसालिए अद्वैतवादी शंकराचार्य, अद्वैत उपासना में असमर्थ शिष्यों के लिए अनेक स्थानों पर स्वय ही शिव, विष्णु इत्यादि देव मूर्तियों की स्थापना कर एकसाथ साकार एवं द्वैत उपासना की व्यवस्था कर गए हैं।

मोक्षप्राप्ति के लिए आत्मज्ञान चाहिए लेकिन, सौ शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी उस आत्मज्ञान का होना संभव नहीं क्योंकि आत्मज्ञान सांसारिक विद्याओं की भांति शब्दों के द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता। इन्द्रिय इत्यादि को संयत कर और विषयों से दूर होकर, चित्त को पूर्णतया विशुद्ध कर पाने पर ही वह चित्त आत्मज्ञान के उदय होने योग्य होता है।[39] लेकिन फिर भी, कब किस समय, उस आत्मा का स्वरूप प्रकाशित होगा यह ब्रह्म की कृपा[40] पर निर्भर करता है, उपनिषद् के ऋषि इसकी उपलब्धि आदिकाल में ही कर लिए थे। इसलिए श्वेताश्वतर के ऋषियों ने ज्ञानयोग की सर्वांगीण व्याख्या करने के उपरान्त, मुक्तिप्राप्ति के लिए अपने चित्त में स्थित उसी विश्वरूप देवता की उपासना करने,[41] एवं अंत में आत्मबुद्धि के प्रकाश के लिए उसी स्वयंप्रकाश ईश्वर की शरण में जाने[42] को कहा है। अतएव ब्रह्मप्राप्ति[43] या ब्रह्मज्ञान[44] के लिए उस ब्रह्म की ही कृपा माँगनी पड़ेगी—भक्ति उसी मार्ग का ही पाथेय है।[45–46] श्वेताश्वतर उपनिषद में, हम इसप्रकार ज्ञान एवं भक्ति का प्राचीनतम समन्वय देखते हैं—'ब्रह्म को जानने के लिए उनका अनुग्रह आवश्यक है[44] और उसको प्राप्ति के लिए शरणागति[44] या पराभक्ति का होना आवश्यक है।[45] दूसरी तरफ जिस निराकार,

---

39. क. (१/२/२०)-'···तमक्रतुः पश्यति···महिमानमात्मनः'; मु. (३/१/८)-'···विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'।
40. क. (१/२/२३)-मु. (३/२३)-'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः···तनुं स्वाम्'।
41. श्वे. (६/५)-'···तं···देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्'।
42. श्वे. (६/१८)-'··तं ह मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'।
43. श्वे. (६/१०)-'···स नो दधातु ब्रह्माप्ययम्'।
44. श्वे. (६/२१)—'तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च···'।
45. श्वे. (६/२३)-'यस्य देवे परा भक्तिः···'।
46. कैवल्योपनिषद् (१/२) में है कि, ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने के लिए

उपाधिहीन ब्रह्म का दर्शन करने के लिए वृहदारण्यक 'श्रवण' 'मनन' तथा 'निदिध्यासन' का विधान दिए थे, उसी ज्ञानप्राप्ति की तैयारी और सहायक के रूप में ही श्वेताश्वतर उसके सगुण रूप की भक्ति तथा उपासना का उपदेश दिए हैं।[48] दोनों का लक्ष्य एक ही है।[49]

वैदिक युग में भक्ति का आभास रहने पर भी एक मौलिक विषय में भागवत आदि भक्तिशास्त्रों की विशेषता है, जिसका उल्लेख पहले ही करना उचित है। उपनिषदों के ज्ञानयोग में अद्वैत ब्रह्म स्वयं ही ब्रह्माण्ड के रुप में प्रकट हुए हैं, अतः हम, तुम सभी स्वरूपतः ब्रह्म हैं एवं वह ब्रह्म निर्गुण है, अत: एक दूसरे से प्रेम करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्मवादी का लक्ष्य है ब्रह्म के साथ अपने अभेदत्व के ज्ञान अथवा बोध को अर्जित करना।[50] भक्तिमार्ग में ब्रह्म के सगुण रूप की कल्पना कर उन्हें भगवान की संज्ञा दी गयी हैं—वे भक्तों के भगवान् है', अर्थात भक्त उनसे प्रेम कर सकता है और वे भो भक्त से प्रेम कर सकते हैं। ये भगवान् भक्त के उपास्य द्वैत सत्ता हैं—भक्तिवादी कभी भी नहीं कह सकता "मैं ही भगवान् हूँ" ; वह कहेगा 'मैं उनका दास हूँ, सन्तान हूँ, सखा हूँ, माता हूँ, स्त्री हूँ' इत्यादि।[51]

श्रद्धा, भक्ति (या भजन) तथा ध्यान का होना आवश्यक है—'श्रद्धाभक्ति-ध्यानयोगादवेहि'···।

47. वृ. (२/४/६ ; ४/५/६)-'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः···'।

48. श्वे. (६/१६-१८)-'सः विश्वकृद् ··गुणी सर्वविद् यः···शरणमहं प्रपद्ये'।

49. श्वे. (१/८ ; २/१५ ; ४/१५ ; ५/१३)-'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'।

50. इसलिए अद्वैतवादी शंकराचार्य ने 'भक्ति' शब्द के द्वारा आत्मा की खोज अथवा अपने स्वरूप चिन्तन को प्रतिपादित किया है [श. वि. (३१)]। लेकिन 'भक्तियोग' की आधारशिला द्वैतबोध है।

51. यही शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भावना की साधना कही जाती है।

वर्तमान समय में हम वैष्णव सम्प्रदाय को ही प्रधान भक्तिमार्गी समझते हैं। वेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद्भागवत पुराण तथा नारदीय भक्तिसूत्र इस मार्ग के मूल शास्त्र हैं। हम इस भागवत् तथा भक्तिधर्म का उल्लेख अन्य पुराणों में भी पाते हैं।[52]

यह भी उल्लेखनीय है कि, वैष्णव सम्प्रदाय प्रधान भक्तिमार्गी होने पर भी, शैव, शाक्त, सौर तथा गाणपत्य सम्प्रदाय को भी भक्ति मार्ग के अन्तर्गत रखा गया है।[53] क्योंकि ये सभी द्वैत सिद्धांत को मानते वाले हैं और भक्तियोग में उपासना की अलग-अलग पद्धत्तियों का प्रचार किए हैं।

नारदीय भक्तिसूत्र में हम भक्तिमार्ग के सारतत्व को पाते हैं। इसी नारद का उल्लेख हमें भागवत,[54] गीता[55] तथा महाभारत के विभिन्न स्थानों पर[56] भी मिलता है। इन सारतत्त्वों की संक्षेप में व्याख्या की जा सकती है।

भक्ति का अर्थ—भगवत्प्रेम या भगवान् के प्रति अनुराग है।[57]

---

52. स्कंद, विष्णु (१६ अ.) ; ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, ब्रह्मवैवर्त्त, वामन, कूर्म।
53. विभिन्न पुराण इन प्रत्येक मतों के प्रामाणिक शास्त्र हैं। उदाहरणस्वरूप, शक्तिवाद का प्रवर्तक मार्कण्डेय पुराण है। इसकी विवेचना पहले ही कर चुका हूं कि निश्चित रूप से रूद्र, दुर्गा इत्यादि देवताओं का नाम वेद में विभिन्न स्थानों पर अंकित है। इससे अनेक व्यक्ति यह समझते हैं कि शैव उपासना या शक्ति की उपासना पौराणिक युग के पहले से ही प्रचलित थी ; शुक्ल यजुर्वेद के रूद्राध्याय (१६ अः) का अध्ययन करने पर हमें नीलकठ, पशुपति, पर्वतचारी, जटाधारी, पिनाकी आदिशिव के रूद्ररूपों को पहचानने में कोई कष्ट नहीं होगा।
54. भा. (१/४/३२-१/६/३६)।
55. गी, (१०/१३/२६)।
56. महा. (शान्ति-८१)।
57. ना. भ. (१/२)-'सा तस्मिन् परमप्रेमरूपा'।

इस अनुराग में कई स्तर हैं—

1. अनन्य या ऐकांतिक। जबतक ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय के प्रति आकर्षण रहेगा तबतक ईश्वर से प्रेम नहीं किया जा सकता।[58] अत: भक्ति पथानुसार सिद्धि प्राप्ति के लिए भी शरीर तथा सभी इन्द्रियग्राह्य विषय वस्तुओं के प्रति अनासक्त होना होगा। यही गीता के अनुसार अव्यभिचारिणी भक्ति[60] कही जाती है।

2. आत्मनिवेदित या सर्वसमर्पित। मात्र इतना ही नहीं है कि भक्त केवल अपने सभी कर्मों के फल को भगवान को समर्पित करते हैं[61] तथा उन्हें अनुराग का पात्र समझते हैं, बल्कि वे अपने को ही सम्पूर्ण रूप से ईश्वर को समर्पित कर अहंकार का लोप करना चाहते हैं। इसप्रकार के मानव के लिए अपना कुछ भी नहीं होता, अत: स्वार्थ के द्वारा प्रेरित कर्म भी समाप्त हो जाते हैं।[62]

ज्ञानयोगी कहता है कि, जीवात्मा के साथ परमात्मा के मिलन में देहबोध ही बाधा है। ज्ञान के द्वारा वह उसे दूर करना चाहता है। भक्त शरीर के साथ अपने जैविक अस्तित्व को ही [62] भगवान को समर्पित करके रिक्त होकर इस अवरोध को दूर करना चाहता है। क्या दोनों का लक्ष्य एक ही नहीं है ?

3. व्याकुलता। जो व्यक्ति प्रेम के पात्र से ऐकान्तिक प्रेम कर स्वयं को समर्पित करना चाहता है, वह क्षण मात्र का विस्मरण भी

---

58. ना. मा. (१/१०)-'अन्याश्रयाणां त्याग अनन्यता' ; गी. (११/५४)—'भक्त्या त्वनन्यया···' ; (९/२२)-'अनन्याश्चिन्मयन्तो मां···' ।

59. गी. (११/५५)–'···संगवर्जित:···' ।

60. गी. (१३/१०)-'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी···'; (१४/२६)-'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते···' ।

61. ना. भा. (३/१९)-'···तदर्पिताखिलाचारता···परमव्याकुलतेति' ।

62. भ. (११/२९/३४)-'मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा' ।

किस प्रकार सहन कर सकता है। यही परम व्याकुलता भक्ति का उत्कृष्ट लक्षण है। जिस प्रकार तेल की निरन्तर धारा के समान भगवान से युक्त रहना योगी का पाथेय है, उसी प्रकार भगवान् का सतत स्मरण एवं मनन करना भक्त का अवलंबन है।

4. अहेतुकी। भक्तिमार्गी साधक स्वर्ग इत्यादि, यहां तक कि मोक्ष की भी प्रार्थना नहीं करता।[63] ईश्वर के प्रति अनुराग ही उसका उद्देश्य है, और कुछ नहीं।[64]

इसका कारण है कि, ईश्वर ही तो सभी रसों, सभी प्रकार के आनन्दों के आधार तथा स्रोत हैं।[65] ज्ञानमार्ग के अनुसार ईश्वर का ज्ञान होने पर या उन्हें प्राप्त करने पर शाश्वत आनंद तथा अमृतत्त्व या मोक्ष को उपलब्धि होती है। भक्ति मार्ग के अनुयायी कहते हैं कि, ईश्वर के प्रति अनुराग अमृत स्वरूप है[66], अतः अमृतरस का निरन्तर आस्वादन करना मुक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ है; इसीलिए भक्त अपने जंविक द्वैत सत्ता का लोप कर मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा नहीं करते[67] उनकी प्रार्थना होती है कि वे भक्त के रूप में रहकर सदा उसी अमृत सिन्धु में डुबकियां लगाते रहें।[68]

ऐसी निष्काम भक्ति को 'आत्यन्तिकी' या 'अकिंचना' भक्ति भी कहते हैं। अर्थात् इस स्तर पर पहुँचने के उपरान्त भक्त केवलमात्र भगवान् की सेवा की ही कामना करता है, किसी भी

63. ना. भा. (१/५)-'यत् प्राप्य न किंचित वांछति···भवति'; भा. (११/१४/१४)-'न पारमेष्ठ्यं···मद् विनान्यत्'।
64. ना. भ. (२/७)-'सा न कामयमाना···'।
65. तै. (२/७/२)-'रसो वै सः···आनन्दी भवति'।
66. ना. भ. (१/३-४)-'अमृतस्वरूपा च···अमृतो भवति'।
67. भा. (११/२०/३४)-'न किंचित्··वांछत्यपि···कैवल्यमपुनर्भवम्'।
68. भा. (६/१२-२२)-'यस्य भक्तिर्भगवति···विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ···'।

प्रकार के पुरस्कार की आकांक्षा नहीं करता,[69] चाहे वह स्वर्गलोक अथवा ब्रह्म सारूप्य या सायुज्य ही क्यों न हो।[70]

राजयोग :

ज्ञान, भक्ति, कर्म, इन तीनों मार्गों के परिपूरक के तौर पर और एक पथ का उल्लेख करना उचित है, वह है राजयोग। आध्यात्मिक जगत् में किसी भी मार्ग को क्यों न अपनाएँ, आगे बढ़ने के मार्ग में मानसिक चंचलता ही पहली रुकावट है। इसकी

69. कथा. (४/११)।

70. भा. (३/२९/१३)-'सालोक्य-सार्ष्टि ··जनाः'। इस प्रसंग में ग्रंथकार का यही निवेदन है कि, भक्तिमार्गी मुक्ति भी नहीं चाहते—केवलमात्र इतना ही कहना भागवत तथा गीता के विपरीत कथन होगा। भागवत के (१२/१३/१८-२२) अन्तिम अध्याय में देखा जा सकता है कि, इस भागवत पुराण में 'ज्ञान-विराग-भक्ति के साथ नैष्कर्म' का निर्देश है। भक्ति के साथ इसका पाठ करने पर साधक 'विमुक्त' हो सकता है। इसी कारण से मुक्ति की इच्छा रखने वाले ब्रह्मा और परीक्षित् को भागवत का श्रवण कराया गया था। भागवत में भक्त की अंतिम प्रार्थना यही है (१२/२३/२२) कि-'हे वासुदेव ! आप कुछ ऐसा विधान कीजिए जिससे कि प्रत्येक जन्म में आपके चरणों में मेरी भक्ति बनी रहे'। इसका कारण यही है कि भक्तिमार्ग में इसप्रकार की अकिंचना भक्ति ही मोक्ष का उपाय है।

यह भी नहींभूला जा सककता है कि गीता के अठ्ठारहवें अध्याय को 'मोक्षयोग' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। यहां भी कहा गया है कि 'ब्रह्मभूत' योगी वासुदेव के प्रति पराभक्ति को प्राप्त कर, उसके द्वारा उनके स्वरूप को पहचान कर, उसमें ही प्रवेश करते हैं (१८/५४–५५) अथवा उनकी ही कृपा से 'शाश्वत अव्यय' पद प्राप्त करते हैं (१८/५६) इसलिए चरम उपदेश यही है कि, "तुम सभी धर्मों का परित्याग कर, मद्गतचित्त तथा मद्भक्त होकर मेरा स्मरण करो, मैं तुम्हे सभी पापों से (अर्थात् कर्मफल रूपी संसारिक बंधनों से) 'मुक्त' करूँगा" (१८/६५-६६)।

व्याख्या अन्य स्थानों पर की गयी है। भगवान में अपते चित्त को स्थिर नहीं कर पाने पर किसी भी प्रकार को उपासना संभव नहीं है। शारीरिक विकार तथा अस्थिरता भी मानसिक चंचलता के विशिष्ट कारण हैं। राजयोग इस दुरन्त शरीर तथा मन को वश में लाने की एक प्रणाली है। सभो वहिर्मुखी द्वारों को बंध कर देह स्थित अन्तर्निहित शक्ति एवं चेतना को एकत्रित कर परमात्मा के साथ संयुक्त करने का विज्ञान ही राजयोग है।

पहले ही कहा गया है कि, मनुष्य की इन्द्रियाँ वहिर्मुखी होने के कारण वे इन्द्रियग्राह्य विषयों के आकर्षण से यत्र-तत्र दिग्भ्रमित होती रहती हैं, जिससे मनुष्य जीवन के लक्ष्य से अर्थात् मोक्षप्राप्ति

अत: भक्ति सम्प्रदाय को मोक्षविरोधी मानना उचित नहीं है। भक्तिमार्गी साधक मुक्ति की प्रार्थना भले ही नहीं कर सकते हैं, परन्तु जिस पल वे भगवान में पराभक्ति प्राप्त करेंगे उसी पल वही भक्ति पवन अपनी वेग से उन्हें मुक्ति के द्वार पर पहुंचा देगी। यह ग्रंथकार के स्वयं की कपोल कल्पना नहीं है, वल्कि श्रीमद्भागवत् की उक्ति है। तीसरे स्कन्द के पच्चीसवें अध्याय में श्रीभगवान ने कहा है कि, जो 'अनिमित्ता भागवती भक्ति' में सिद्ध हो गए हैं, वे 'एकात्मता' या भगवत्सायुज्य तक की प्रार्थना नहीं करते [३/२५/३३-३४]। उसके पश्चात् श्रीभगवान फिर कहते हैं कि, जिन्होंने मन प्राण इत्यादि सभी इन्द्रियों के साथ स्वयं को मेरे चरणों में सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग कर दिया है, वे मुक्ति की इच्छा न करें तव भी मेरे प्रति उनकी वह समर्पिता भक्ति स्वयं—उनकी अनिच्छा के वावजूद भी—उन्हें मुक्ति प्रदान करती है [३/२५/३६-'···भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुंक्ते']। जो स्वयं का सवकुछ विसर्जित कर मेरा भजन करते हैं, मैं उन्हें उसी कारण से 'मृत्यु' या जन्ममरण इत्यादि संसारिकता से मुक्ति प्रदान करता हूं [३/२५/४०-'···'तानमृत्योरतिपारये']।

इसप्रकार देखा गया कि, मोक्ष की 'आकांक्षा' करना तथा उसे प्राप्त करना दोनों वातें एक नहीं हैं। भक्तियोगी मुक्ति नहीं चाहते, किन्तु पाते हैं। क्योंकि जो भक्ति के जादूमंत्र से पुरूषोत्तम में लीन हो गए हैं,

या आत्मज्ञान के मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। अतएव इन्द्रियों को विषय से निवृत्त कर अन्तर्मुखी कर पाने पर ही हृदयस्थित आत्मा का दर्शन संभव है।[71]

दूसरे शब्दों में, अतीन्द्रिय जगत के किसी भी वस्तु का दर्शन स्थूल नेत्रों के द्वारा संभव नहीं है।[72] इसके लिए शुद्ध अन्तर्दृष्टि सम्पन्न मन के नेत्रों या ज्ञाननेत्रों की आवश्यकता है।[73] इसप्रकार के एकाग्रचित्त[74] एवं निर्मल दृष्टि को पाने के लिए भी मन के साथ समस्त इन्द्रियों को ब्रह्म के अतिरिक्त सभी प्रकार के चिन्तनीय विषयों से पृथक करना होगा[75]

उपर्युक्त चित्तशुद्धि तथा इन्द्रियनिरोध के लिए[76] राजयोग ने एक वैज्ञानिक मार्ग को निर्देशित किया है। इसे 'धर्मविज्ञान'[77] कहते हैं। इसका कारण यह है कि भक्ति, कर्म, अथवा ज्ञानमार्ग

उनका फिर पुनर्जन्म कैसे हो सकता है [भा. (३/२७/२८-२९)-'··· मद्भक्तः···निःश्रेयसं स्वसंस्थानं ··मदाश्रयं ··यद्गत्वा न निवर्त्तेत···']? अतः मोक्ष भक्ति योग का लक्ष्य अथवा चरम अवस्था नहीं है, यह कहना भी भागवत् विरूद्ध ही होगा [भा. (३/२५/४३)-'···भक्तियोगेन···क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्ति···'] ।

अतएव अद्वैत तथा द्वैत मतों में अन्ततः कोई मतभेद नहीं है, ज्ञान तथा भक्ति दोनों ही मुक्ति के पथ हैं ; मोक्ष ही पूरे हिन्दू धर्म का एक मात्र उद्देश्य तथा परिणति है। इसप्रकार उपनिषदों तथा पुराणों में भी कोई परस्पर विरोधी नहीं है, मतभेद रहने पर हमने प्रारंभ में ही निर्देशित कर दिया है कि, उपनिषद् ही प्रामाणिक माने जाएँगे।

71. क. (२/१/१)-'परांचि खानि···अमृतत्वमिच्छन्' ।
72. श्वे. (४/२०) ; क. (२/३६)-न सन्दृशे तिष्ठति···भवन्ति' ।
73. अ. वि. (२१)-'ज्ञाननेत्रं समादाय···स्मृतम् ।
74. अ. वि० (२०)-'घटमिव···मनसा मन्थानभूतेन' ।
75. अ. वि. (२-६)-'मन एव···तदा' ।
76. पा. यो (१/२)-'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' ।
77. वि. वा. र. (१/२५७) ।

में निष्ठा एवं सतत अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को वश में लाना तथा इष्ट के साथ तादात्म्य स्थापित करना सभव होने पर भी, राजयोग के शीर्षस्थानीय शास्त्रों ने तर्क के द्वारा तथा प्रत्यय के साथ इस मार्ग के प्रत्येक चरण को निर्देशित किया है, जिस मार्ग का अवलंबन करने पर मुक्ति अवश्यम्भावी है।[78]

यह जानने के लिए कि राजयोग क्या है सबसे पहले हमें हठयोग के साथ इसके अन्तर को समझना होगा। हठयोग का उद्देश्य शरीर को स्वस्थ, बलवान तथा दीर्घायु बनाना है। हठयोगी की धारणा है कि, किसी भी प्रकार की शक्ति को अपने अधिकार में करने के लिए शरीर को उत्सर्जी पदार्थों से पूर्णत: मुक्त एवं नियंत्रित करना आवश्यक है। इसलिए हठयोग में नेति, धौति, वस्ति जैसी शारीरिक क्रियाओं का विधान है।[79] सामान्य व्यक्ति 'योग' का अभिप्राय हठयोग के इन्हीं व्यायामों को समझता है। लेकिन हठयोग का उद्देश्य शारीरिक उन्नति है, इसके साथ आध्यात्मिक उन्नति का कोई नित्य संबंध नहीं है। इतना अवश्य है कि राजयोग की क्रियाओं में शरीर को वश में लाने वाली सहायक क्रियाएं भी हैं। यहाँ तक कि प्राथमिक स्तर में राजयोगी कुछ दिनों तक या थोड़े परिमाण में हठयोग का अभ्यास कर सकता है।[80] लेकिन यदि वह अभ्यास केवल शारीरिक परिचर्या में ही बदल जाता है तो फिर उसे और राजयोगी बनने की आशा नहीं रह जाती।

'योग' शब्द का कोषानुसार अथ संयुक्त होना या करना है। राजयोग का उद्द्श्य जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोड़ना है।

---

78. अ. ना. (२६, ३८)-'कैवल्यं न स भूयोऽभिजायते'।
79. हठयोग के मौलिक ग्रंथों में उल्लेखनीय हैं—योगियाज्ञवल्क्य, हठयोग-प्रदीपिका, षट्चक्रनिरूपण, योगरक्षसंहिता; घेरन्डसंहिता।
80. योगतत्त्वोपनिषद् का (१२९) कथन है—हठयोग का अभ्यास करने के उपरान्त ही राजयोग में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

क्योंकि ब्रह्म के साथ युक्त हो पाने पर या मिल पानेपर ही मुक्ति संभव है अन्यथा नहीं, ऐसा श्रुति में बार-बार कहा गया है।[81]

इसलिए ज्ञानमार्गी होने पर भी, किसी किसी उपनिषद में राजयोग की प्रक्रियाओं का विशेषत: प्राणायाम का उल्लेख ब्रह्मज्ञान के सहायक के रूप में है।[82] इसे 'अष्टयोग' की संज्ञा देकर इसके आठ अंगो या स्तरों की विशेष व्याख्या शाण्डिल्योपनिषद में की गई है। कूर्मपुराण इत्यादि विभिन्न पुराणों तथा गीता[83] में भी अष्टांग योग का उल्लेख है। लेकिन पतंजलि का योग शास्त्र ही राजयोग का सर्वाधिक व्यापक एवं प्रामाणिक ग्रंथ है।

अष्टांगयोग की प्रक्रियाएँ अनेक दिनों तक निष्ठा के साथ प्रयास करने के उपरान्त ही आती हैं। शरीर के साथ साथ मन पर शासन के सूक्ष्मतर अध्यायों में पहुँचने के लिए अनुभवी गुरू का निर्देशन अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा सफलता के स्थान पर शारीरिक या मानसिक असंगति आ सकती है। इसलिए मात्र पढ़कर या सुनकर ही राजयोग के अभ्यास का प्रयास नहीं करना ही उचित होगा। लेखनी के द्वारा प्रक्रियाओं की सही व्याख्या करना भी संभव नहीं हैं। अत: इस निबंध में हम केवलमात्र इसके

---

81. श्वे. (२/१५)-'···यदात्मतत्त्वेन···युक्तः प्रपश्येत्···मुच्यते सर्वपाशैः' ; क. (२/३/६-११)-'न संदृशे तिष्ठति···तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्···' म. (२/२/४)-'प्रणवो धनु:···ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' ; योग. (१०७, १२६-३०)-'···जीवात्मपरमात्मनो:···महातपा:'।
82. श्वे. (२/८-२/१५)-त्रिरून्नतं स्थाप्य समं शरीरं···मुच्यते सर्वपाशै:' ; (१/१४)-'स्वदेहमरणिं···ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येत्···' ; क्षु. (१/२५) ; योग (११-१४) ; योग. शि. (२/७)।
83. गी. (४/२६)-'अपाने जुह्वति···प्राणायामपरायणा:' ; (५/२७)-'स्पर्शान् कृत्वा ··नासाभ्यन्तरचारिणौ' ; (६/११-१३)-'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य··· समं कायशिरोग्रीवं···अवलोकयन्' ; (८/१२)-'सर्वद्वाराणि संयम्य··· योगधारणाम्'।

आठ अंगों या स्तरों का ही उल्लेख करेंगे, जिससे अन्य मार्गों से राजयोग की विशिष्टता स्पष्ट हो सके। ये आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।[84] सदैव ध्यान रखना होगा कि ये विभिन्न प्रक्रियाएँ क्रमिक अभ्यास के द्वारा आती हैं, अर्थात् एक में पूर्ण रूप से पारंगत हो जाने पर ही, दूसरे सोपान पर आरोहण किया जा सकता है, व्यस्त होने से अथवा धीरज न रखने पर काम नहीं बनेगा।[85]

1. यम—इसके पाँच साधन हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तथा अपरिग्रह।

2. नियम—इसके भी पाँच साधन हैं—शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान।

यम एवं नियम की व्याख्या एक साथ की जा सकती है, क्योंकि इनके उद्देश्य प्रायः एक हैं ; इन्द्रियों और चित्तवृत्तियों का दमन करना तथा उन्हें अन्तर्मुखी कर ईश्वर के साथ जोड़ना।[86]

3. आसन—यम-नियम के द्वारा चित्तवृत्तियों को वश में करने के उपरान्त प्राणायाम की तैयारी के लिए आसन की आवश्यकता पड़ती है।[88] हाथों एवं पैरों को विशेष ढग से रखने की क्रिया का नाम ही आसन है ; जिससे शरीर का प्रत्येक अंग स्थिर एवं अचल हो सके[88] क्योंकि शरीर के चंचल रहने पर मन भी चंचल रहने के

---

84. यह आठ प्रकार की प्रक्रिया गीता के (५/२७-२८) श्लोकों में सम्पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है-'स्पर्शान् कृत्वा···मुक्त एव सः'।
85. पा. यो. (वि. ६)-'तस्य भूमिषु विनियोगः'।
86. इसकी विस्तृत व्याख्या अगले अध्यायों में की जाएगी।
87. आसन, प्राणायाम इत्यादि पद्धतियों का अनेक शास्त्रों में विभिन्न रूपों में वर्णन किया गया है [यो. शि: (२-७) ; क्षु (२-२१)]।
88. ब्र. सू. (४/१/७)-'आसीनः सम्भवात्' ; श. वि. (३७८)-'लक्ष्ये ब्रह्मणि··· निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम्···'।

लिए बाध्य है। आसन अनेक प्रकार के होते हैं; उदाहरण के लिए, स्वस्तिकासन, पद्मासन इत्यादि। लेकिन अनेक प्रकार के आसनों के प्रचलित रहने पर भी पतंजलि के अनुसार[89] योगियों के लिए उन्हीं आसनों का अनुसरण करना उचित है जिससे बिना किसी विशेष प्रयास के ही वे देर तक स्थिर होकर बैठ सकें। क्योंकि, यदि आसन कि कठोरता के कारण कुछक्षण पश्चात् उनमें शारीरिक असुविधा या अस्थिरता उत्पन्न हो तो फिर उनके लिए प्राणायाम, ध्यान इत्यादि करना संभव नहीं होगा। आसन का उद्देश्य इसप्रकार से बैठना है जिससे स्थिर स्तम्भ के समान शरीर भी निश्चल हो जाय एवं देह का बोध भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाए; क्योंकि पृथ्वी के समान स्थिर न होने पर 'ध्यान' नहीं किया जा सकता[90]; तीर निर्माणकर्ता के समान एकाग्रचित्त नहीं होने पर 'समाधि' की उपलब्धि नहीं होगी[91]।

इन सभी कारणों से योगी साधारणतः 'स्वस्तिकासन' जैसे सहज आसन का ही उपयोग कहते हैं। लेकिन यदि किसी के लिए कोई दूसरा आसन अधिक सहज प्रतीत हो तो वह उसका प्रयोग कर सकता है, इस विषय में कोई निर्धारित नियम नहीं है।[89]

4. प्राणायाम—इसका व्युत्पत्तिगत अर्थ है—प्राणवायु का नियंत्रण। श्वास-प्रश्वास की गति को सयत कर जोवन-शक्ति को वश में लाना इसका उद्देश्य है।

आसनों के द्वारा शरोर में स्थिरता न आने तक प्राणायाम की उपयोगिता सम्पूर्ण नहीं होती।[92] विभिन्न योगी अनेक प्रकार से

89. पा. यो. (सा. ४६)-'स्थिरसुखमासनम्'। सांख्य का भी यही मत है (सा. प्र. ३/३४ ; ६/२४) ; ब्र. सू. (४/१/११)-'यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात्'।

90. ब्र, सू. (४/१/६)-'अचलत्वंचापेक्ष्य'।

91. सा. प्र. (४/१४)।

92. पा. यो. (सा. ४६)-'तस्मिन् सति···प्राणायामः'।

इस प्राणायाम को साधते हैं[93], लेकिन सभी पद्धतियों में तीन स्तर अपरिहार्य हैं और सभी पद्धतियों का लक्ष्य कुन्डलिनो शक्ति को जागृत करना है।

ये तीन स्तर या प्रक्रियाएँ इस प्रकार हैं—(क) पूरक या बाईं नासिका के पुट से श्वास को ग्रहण करना (दक्षिण नासिका को बंद कर); (ख) कुम्भक या दोनों नासिका पुटों को बंद कर पूरक में गृहीत श्वास या प्राणवायु को रोक देना ; (ग) रेचक अर्थात् उसी वायु को धीरे-धीरे दक्षिण नासिका द्वारा छोड़ना ; एवं पुनः दक्षिण नासिका द्वारा श्वास ग्रहण कर, कुम्भक के उपरान्त, बाईं नासिका द्वारा त्याग करने पर एक प्रक्रिया सम्पूर्ण होगी। इस श्वास-प्रश्वास को नियमित करने के लिए प्रणव, ईष्टदेव-देविओं के नाम अथवा बीज मत्र की निर्दिष्ट सख्या का जाप करना होगा ; एव साधारणतः पूरक तथा रेचक को एक ही संख्या में और कुंभक को उसी संख्या का दूना करना पड़ता है, जिससे कुंभक का स्थायित्व बढ़ाया जा सके, क्योंकि कुंभक से ही साधक मन को एकाग्र करने में एवं चिन्ता से मुक्त रहने में अभ्यस्त होता है।

5. प्रत्याहार :—

आसन एवं प्राणायाम के द्वारा शरीर को स्थिर करने पर भी कभी-कभी इन्द्रियों का स्वभाव और मन की चंचलता का सम्पूर्ण रूप से विनाश नहीं हो पाता। इस स्थिति में योगी को उस ओर ध्यान रख कर इन्द्रियाँ जिन-जिन विषयों के प्रति दौड़ रही हैं उनसे उन्हें निवृत्त कर, पुनः आत्मा में स्थापित करना होगा।[1] इसी प्रक्रिया को प्रत्याहार कहते हैं।[2]

93. साधक किस पद्धति का अनुसरण करेंगे, यह उनके गुरू के ऊपर निर्भर करता है। योग्य गुरू के निर्देशन के बिना प्राणायाम का आरंभ करना उचित नहीं, अन्यथा विभिन्न प्रकार के शारीरिक कष्ट उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

1. गी. (६/२६)-'यतो यतो निश्चरति···वशं नयेत्'।
2. पा. यो. (सा. ५४)-'स्वविषयासम्प्रयोगे···प्रत्याहारः'।

यहाँ तक आकर भी हो सकता है कि इन्द्रियों को इस प्रकार से अनुशासन में बांधना सहज नहीं हो, इसलिए गीता में बताया गया है—विषय से यह उपरति धीरे-धीरे आएगी तथा इसके साथ धारणा अर्थात् मन को आत्मा में स्थापित करने का अभ्यास करने पर उपरति भी सहज उपलब्ध हो जाएगी ।[3]

प्रत्याहार सम्पूर्णरूप से सफल न होने पर समाधि भी प्राप्त नहीं होगी ।

6. धारणा :—

किसी विशेष वस्तु अथवा आधार में चित्त को निविष्ट करना या टिकाए रखना ही धारणा है ।[5]

प्रश्न उठ सकता है कि, जब मन को विषयों से निवृत्त कर चिन्ताओं से मुक्त कर देना ही राजयोग का उद्देश्य है, तो फिर उसी साधना में किसी वस्तु की धारणा करना क्या युक्तिहीन नहीं ? उत्तर है—नहीं ; और जिस वस्तु की धारणा की जाएगी वह इन्द्रिय-ग्राह्य होने पर भी इन्द्रियभोग्य वस्तु नहीं होगी । इस प्रसंग में कुछ तर्कों को ध्यान में रखना होगा—

(क) मन का स्वभाव यह है कि, वह एक ही समय में दो वस्तुओं की धारणा नहीं कर सकता ।[6]

(ख) जबतक विषयों से सम्पूर्ण रूप से निवृत्त होकर चित्त को चिन्ताओ से मुक्त एवं निराकार ब्रह्म में निविष्ट रखना अभ्यस्त नहीं हो जाता, तबतक इन्द्रियभोग्य विषयों को छोड़कर चित्त को अन्य किसी भी वस्तु के चिन्तन का अभ्यास कराया जाय, तो वही 'चित्तवृत्तिनिरोध' को क्रमिक शिक्षा होगी ।

---

3. गी. (६/२५)–'शनैः शनैः···चिन्तयेत्' ।
4. गी. (२/४४)-'···व्यवसायात्मिका वुद्धिः समाधौ न विधीयते' ।
5. पा. यो. (वि. १)-'देशबंद्धचित्तस्य धारणा' ।
6. पां. यो. (कै० २०)-'एकसमये चोभयानवधारणम्' ।

(ग) स्थूल से सूक्ष्म की धारणा ही मन की स्वाभाविक प्रगति है। निर्गुण, निराकार ब्रह्म की धारणा साधारण मनुष्य के लिए सभव नहीं होने के कारण ही राजयोगियों ने पहले किसी भी प्रकार के स्थूल वस्तु के चिन्तन का निर्देश दिया है। वह वस्तु क्या होगी उस विषय में कोई एक मात्र विधान नहीं दिया गया है।

(घ) यह अपने शरीर का कोई अंग भी हो सकता है। इसलिए योगशास्त्र ने शरीर के छः स्थानों को निर्देशित किया है, इसे षट्चक्र भी कहते हैं। जैसे—(१) मूलाधार (गुदा से ऊपर का स्थान) ; (२) स्वाधिष्ठान (लिंगमूल) ; (३) मणिपुर (नाभिमंडल) ; (४) अनाहत (हृदय) ; (५) विशुद्ध (कंठ) ; (६) आज्ञा (भ्रुवों का मध्य भाग)।

7. ध्यान :—

सर्वप्रथम निम्नतम चक्र मूलाधार से ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। इसी स्थान पर शरीर की सम्पूर्ण शक्ति कुण्डलिनी के रूप में सुप्त रहती है। उसे जागृत कर योगी क्रमशः ऊपरी चक्रों में ध्यान का अभ्यास करेंगे। एकबार कंठ प्रदेश या विशुद्धचक्र में कुण्डलिनी को पहुँचा पाने पर फिर किसी भी निम्न प्रदेश में उसके स्खलित या पतित होने की संभावना नहीं रहती। आज्ञाचक्र में पहुंचने पर सविकल्प समाधि की उपलब्धि होती है।[7]

निर्विकल्प या सर्वश्रेष्ठ समाधि, और भी ऊपर अर्थात् ब्रह्मरंध्र (मस्तिष्क) या सहस्रार में कुण्डलिनी को प्रतिष्ठित कर पाने पर प्राप्त होती है।

---

7. गीता के अनुसार (८/१०, १२-१३-'प्रयाणकाले···परमां गतिम्), कोई यदि मृत्यु के समय आज्ञाचक्र में प्राणवायु को धारण कर, ॐ रूपी एकाक्षर शब्दब्रह्म का जाप करते हुए वासुदेव का ध्यान कर शरीर का त्याग करें, तो उन्हें परमगति प्राप्त होगी। लेकिन वे ही व्यक्ति मृत्यु के समय इसप्रकार की असंभव सी प्रतीत होनेवाली निपुणता दिखा सकते हैं, जो अपने जीवन में राजयोग का ऐसा निरंतर अभ्यास किए हों कि, वह अभ्यास मृत्यु के उस चरम क्षण में भी पूर्ववत् बना रहे।

(क) धारणा तथा ध्यान की वस्तु, सगुण ब्रह्म की कोई भा साकार मूर्ति, जसे—इष्ट देव-देवो की मूर्ति, हो सकतीहै। इसे स्थूल ध्यान कहा जाता हं।[8]

(ख) जो इनसे ऊपर उठ गए हैं वे ब्रह्म के प्रताक प्रणव या ओंकार के जप अथवा उच्चारण के साथ अर्थ की धारणा करने पर समाधि प्राप्ति में सक्षम होंगे।[9] प्रणव या विन्दु को सूक्ष्म ध्यान कहा जाता हं।

यह सत्य तर्क से परे है कि[10]-[11], अत्यन्त गूढ़ मायाजाल से आवृत विश्वात्मा का दर्शन करने के लिए ध्यान अथवा चित्त की एकाग्रता की आवश्यकता है। क्योंकि वहिर्मुखी इन्द्रियों को रूप-रस इत्यादि वाह्य विषयों से निवृत्त कर[12], अन्तर्निहित न कर पाने पर हृदय की कंदरा में छुपे हुए[13] या 'गुहाशायी'[14] उस अन्तर्यामी का दर्शन किसप्रकार करेंगे ?

---

8. विभिन्न मतों के अनुसार ध्यान के विषय-वस्तु विभिन्न प्रकार के निर्दे-शित किए गए हैं [जैसे, हंस, (६/८) ; शा. (१/१०) ; भा. (३/२८, १२-३३ ; ११/१४/३८-४२) ।

9. पा. यो. (स. २७-२८)-'तस्य वाचकः···तज्जपस्तदर्थभावनम्' ।

10. श्वे. (१/३)-'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्···निगूढाम्···' ; मु. (२/२/६)-'···ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं···' ; (६/१/८)-'···तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' ।

11. गी. (१३/२४ ; १८/४२)-'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति···' ।

12. क. (२/१/१)-'पराचि खानि···अमृतत्वमिच्छन्' ; (२/३/९-१०)-'न सन्दृशे तिष्ठति ··· हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तोः ··· यदावतिष्ठन्ते ज्ञानानि···वुद्धिश्च न विचेष्टति···' ।

13. श्वे. (६/१०)-'यस्तन्तुनाभ इव···स्वमावृणोत्···' ; (३/७)-'···सर्व-भूतेषु गूढम्···' ।

14. क. (१/२/१२ ; २/१/६-७) ; मु. (२/१/१० ; ३/१/७) ; श्वे. (३/११)-'सर्वभूत गुहाशयः···' ।

उपनिषद में ध्यान के उपकरणों का भी उपदेश परोक्ष में दिया गया है। उदाहरणस्वरूप—विषयवस्तुओं से इन्द्रियों को हटा कर 'आवृत चक्षु' बनो।[15] समतल, पवित्र, कंकड़-आग-बालू से मुक्त और कोलाहल तथा वायु वेग न हो ऐसे किसी मनोरम जनशून्य एकान्त स्थान[16] में बैठो। वक्ष: ग्रीवा तथा सिर को समुन्नत तथा समानान्तर स्थिर रखकर[17] (इस अवस्था को 'हयग्रीव' या घोड़े के समान ग्रीवा कहा जाता है), इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदय में स्थापित करो।[18] इस प्रकार के आसन से स्थिर हो कर प्राणायाम या प्राणवायु को सयत[19] करो। इस प्रक्रिया के आ जाने के उपरान्त योग के लक्षण प्रगट होंगे और शरीर तथा मन के मैल धोकर ब्रह्म का साक्षात्कार दिला कर योगी को कृताथ एवं संसार बंधनों से मुक्त करायगे।[20]

राजयोग में धारणा का अगला क्रम ध्यान है। धारणा में जिस विशेष वस्तु पर चित्त को आबद्ध किया गया उसी वस्तु का निरन्तर मनन करना ही ध्यान कहलाता है।[21] सहज रूप से कहा जा सकता है कि, धारणा में तेल की धारा के समान निरतरता[22] ला पाने पर ही वह ध्यान में परिणत होती है।

---

15. क. (२/१/१)-'···आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'।
16. श्वे. (२/१०)-'समे शुचौ···प्रयोजयेत्'; गी. (६/१०-१२)-'रहसि स्थित:···शुचौ देशे···आत्मविशुद्धये'।
17. सिर को बिना झुकाए जहाँ तक संभव हो सके चिबुक को कंठ से मिलाने का प्रयास करेंगे।
18. श्वे. (२/८)-'त्रिरून्नतं स्थाप्य···मनसा सन्निवेश्य···'; गी. (६/१३)-'समं कायशिरोग्रीवं···दिशश्चानवलोकयन्'।
19. श्वे. (२/६)-'प्राणान् प्रपीड्येह·· अप्रमत्त:'।
20. श्वे. (२/११-१५)-'नीहारधूमार्कानिलानलानां···मुच्यते सर्वपाशै:'।
21. पा. यो. (वि. २)-'तत्र ··ध्यानम्'।
22. श० स० वे० सि० (८१५-१७)-'तैलधारावदच्छिन्नवृत्त्या···ध्यानं कर्त्तव्यं मोक्षमिच्छता'।

8. समाधि :

समाधि राजयोगी की चरम अवस्था या सिद्धि है। ध्यान का ही रूपान्तरण समाधि में होता है। निरंतर ध्यान के परिणाम स्वरूप ध्येय विषय वस्तु के अतिरिक्त साधक के समक्ष यह जग संसार सब कुछ समाप्त हो जाता है और अंत में उस वस्तु का रूप भी विलीन हो कर चिन्ताओं से परित्राण[23] दिलाता है। पतंजलि ने कहा है, योग का अर्थ—'चित्तवृत्ति का निरोध'[23] है। प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादि उपर्युक्त क्रियाओं में योगी इसे ही सीखने का प्रयास करता है और समाधि की अवस्था उसीकी चरम सिद्धि है। इस अवस्था में मन आकाश के समान शून्य अथवा जल रहे दीपक की शिखा के समान[24] स्थिर हो जाता है और तब योगी स्वयं विशुद्ध तत्त्व हो अपनी आत्मा के माध्यम से आत्मस्वरूप परमात्मा का दर्शन कर अतींद्रिय सुख को प्राप्त करता है।

समाधि भी कई स्तरों में विभाजित है। पूर्णतया चिन्ताओं से शून्य होने की अवस्था को 'निर्विकल्प' समाधि कहा जाता है। ऐसी स्थिति में ही आत्मदर्शन या ब्रह्मदर्शन संभव है।[25] कारण पहले ही कहा गया है—मन दो वस्तुओं की धारणा एक साथ नहीं कर सकता ; इसीलिए दूसरी चिन्ताओं के समाप्त न होने तक भेद अथवा मैं-पन की समाप्ति नहीं होती। फलत: ब्रह्म भी चित्त रूपी दर्पण पर प्रतिबिंबित नहीं होते। दूसरी चिन्ताओं के दूर हो जाने पर आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है तथा विश्वात्मा के साथ एकात्मता का

---

23. पा० यो० (स० २) ; भा० (११/१४/४४)-'···न किंचिदपि चिन्तयेत्'।
24. गी० (६/१९-२१)-'यथा दीपो निवातस्थो···तत्त्वत:'।
25. श. वि. (३५३)-'···समाधिनाऽविकल्पेन···आत्मदर्शनम्।
26. श. वि. (३५४-३६५) ; शा. (१/११)-'जीवात्मपरमात्मैक्यावस्थां··· भवति'।

बोध होता है।[26] यह 'स्वरूप प्रतिष्ठा' ही राजयोगी का कैवल्य अथवा मुक्ति है।[27]

चारों विभिन्न मार्गों की विशेषताओं का वर्णन संक्षेप में किया जाय तो फिर हमलोगों का प्रारंभिक संशय रह ही जाएगा कि—इनमें हिन्दू धर्म कौन सा है अथवा इनमें से कौन सा मार्ग प्रधान है, या किसका अवलंबन करने पर लक्ष्य पर पहुंचना सहज होगा ?

मूलत: ऊपर से अलग-अलग दीखने वाले विभिन्न मार्गों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास ही हिन्दूधर्म का चिर काल से चला आ रहा इतिहास है। आज भी उसका अन्त नहीं हुआ है। फिर भी हिन्दू जाति तथा भारत की एकता एवं अखण्डता के लिए यह समन्वय वहुत ही आवश्यक है। अत: सभी प्रकार के वर्गीय संकीर्णता का परित्याग कर हिन्दू धर्म के सारतत्वों को ध्यान में रखते हुए इन सभी मार्गों के मौलिक सामंजस्य को खोज निकानला होगा।

विभिन्न मार्गों का समन्वय :

इन सब भिन्न-भिन मार्गों के प्रामाणिक शास्त्रों में अपने-अपने पंथ के उत्कर्ष की कथा नि:शंक हो कर कही गयी है ; यहां तक कि समन्वयधर्मी गीता में भी कभी ज्ञान[28], कभी कर्म[29], तो कभी भक्ति[30]

---

27. पा. यो. (कै, ३४)।
28. गी. (४/३३)-,'···सर्वं कर्माखिलं···ज्ञाने परिसमाप्यते' ; (४/३८)-'···न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' ; (४/३९)—'···ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति'।
29. गी. (१२/१२)-'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्···ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'।
30. गी. (९/२९-३२)-'···ये भजन्ति···यान्ति परां गतिम्' ; (१२/६-७)-'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य···तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार-सागरात्···' ; (१२/१४)-'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः' ;

की तुलनात्मक प्रधानता की चर्चा की गयी है। इन सभी विरोधी प्रतीत होने वाले कथनों के मूल उद्देश्य को नहीं समझ पाने के कारण ही हिन्दूधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के अनुदार शिष्यों में अवांछित विरोध उत्पन्न हो गया है। इन सभी विभिन्न मार्गों के माहात्म्य के वर्णन का उद्देश्य साधक के अन्दर अपने चयनित मार्ग के प्रति निष्ठा एवं आस्था उत्पन्न करना है। क्योंकि जीवन संक्षिप्त है,, एक मार्ग से दूसरे मार्ग पर घूमते रहने पर निर्वाचन करने में ही जीवन समाप्त हो जाएगा। इसलिए किसी एक मार्ग का अवलंबन करने के उपरान्त मात्र उसो माग में दत्तचित्त होकर साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी होगो। इसलिए एक के माहात्म्य वर्णन का तात्पर्य दूसरे को हीन बनाना नहीं है। यदि ज्ञान की अपेक्षा भक्ति मार्ग सभी के लिए, प्रत्येक अवस्था में अनुकूल होता तो फिर गीता में ज्ञानयोग का उल्लेख नहीं होता। लेकिन देखा जा रहा है कि, भगवान कह रहे हैं, निष्ठा के साथ मेरी उपासना जो जिस भाव से करता है, मैं उसे उसी के मतानुसार सिद्धि प्रदान करता हूँ।[31] इसलिए किसी भी योग का निष्कपट भाव से अनुसरण करने पर मुक्ति या भगवत् प्राप्ति हो सकती है, यह गीता के विभिन्न अध्यायों में कहा गया है, उदाहरणार्थ ज्ञान[32], कर्म[33], भक्ति[34] तथा राज[35] योग। ज्ञान अथवा

(१२/२०)-'···श्रद्दधान मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया:' ; (१८/५५-६)-'भक्त्या मामभिजानाति···पदमव्ययम्' ; (६/४७)–'···श्रद्धावान् भजते यो मां···मत:'; (८/२२)-पुरूष: स ··भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया···।

31. गी. (४/११)-'ये यथा मां प्रपद्यन्ते···भजाम्यहम्' ।
32. गी. (१२/३-४)-'येत्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्त···रता :' ।
33. गी. (३/१९)-'तस्मादसक्त:···पुरूष:' ; (५/४)—'सांख्ययोगौ··· फलम्' ।
34. गी. (११/५४)-'भक्त्या त्वनन्यया···परंतप' ।
35. गी. (५/२७-२८)-'स्पर्शान् कृत्वा···मुक्त एव स:' ।

कर्म दोनों ही पथ से साधक एक ही परमपद को प्राप्त कर सकता है।[36]

थोड़े से मनन के पश्चात् देखा जा सकता है कि, ये विभिन्न मार्ग या योग परस्पर के परिपूरक हैं और परमात्मा के सायुज्य के अनुकूल हैं।[37]

पहले ही पाठकों को ध्यान दिला देना उचित होगा, कौन सा शास्त्र हिन्दू धर्म का अंग है ; इसका एकमात्र परख वह शास्त्र वेद अथवा श्रुति की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है अथवा नहीं। जो शास्त्र इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं, उनका वेद के साथ विरोध का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, साथ ही उनमें एक दूसरे के प्रति भी विरोध नहीं रह जाता ; क्योंकि वे सभी एक ही आधारशिला (अर्थात् वेद पर) प्रतिष्ठित हैं और सभी शास्त्र वेद के तत्त्वों की सर्वजनग्राह्य व्याख्या करने के लिए प्रयासशील हैं। इसलिए यदि किसी की यह धारणा है कि, उपनिषदों के साथ भागवत् आदि पुराणों का विरोध है तो यह धारणा पूर्णतया भ्रमात्मक होगी।

---

36. गी. (५/५)-'यत् सांख्यैः प्राप्यते···पश्यति'।

37. यदि किसी एक विशेष मार्ग के साधक के लिए दूसरा मार्ग अनुपयोगी होता, तो फिर भक्ति-शास्त्र भागवत में, सांख्य, अष्टांगयोग (अर्थात् राज-योग) इत्यादि की सहायता से किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया जाय, उसकी व्याख्या करने के लिए भिन्न-भिन्न अध्यायों [भा. (३/१६, १७, १८)] को संलग्न नहीं किया जाता, अथवा भक्ति के लक्षणों का वर्णन करते समय बार-बार 'ज्ञान-वैराग्य युक्त भक्ति' की सार्थकता का उल्लेख नहीं किया जाता [भा. ३/२५/१८ ; २७, ४३ ; ३/२६/७२—'···भक्त्या विरक्तया ज्ञानेन···']।

साकार ईश्वर में एकाग्रचित्त होने की तैयारी के लिए यम-नियम का पालन करना आवश्यक है [११/१०/५-६-'यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्··· अमोघवाक्' ; ११/११/२९-३१-'कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः ··कवि']।

38. यथा—भा. (मा. २/६४-७१)—वेद-वेदान्तघोषैश्च गीतापाठैः प्रबोधितम् ···ब्रह्मसम्मितम् भक्ति-ज्ञान-विरागाणां···स्थापनाय प्रकाशितम्'।

हमने इस पुस्तक के प्रारंभ में ही कहा है कि उपनिषद् वेद का ज्ञानकांड है तथा इस ज्ञानकांड में ब्रह्मतत्व है। इसमें संसार चक्र से मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति के उपाय भी निर्देशित हैं। कालक्रम में दैहिक तथा मानसिक अवनति के परिणाम स्वरूप ब्रह्मतत्व या वैदिक मंत्र इत्यादि सर्वसाधारण के लिए दुरूह एवं दुर्बोध्य हो गए। इसलिए स्मृति, इतिहास, पुराण इत्यादि की रचनाएं हुईं, जिसमें उपाख्यानों की सहायता से अथवा अन्य सहज उपायों के द्वारा श्रुति के सारतत्व को सबके हृदय में प्रविष्ट कराकर हिन्दू धर्म के एकत्व की रक्षा की गयी। श्रुति के परवर्ती प्रत्येक शास्त्र में यह कथन बार-बार कहा गया है।[38] इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी संभावित क्षेत्र नहीं है। क्योंकि महाभारत के अठ्ठारहवें पर्व (जिसके अन्तर्गत भगवत् गीता है) तथा अठ्ठारह पुराणों के रचयिता वही एक कृष्णद्वैपायन व्यास हैं, जिन्होंने वेद को विभाजित किया था, एवं ब्रह्मसूत्र या वेदान्त सूत्र की रचना कर उसकी तात्त्विक व्याख्या की थी।[39] ज्ञानमार्ग के द्वारा साधक परमात्मा एवं जोवात्मा

---

39. भा. (१/४/१६-३१)-'परावरज्ञ: स ऋषि···युगधर्मव्यतिकरं···स्त्री-शूद्र-द्विज-बन्धूनां···भारतमाख्यानं···भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिता:' ; (१/५/२७, ३२, ३७-३८)-'···सदसत् स्वभावया···ब्रह्मणि कल्पितं परे···कर्म ब्रह्मणि भावितम्···ॐ नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय···सम्यग् दर्शन: पुमान्' ।

40. भागवत के भक्ति माहात्म्य सूचक उक्तियों से [उदाहरणार्थ,-'न तपोभिर्न वेदैश्च···साध्यते भक्त्या···' : (भा. मा. (२/२८)] भक्तिमार्गी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय की भावना से ग्रस्त हो संभवत: यह अनुमान कर सकता है कि भक्तिधर्म के समक्ष वेद तथा ब्रह्मवाद अनुपयोगी है। लेकिन स्वयं भागवत् ने ही प्रारंभ से लेकर अंत तक इस भ्रान्त धारणा का खण्डन किया है।

पहले ही कहा गया है कि श्रीमद्भागवत की रचना वेदों तथा उपनिषदों के सार अंशों को लेकर ही हुई है [भा. मा. २/६७] ; जिसका उद्देश्य

के स्वरूप को उद्घाटित कर इन दोनों के एकत्व का दर्शन करता है।

दूसरी तरफ भक्तिमार्ग को, परमात्मा के साथ जीवात्मा को जोड़ने वाला सेतु स्वरूप माना जाता है। इस सेतु के निर्माण हेतु ज्ञानमार्ग के अमूर्त ब्रह्म को भक्ति के मूर्त विग्रह के रूप में रूपान्तरित कर उनके साथ संबध स्थापित किया गया है।[40] भक्त के भगवान् ब्रह्म की भाँति निर्विकार नहीं हैं। जैसे भक्त उन्हें प्रेम के द्वारा पाना चाहता है, उसी प्रकार वे भी भक्त पर कृपा करने के लिए, उसे शरण में लेने के लिए उत्सुक रहते हैं।[11] यही भक्तितत्व

ज्ञान एवं वैराग्य समन्वित भक्ति की स्थापना करना है [भा० मा० २/७१]।

उसके पश्चात् द्वैतवाद के तात्पर्य की व्याख्या के प्रसंग में कहा गया है कि, सत्ता केवल एक ही है, वे ही अरूप हैं तथा अनेक रूपों में भी हैं [भा. ८/३/९-'···अरूपायोरूरूपाय···'] । यह सत्ता अद्वितीय है, अव्यय है और उपाधिहीन है, लेकिन सृष्टि-पालन तथा प्रलय के कारण वह द्वैतभाव-सम्पन्न हो कर सर्वभूत तथा सर्वत्र विराजमान है [भा. (८/१२/४-११)-'देवदेव···त्वं ब्रह्म···अवरून्त्से' ; (३/१०/१२-१३)-'विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं···कालेनाव्यक्तमूर्त्तिना'] ।

इसलिए जो ज्ञानियों के निराकार ब्रह्म हैं, वे ही भक्तों के भगवान हैं और योगियों के परमात्मा [भा. १/२/११-'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' ; (१०/१०/३०)-'···त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः,]। ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि के मध्य जो भेद रचा गया है वह अज्ञान व्यक्तियों की ही कल्पना है [भा० (४/७/५०-५२)-'अहं ब्रह्मा···ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि···भेदे नाज्ञोऽनुपश्यति']

41. भा. (१०/८०/११)—'स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति···' ; (११/२९/५-६)—'त्वं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां सर्वार्थदं··· स्वगतिं व्यनक्ति'।

42. गी. (२/४८)—'योगस्थः कुरू कर्माणि संगं त्यक्त्वा···' ; (५/१२)—'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा···' ; (१८/४६)—'...स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'।

की विशेषता है कि, मनुष्य एवं भगवान के बीच जो योगसूत्र है वह पारस्परिक है ।

कर्मयोगी अहंकार का बोध तथा कर्मफल का त्याग कर[42] तथा सर्वभूत में समदर्शन कर स्वयं को अंत में अखिल विश्व में प्रगट परमात्मा में उत्सर्ग कर देता है ।[43]

राजयोगी उसी कार्य को कुछ अधिक प्रत्यक्ष पद्धति के द्वारा एक धनुर्विद् की भांति, जीवात्मा रूपी तीर का प्रणव रूपी धनुष पर संधान कर ब्रह्म रूपी लक्ष्य पर निक्षेप करते हुए[44] सिद्ध करते हैं ।

यदि सभी मतों या मार्गों का लक्ष्य एक ही हो[45] तो फिर जिस किसी भी मार्ग का अवलंबन क्यों न करें, ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मत्व प्राप्ति के अंतिम सोपान में देखा जाएगा कि विभिन्न मार्गों के साधक, चरम स्थिति में, एक ही स्वरूप में रूपान्तरित हुए हैं ।[46]

गीता के अठ्ठारहवें अध्याय के 49-50वें श्लोक में कहा गया है कि, निष्काम कर्मयोगी अथवा आत्मज्ञानी योगी 51-53वें श्लोक में वर्णित स्थिति[47] को प्राप्त करेंगे तथा इसप्रकार की सिद्धावस्था ही उन्हें ब्रह्मभाव की उपलब्धि के योग्य बनाएगी । इस अवस्था में साधक

---

43. गी. (६/२९-३०)—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि·· यो मां पश्यति सर्वत्र···' । सर्वत्र ब्रह्मदर्शन ही भक्तियोग की भी चरम स्थिति है [भा० (३/२८/४१-४४)—'···पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः । सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि···स्वरूपेनावतिष्ठते'] ।
44. मु. (२/२/४)—'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते···शरवत्तन्मयो भवेत्' ।
45. भा. (३/३२/३२-३६)—'ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो···स्वदृक्' ।
46. कथा. (५/१६१) ।
47. गी. (१८/५१-५३)—'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो···ब्रह्मभूयाय कल्पते' ; भा. (५/५/११-१५)—'···निर्वैरसाम्योपशमेन···ब्रह्मचर्येण···मल्लोककामः···विमन्युः···' ।

(1) राग द्वेष इत्यादि रिपुओं से मुक्त हो, (2) शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श संपृक्त सभी इन्द्रियग्राह्य विषयों को त्याग कर, (3) अल्पाहारी हो (4) वाणी, शरीर तथा मन को संयत कर, (5) निर्जन स्थान में निवास कर, (6) अहंकार, पाशविक शक्ति, दर्प, काम, क्रोध, आसक्ति तथा सभी प्रकार के दान-ग्रहण से विरत रह, (7) वैराग्य ग्रहण कर, संयम पूर्वक प्रशान्तचित्त से ध्यान में निमग्न रहते हैं।[47]

भक्तिमार्ग के सिद्ध पुरुषों की भी यही एक ही अवस्था है जिसका निर्णय गीता के परवर्ती दो श्लोकों (१८/५४–५५) से किया जा सकता है।[48] इन दोनों श्लोकों में कहा गया है कि पूर्ववर्णित शोक-हीन, कामनारहित, प्रसन्नात्मा, सिद्धपुरुष सृष्टि के सभी जीवों के प्रति समदर्शी होकर एवं भगवत् स्वरूप को जानकर उनमें पराभक्ति प्राप्त करते हैं और उनमें प्रविष्ट हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत में कहे गए भक्तियोग में भी मुक्तिप्राप्ति के लिए उपर्युक्त सिद्धावस्था को पाना आवश्यक है।[49]

ऐसा नहीं है कि विभिन्न मार्गों का लक्ष्य केवल एक ही है, बल्कि वे एक दूसरे के पूरक हैं—यह कथन अनेक शास्त्रों में अंकित है। अतएव एक मार्ग से सिद्धि प्राप्ति करने के लिए, दूसरे मार्ग की सहायता भी आवश्यक है।[50] उदाहरणार्थ—

---

48. गी. (१८/५४-५५)—'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा···मां···विशते तदनन्तरम्'।
49. भा. (५/५/११–१४)—'मत्कर्मभिः···उपरमेत् योगात्'।
50. गी. (१८/५५)—'भक्त्या मामभिजानाति···ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'; (७/१७)—'तेषां ज्ञानी···एकभक्तिर्विशिष्यते···स च मम प्रियः; भा. (१२/१३/१८)—'तत्र ज्ञान-विराग-भक्ति-सहितं नैष्कर्म्यम्···विमुच्येन्नरः'।
51. भा. (१/७/१०)—'आत्मारामाश्च···हरिः'।

(क) ब्रह्म ज्ञान न होने तक पराभक्ति नहीं उत्पन्न होती।[50]

(ख) दूसरी तरफ ज्ञान का घड़ा भर जाने पर भगवत् भक्ति स्वत: ही उत्पन्न हो जाती है।[51] अर्थात् जिन्हें वास्तव में ब्रह्मज्ञान हुआ है उनके समक्ष साकार-निराकार का द्वंद्व नहीं रह जाता।[52] वे भगवत चिन्तन में तन्मय हो जाते हैं। निरंतर बहती हुई तेल की धारा के समान भगवान् के ध्यान व धारणा के द्वारा जो अनुरक्ति जन्म लेती है उसे ही 'परानुरक्ति' या पराभक्ति कहा गया है।

(ग) ज्ञान की प्रथम अवस्था में कुछ अभिमान या अहम्[53] का उत्पन्न होना सम्भव है, लेकिन पूर्णरूप से अहंकार लोप कर अकिंचन नहीं बनने तक मोक्षप्राप्ति नहीं होगी। इसीलिए आत्मसमर्पित भक्ति तथा शरणागति ज्ञानयोग के लिए परिपूरक हैं।

विषयों के प्रति लगाव न रख कर भगवान से क्यों प्रेम करें? तथा भगवान के साथ हमारा संबंध क्या है, मूलत: इस विषय का ज्ञान नहीं होने तक अनन्या या शुद्धभक्ति के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करना संभव नहीं है। इसलिए गीता[54] तथा भागवत[55] में ज्ञानीभक्त को श्रेष्ठ कहा गया है। यह भी कह गया है कि, अनेक जन्मों की ज्ञान-साधना के पश्चात् जब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति होती है तब वही बोध अनन्य भक्ति में रूपान्तरित होता है, क्योंकि वासुदेव ही तो सर्वव्यापी हैं।[56] ज्ञान मार्ग के साधक ने उसी वासुदेव

---

52. क्योंकि—ज्ञान, परब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर सभी तो एक ही सत्व हैं [(भा. ३/३२/२६-३६)—'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म···सगुणो निर्गुणा: स्वदृक्']।
53. भा. (१/८/२६)-'जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमद: पुमान्'।
54. गी. (७/१७)-तेषां ज्ञानी···मम प्रिय:'।
55. भा. (११/१९/३, ५)-'ज्ञानविज्ञान संसिद्धा: पदं श्रेष्ठं विदुर्मम··· ज्ञान विज्ञान सम्पन्नो भज मा भक्तिभावित:।
56. गी. (७/१९)-'बहूनां जन्मनामन्ते···सुदुर्लभ:'

के साथ 'नित्य युक्त' होने के लिए साधना की है। इस प्रसंग में 'ज्ञान-मिश्रित भक्ति' को ही मोक्षप्राप्ति का श्रेष्ठ विधान कहा गया है।[57]

सबकुछ छोड़कर भगवान् से प्रेम करने के लिए वैराग्य या इन्द्रिग्राह्य सुखों के प्रति वितृष्णा आवश्यक है। इस वैराग्य के उद्भव के लिए ज्ञान की आवश्यकता है।[58] निश्चित रूप से इस ज्ञान का अर्थ विद्वता या शास्त्र ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान है—भगवान् ही एक मात्र सत्वस्तु तथा अनंत सुखों का उत्स हैं, अन्य सभी प्रकार के द्रव्य तथा विषय क्षयशील व अनित्य एवं 'शाश्वत दुःखनिलय' हैं—ऐसा समझना। इस ज्ञान का अर्थ अपने स्वरूप को जानना अर्थात् "मेरा यह शरीर नश्वर है तथा उसे सुख पहुंचाते रहना ही जन्ममृत्यु के चक्र में पड़े रहना है; लेकिन इसी देह के अंतःपुर में एक अविनाशी एवं सुख-दुःख के विकार से रहित आत्मा भी है जो एक साथ सभी जीवों में विश्वात्मा के रूप में विराजमान है"।[59]

इस परमात्मा का ज्ञान हो जाने पर और भी उपलब्धि होती है कि, यह आत्मा एक ही आधार में निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण परमात्मा है[60] एवं इस ब्रह्म ज्ञान से ही पराभक्ति का उत्पन्न होना माना जाता है, अर्थात् यह उपलब्धि कि, जो एकमात्र वस्तु हैं उनके अतिरिक्त और किससे प्रेम करेंगे।[61]

(ङ) दूसरी तरफ, अहेतुकी भक्ति के द्वारा ही भगवद् ज्ञान प्राप्त किया जाता है।[62] यदि एकाग्रचित एवं तद्गतप्राण होकर

---

57. गी. (७/१७-१८)-तेषां ज्ञानी···आस्थितः···अनुत्तमां गतिम्'; भा० (१/२/१२)-'ज्ञानवैराग्य युक्तया···भक्त्याश्रुतिगृहीतया'।
58. गी. (१३/८, ११)-'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्···एतज् ज्ञानमिति···'।
59. इसीलिए ज्ञान को 'ऐकात्मदर्शनम्' कहा गया है (भा. ११/१९/२७)।
60. भा. (७/९/४८)-'सर्वं त्वमेव···भूमन् नान्यत्···'।
61. गी. (१८/५४)–'ब्रह्मभूतः · मद्भक्तिं लभते पराम्'।
62. गी. (१८/५५)—'भक्त्या मामभिजानाति'।

भगवान से सदा युक्त रहा जाय, तो फिर इस प्रकार की पराभक्ति से पराविद्या उत्पन्न होती है, क्योंकि इस प्रकार के निरन्तर भजन चिन्तन से साधक के समक्ष भगवान् का स्वरूप प्रकाशमान हो उठता है।[63]

अर्थात् अनन्य भक्ति और शरणागति से वह अहेतुकी कृपा उत्पन्न होती है जिसके लिए उपनिषद के ऋषि भी प्रतिक्षा करते हैं ;[64] तथा उसी कृपा की शक्ति से भक्तिमार्गी अपनी आत्मा, परमात्मा तथा अपने आराध्य भगवान की एकात्मता का अर्थात् 'सब कुछ ब्रह्मात्मक है' इस प्रकार का अनुभव करता है[65] जिसे वास्तव में ज्ञान कहते हैं।

(च) निष्काम-कर्मयोग के द्वारा जिस वैराग्य तथा शान्ति का उद्भव होता है उसके द्वारा भी इसी प्रकार पराभक्ति जन्म लेती है।[66]

(छ) और ज्ञान मार्ग में भी जबतक साधक सर्वोच्च स्थान पर पहुँच कर ब्रह्म का दर्शन नहीं कर लेता तबतक कर्म त्याग नहीं बल्कि निष्काम कर्म ही उसकी योगसिद्धि का कारण होगा।[66]

यह ठीक है कि सभी कर्म माया अथवा अविद्या के कारण जन्म लेते हैं', फिर भी ज्ञान मार्ग के साथ कर्म का विरोध नहीं है, क्योंकि '···सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'।[67]

---

63. गी० (१०/१०-११)—'तेषां सततयुक्तानां···ज्ञानदीपेन भास्वता' ; भा० (४/३०/१०)—'ये तु मां रूद्रगीतेन···स्तवंत्यहं···दास्ये प्रज्ञांच···'।
64. क० (१/२/२३)—'···यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैश आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'।
65. भा० (११/२६/१२-१८)—'मामेव सर्वभूतेषु···सर्वं ब्रह्मात्मकं···मुक्त-संशयः' ; (११/१९/२७)—'···ज्ञानंचैकात्म्यदर्शनम्'।
66. गी० (६/३)—आरूरूक्षोर्मुनेर्योगं···कारणमुच्यते···'।
67. गी० (४/३३)।

सकाम कर्म बंधनों का कारण है, क्योंकि वह मायाजनित 'अहंकार बोध' तथा 'वासनाओं' से प्रेरित होता है, परन्तु यदि इन्हीं कर्मों को निष्काम भावना से किया जाय तो ये अहंकार का विनाश कर मोक्ष प्राप्ति में सहायता प्रदान करते हैं।[68] तब सभी कर्म ईश्वर के लिए किए जाने के कारण ब्रह्मयज्ञ में रूपान्तरित हो जाते हैं।[69] 'हमारा शरीर कर्ता नहीं है' इस प्रकार के बोध से ही उदित होता है ब्रह्मज्ञान अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इसलिए कहा गया है कि कर्मयोग का समापन ज्ञान में होता हैं।[69]

दूसरी ओर पूर्णज्ञान अथवा जीवनमुक्त स्थिति में, एकमात्र शरीर रक्षा के लिए आवश्यक अत्यन्त अल्प कर्मों के अतिरिक्त साधक का कोई भी व्यक्तिगत कर्म नहीं होता। लेकिन उस अवस्था में भी 'लोकसंग्रह'[70] या सर्वभूत के कल्याण के लिए निःस्वार्थ व अनासक्त होकर विश्व की सेवा में साधक अपने को संलग्न रखेंगे।

यही ज्ञानी की कर्मसाधना अथवा सम्पूर्ण सृष्टि में ब्रह्मदर्शन का स्पष्ट परिचय है।

(ज) ज्ञान के द्वारा कर्म के फलों को दग्ध करने से ही कर्म बंधन बनने के बदले मुक्ति के कारण बन सकते हैं।[71]

अतः ज्ञान तथा कर्म दोनों का ही अवलंबन करना होगा।[72]

(झ) योगी आत्मज्ञान के द्वारा 'संशय को छिन्न कर' तथा देहात्मबोध या कर्तृत्व के अभिमान को दूर कर[72]; एवं कर्म-

---

68. गी० (३/१९)—'···असक्तो···परमाप्नोति पुरुषः'।
69. गी० (४/२३-२४)—'···यज्ञयाचरतः कर्म···ब्रह्मकर्मसमाधिना'।
70. गी० (३/२०(—'कर्मणैव हि··· कर्तुमर्हसि'; (३/२५)—'···कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्'।
71. गी० (४/१४-२०)—'न मां कर्माणि लिम्पन्ति···करोति सः'।
72. गी० (४/४१-४२)—'योगसंन्यस्तकर्माणं···भारत'।

योग के द्वारा सभी कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर, 'नैष्कर्मसिद्धि' के[73] द्वारा ब्रह्ममय हो जाते हैं।

किसी भी प्रकार का कर्म क्यों न करें परन्तु जबतक यह ज्ञान नहीं होता कि, वह कर्म भगवद् निर्दिष्ट है तथा उन्हीं की पूजा के लिए निवेदित उपचार है,[74] तबतक यह बोध कि 'मैं ही कर्ता हूँ' तथा फल प्राप्ति की आकांक्षा मिट नहीं जाती। अत: उत्कृष्ट 'कर्मसन्यास' अथवा नैष्कर्मसिद्धि[73] के लिए या कृतृत्व के अभिमान को दूर करने के लिए इस आत्मज्ञान[72] की आवश्यकता रहती है।

अतएव ज्ञान एवं कर्म योग के बीच कोई पारस्परिक विरोध तो है ही नहीं, बल्कि दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं।

(ञ) राजयोग ज्ञानयोग का परिपूरक है; क्योंकि आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान को पाने के लिए, पार्थिव ज्ञानोपयोगी इन्द्रियों की सहायता निष्प्रभावी होगी। परन्तु इन्द्रियों को बस में कर[75], ध्यान इत्यादि के माध्यम से[76] अतीन्द्रिय या 'अपरोक्ष' अनुभूति के के द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है, इसका वर्णन शंकराचार्य ने भी किया है।[77]

(ट) गीता के अनुसार राजयोग को भक्ति-मिश्रित करने पर ही योगी सहज रूप से सिद्धि प्राप्त कर सकता है।[78] क्योंकि

---

73. गी० (१८/४६-५६)—'असक्तबुद्धिः···पदमव्यम्'।
74. गी० (१८/४६)—'यत: प्रवृत्तिर्भूतानां···स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:'; (१८/५६)—'सर्वकर्माण्यपि···मद्व्यपाश्रय:···'।
75. क० (२/१/१)—'···आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'।
76. क० (२/३/११)—'तां योगमिति मन्यन्ते···'; श्वे० (१/१४)—'···ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्···निगूढवत्'।
77. शा० वि० (३६७-५५४)।
78. गी० (६/४७)—'योगिनामपि···श्रद्धावान् भजते यो मां···युक्ततमो मत:'।

मन की स्वाभाविक चंचलता को दूर करना राजयोग की क्रियाओं के लिए भी अत्यन्त दुःसाध्य है। 'प्रत्याहार' के विषय में इसकी विवेचना हो चुकी है। इसलिए आत्मसंस्थ होने के उद्देश्य से युगपत् भगवत् भजन करना परस्पर विरुद्ध न होकर श्रेष्ठ सहायक ही प्रमाणित होगा।[78] ध्यान में रखना होगा कि पतंजलि ने भी कहा है कि ईश्वर प्रणिधान (या ऐकान्तिक शरणागति तथा भक्ति) के द्वारा भी समाधि प्राप्त होती है।[79]

दूसरी तरफ, परमपुरूष (ईश्वर) के चरणों में शरणागत भक्त के लिए भी अन्तिम क्षण तक राजयोग कितना सहायक है इसका वर्णन गीता के आठवें अध्याय में बार-बार किया गया है। भगवान् का ध्यान करने के लिए चित्त को केन्द्रित[80] करना होगा तथा इसके लिए राजयोग अपरिहार्य है।[81] वासुदेव का ध्यान करने के लिए सर्वप्रथम अष्टांग योग के आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादि की सहायता से शरीर तथा चित्त को स्थिर बनाना होगा। श्रीमद् भागवत में भी इसकी विशद व्याख्या की गयी है।[82]

सिद्धान्त यही है कि, ब्रह्म से एकात्म होने के लिए ब्रह्म-सायुज्य अथवा ब्रह्म-सादृश्य की आवश्यकता है, इसे सदैव ध्यान में रखा जाए तो, किसी भी मार्ग का अवलंबन क्यों न करें, दिग्भ्रमित कहीं नहीं होंगे ; तथा अपने मार्ग पर जितना आगे बढ़ेंगे, दूसरे मार्ग भी वैसे ही दृष्टिगत होंगे।

79. पा० यो० (स० २३)।

80. गी० (८/१४)—'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति···तस्याहं सुलभः··· योगिनः'।

81. गी० (८/१०)—'···भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्···' ; (८/१२/१३)-'सर्वद्वाराणि संयम्य···मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण-मास्थितो योगधारणाम्···परमां गतिम्'।

82. भा० (३/२८-८-१२)-'शुचौ देशे···स्वनासाग्रावलोकनः'।

इस प्रकार ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा राजयोग एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। सम्प्रदाय-अनुरागी किसी अतिभक्त के मन में यदि इस विषय में कोई सन्देह हो, तो फिर वे भागवत के एक आदिवाक्य का स्मरण करें —

'ब्रह्मेति परमात्मेति···शब्द्यते'।[83]

ज्ञान मार्ग के वेदान्त में जो ब्रह्म हैं, योगशास्त्र में वे ही परमात्मा हैं, भक्तिशास्त्र में उन्हें ही भगवान् कहा गया है ; और किसी भी मार्ग का अवलंबन क्यों न करें परन्तु उन्हें पाने के लिए उनके निर्देशानुसार विशुद्धत्व का अर्जन करना पड़ेगा, यही हिन्दू धर्म का सारतत्व है—

'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।[85]

---

83. भा० (१/२/११)-'वदन्ति तत्···शब्द्यते'।
84. भा० (१/३/३४); (७/७/१६-२१)-'आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्धः··· ब्रह्मगतिं लभेत' ; (६ १ १२-१४)-'नाशनतः···नियमकृत्···तपसा ब्रह्मचर्येण···वेणुगुल्ममिवानलः' ; (११/५/५२)-'···यः समाहितः···शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते'।
85. बृ० (४/४/६); नृ० (ऊ० ५/३)।

षष्ठ अध्याय

ब्रह्मप्राप्ति की तैयारी तथा आवश्यक साधन

मानव जीवन का लक्ष्य :

इस पुस्तक में आरंभ से लेकर अबतक एक ही बात कही गयी है कि, मानव जीवन का लक्ष्य संसार के बन्धनों से मुक्ति अथवा ब्रह्म प्राप्ति है तथा ब्रह्मप्राप्ति के बिना मोक्ष पाना संभव नहीं। और फिर जबतक मनुष्य ब्रह्म के समान शुद्धसत्त्व नहीं हो जाता तबतक उसे ब्रह्मप्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय यही है कि, मनुष्य किस प्रकार विशुद्धता के उस सर्वोच्च स्तर पर पहुंचे, जहाँ उसे 'ब्रह्मभूय'[1] या 'ब्रह्मभूत'[2] कहा जाय। जो मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं, उनके लिए ब्रह्म में लीन होने या ब्रह्मनिर्वाण के मार्ग में और कोई बाधा नहीं रह जाती—इसलिए हम इस स्थिति को 'ब्रह्मत्व'[4] प्राप्ति की स्थिति कहते हैं।

---

1. गी० (१८/५२-५३)-'विविक्तसेवी···ब्रह्मभूयाय कल्पते'।
2. गी० (१८/५४—५५)-'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा···तदन्तरम्' शा० वि० (२२४)।
3. गी० (५/२४-२६)-'···स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति··· लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः···'।
4. गीता में अंकित (१३/३०) 'ब्रह्म सम्पद्यते' वाक्य का अर्थ बहुतों ने 'ब्रह्मभाव' की प्राप्ति माना है। परन्तु यदि यह वाक्य मुण्डकोपनिषद् के (३/२/९)—'ब्रम्हैव भवति' की प्रतिध्वनि हो तो फिर, शंकराचार्य के मतानुसार इसका अभिप्राय 'ब्रह्म के सदृश्य' न मानकर 'ब्रह्म ही हो जाइए' ऐसा समझना चाहिए। निश्चित रूप से मनुष्य ब्रह्मसायुज्य की प्राप्ति करने पर भी 'ईश्वर' (अर्थात् सृष्टिकर्ता) के पद को नहीं प्राप्त कर सकता। इस पार्थक्य से हमारा कुछ आता-जाता नहीं, क्योंकि इस पुस्तक के पाठक ब्रह्माण्ड का राजत्व नहीं बल्कि मुक्ति चाहते हैं। इसी

इस अध्याय में हम उन सभी स्तरों तथा उपकरणों की आलोचना करेंगे, जिन्हें प्राप्त कर पाने पर, धीरे-धीरे एक साधारण मनुष्य भी क्रमशः देवत्व की ओर अग्रसर हो, अंत में जीवन रहते ही अथवा अगले जन्म में, ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेगा। हम पिछले अध्यायों में विभिन्न मार्गों की पद्धतियों तथा निर्देशों की व्याख्या कर चुके हैं। लेकिन चाहे आप जिस किसी भी मार्ग का चुनाव कर उसका अनुसरण क्यों न करें, पर सभी मार्गों के मोक्ष पथ यात्री के लिए कुछ विशेष उपकरण अपरिहार्य हैं। जैसे कि, सभी प्रकार के कामनाओं का त्याग न कर पाने पर[5], जन्म-मृत्यु की शृंखला नहीं टूटेगी ; इसके लिए चाहे ज्ञान-कर्म-भक्ति-राजयोग के कर्तव्य की लम्बी सूचियों का कितना भी पालन क्यों न किया जाय।

अतः इसके पश्चात् अब हम इन उपकरणों का क्रमशः उल्लेख करने का प्रयास करेंगे।

धर्म जिज्ञासा :

मैंने पहले अध्याय में ही कहा है कि, धर्म-जिज्ञासा अध्यात्म मार्ग का पहला सोपान है। क्योंकि, धर्म की आवश्यकता है अथवा नहीं, इस प्रश्न का समाधान न होने तक, धर्म के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए क्या प्रयोजनीय है, इसकी खोज व्यर्थ प्रमाणित होगी।

अवस्था को वृहदारण्यक (४/४/७) एवं कठोपनिषद् (२/३/१४) में 'ब्रह्म समश्नुते' वाक्य के द्वारा समझाया गया है। अमृतत्व की प्राप्ति के लिए ब्रह्म को पाना ही होगा [क० (२/३/१८)-'ब्रह्मप्राप्तः···अभूद्विमृत्युः···'] क्योंकि एकमात्र वे ही अमर हैं या 'अमृत' हैं। और पुनः ब्रह्म के साथ एकाकार होने के लिए उनके समान ही पवित्रतम, तथा विशुद्धतम होना होगा।

5. वृ० (४/४/७); क० (२/३/१४-१५)-'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा···अथ मर्त्योऽमृतो भवति···एतावद्ध्यनुशासनम्'।

नित्य-अनित्य वस्तु-विवेक :

परन्तु रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श के इस विचित्र संभार की उपेक्षा कर मरणोपरांत क्या होगा, इस चिन्तन को मन में लाने की प्रक्रिया जोकि प्रथम सोपान है, हममें से कितने व्यक्ति उसे पार कर पाए हैं ? हिन्दू धर्म के अनुसार, 'मूलतः हमारा मंगल किसमें होगा' यह ज्ञात होने पर ही धर्म के इस प्रथम सोपान पर पहुंच पाएँगे। यह शरीर तथा संसार की सभी भोग-ऐश्वर्य वाली विषय वस्तुएँ अनित्य[6] अथवा नश्वर हैं ; लेकिन एक वस्तु अथवा सत्ता ऐसी भी है जो नित्य,[7] अजर, अमर तथा अविनाशी है।[8-9] अतः विनाश या मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए, जो स्वयं ध्वंस होने वाले हैं उनका अनुगमन करने से क्या होगा ? जो एकमात्र नित्यवस्तु या 'अमृतमय पुरुष' हैं, उन्हें ही खोजना उचित होगा। उपनिषदों में उसी वस्तु को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की वस्तुएँ अनित्य हैं[9-10] इसी विचार अथवा बोध को ब्रह्मज्ञानी शंकर ने 'नित्यानित्यवस्तु विवेक' [9-10] कहा है। सुनने में यह सहज प्रतीत होते हुए भी सहज नहीं है, इसका प्रमाण यही है कि इसे "साधन-चतुष्टय" में से एक माना जाता है।

इहामूत्रफल भोग विराग :

इन्द्रियग्राह्य सभी वस्तुएँ तथा उपकरण सारहीन हैं, इसप्रकार का विवेक उत्पन्न होते ही, वे सम्पूर्ण रूप से परित्याग के योग्य हैं,

---

6. ईश० (१)-'यत्किंच जगत्यां जगत्...' ; भा० (६/१०/१०)-'...क्षण-भंगुरैः स्वज्ञातिविग्रहैः'।
7. क० (२/२/१३); श्वे० (६/१३)-'नित्योऽनित्यानां...'।
8. छा० (८/१/५)-'...विजरो विमृत्युर्विशोको...'।
9. क० (१/३/१५)-'अव्यय...नित्यं...अनाद्यनंतं...मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' ; श० वि० (२०)-'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः'।
10. वे० सा० (१५)।

इस बोध के साथ साधक आध्यात्मिक उपलब्धि के द्वितीय चरण में आरोहण करता है। इसे 'इहामूत्रफल भोगविराग' की संज्ञा दी गई है।[9-11] हमने अबतक इन्द्रियभोग के उपकरणों के प्रति वितृष्णा की बात कही है, लेकिन इहामूत्रफल भोगविराग उससे अधिक व्यापक अनासक्ति है। यह एक ओर हिन्दू धर्म की आधारशिला है, कर्मफलवाद की प्रतिकृति है, तो दूसरी ओर यह वैराग्य साधन-चतुष्टय के अंतिम सोपान 'मुमुक्षा' पर पहुंचाने वाला भी है। हम कर्मफलवाद पर पहले ही अध्याय में विवेचन कर चुके हैं, इसका मूलतत्त्व यही है कि किसी भी कार्य के करने पर उसका कुछ-न-कुछ परिणाम अवश्य ही होता है; एवं प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने कर्मों का फल भी भोगना ही पड़ता है। लेकिन सृष्टि कर्ता का ऐसा ही विधान है कि, कोई भी व्यक्ति एक जीवन में जितने कर्मों को करता है, उनके सब फलों को भोगने के पूर्व ही उस जन्म के पार्थिव शरीर का विनाश हो जाता है; फलतः प्रत्येक जीव के अनेक जन्मों का कर्मफल संचित रहता है। वही संचित कर्मफलों की शृंखला हमें बार-बार जन्म ग्रहण करने के लिए बाध्य करती है।[12] तब यह प्रश्न उठता है कि क्या सत्कर्मों तथा सुकृतियों का कोई मूल्य ही नहीं है? सनातन धर्म के अनुसार सुकृतियों का पुरस्कार कुछ-न-कुछ तो मिलता ही है, लेकिन वह भी शाश्वत अथवा चिरस्थायी नहीं होता। सत्कर्मों अथवा पुण्यकार्यों से उसके पुरस्कार स्वरूप मृत्यु के पश्चात् परलोक में 'स्वर्ग' सुख की प्राप्ति तो हो सकती है, लेकिन वह भी तो कर्मफल विशेष ही है। चूंकि किसी के भी सत्कर्मों की तालिका असीम नहीं है और एक–न–एक दिन उन सत्कर्मों के फल का घड़ा रिक्त होगा ही। तब उसे पूर्व-

11. श० वि० (१८-१९)-'साधनान्यत्र चत्वारि···स्फूटम्'।
12. भा० (४/२९/५८-७९)—'कर्मण्यारभते येन···देहेन···यदाक्षैश्चरितान् ध्यायन्···अविद्यायां बंद्धः···'।

जन्मों के संचित दुष्कृतियों का फल भोगने के लिए पुनः जन्म ग्रहण कर अंतहीन दुःखों तथा कष्टों को भोगना हा पड़ेगा। अर्थात् स्वर्ग का सुख भी किसी के लि चिरन्तन नहीं हो सकता, इसलिए इसकी कामना भी करने योग्य नहीं है। अतः जो जन्म-मृत्यु रूपी इस अमोघ संसारचक्र से परित्राण पाना चाहते हैं वे 'मोक्ष' के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की इच्छा रहीं रखते। वे लौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी प्रकार के सुख की कामना नहीं करते। इस प्रकार के पूण निर्वेद का ही नाम "इहामूत्रफलभोगविराग" है।[13]

ब्रह्म सम्पादन के प्रारंभिक इन दोनों साधनों स यह स्पष्ट हो गया कि, प्रवृत्तिमार्ग सांसारिकअभ्युदय के अनुकूल होने पर भा, निःश्रेयस अथवा भक्ति के लिए निवृत्ति का मार्ग अपरिहार्य है। यह वैराग्य केवलमात्र ज्ञानयोग का उपादान है ऐसा समझना भारी भूल होगी। भक्तिमार्ग में भगवत् प्रीति के लिए ऐहिक एवं पारलौकिक सभी कामनाओं से वैराग्य ग्रहण करना पड़ेगा, इस तथ्य का स्मरण श्रीमद्भागवत में बार-बार कराया गया है।[14] ग्यारहवें अध्याय में भगवान की कृपा प्राप्ति के लिए जिन तीस लक्षणों के विषय में कहा गया है वह 'मानव धर्म' अर्थात् जाति-वर्ण-आश्रम से परे सभी

---

13. संक्षेप में इसे 'वैराग्य' कहा जाता है [गी० (६/३५, १३/८/१८/८२); पा० यो० (स० १५)-'दृष्टानुश्रविक···वैराग्यम्'] भा० (९/४/२७)-'गृहेषु दारेषु···असन्मतिम्'।

14. भा० (६/१६/५९-६२)-'स्मृत्वेहायां···मद्भक्तः पुरुषो भवेत्'; (३/२५/१८)-'ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन···'; (३/२७/२१-२२) '···तीव्रयामयि भक्त्या···वैराग्येन वलीयसा···'(३/२७/२७)-'सर्वत्र जात वैराग्य···मद्भक्तः'; (३/२८/१२)—यदा मनः स्वंविरजं··· सुसमाहितम्···'; (४/८/५२)-'एवं भगवतो रूपं···निर्वृत्या··न निवर्त्तते'।

मनुष्यों का धर्म है ; तथा उसमें न्याय-अन्याय का विवेक एवं उपरम अर्थात् प्रवृत्तिमूलक कर्मों से निवृत्ति भी अवस्थित है ।[15]

इसके पूर्ववर्ती अध्याय में ही यह व्याख्या हो चुकी है कि, राजयोगी का प्रत्याहार[16] तथा कर्मयोगी का निस्पृह कर्मफलत्याग भी[17] इसी वैराग्य को पाने की विभिन्न पद्धतियां हैं।

इसी हेतु समन्वयी गीता ने वैराग्य के द्वारा दुःखों के मूल 'मन' पर विजय प्राप्त करना सभी योगों के लिए आवश्यक माना है ।[18]

मुमुक्षा :

विभिन्न सांसारिक दुःखों की पीड़ा के कारण अनेक व्यक्तियों में सामयिक वैराग्य उत्पन्न होता है, लेकिन फिर भी भविष्य के दैहिक सुखों को आशाएं हमें अपनी ओर आकर्षित करती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप संसारचक्र से मुक्ति की अकृत्रिम इच्छा या संकल्प बहुत कम प्राणियों में ही उत्पन्न हो पाता है। इसलिए 'मुमुक्षत्व' को मानव जगत् में सुदुर्लभ कहा गया है ।[19] अतः धर्म जीवन का आरंभ तब तक नहीं माना जा सकता जब तक मुमुक्षत्व न उत्पन्न हो जाय। मोक्षप्राप्ति के लिए जो साधना करनी होगी उसमें सिद्धि प्राप्ति के लिए कितने युग तथा जन्म व्यतीत हो जाएंगे यह कौन

---

15. भा० (७/११/८-११)-'सत्यं···ईक्षा ग्राम्येहोपरमः···विपर्ययेहेक्षा···' ।
16. पा० यो० (स० १२,१५)-'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'; 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य...वैराग्यम्' ; (सा० ५४)—'स्वविषयासम्प्रयोगे ··· प्रत्याहारः' ।
17. भा० (११/२०/६)-'तावत् कर्माणि···न निर्वेद्येतां यावता···' ; (११/१६/३८)-'···कर्मष्वसंगमः शौचं त्यागः सन्यास उच्यते' ।
18. गी० (६/३५-३६)-'असंशयं···वैराग्येण च गृह्यते···यतता शक्योऽवाप्नुमुपायतः' ।
19. श० वि० (३)-,दुर्लभं मनुष्यत्वं मूमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः' ।

जानता है ?[20] क्योंकि सम्पूर्ण रूप से विशुद्ध एवं निष्पाप[21] होना ही उनका उपकरण है, इस तथ्य का हम बार-बार उल्लेख कर चुके हैं। विभिन्न प्रकार की कामनाएं ही हमारी "हृदय ग्रंथि" हैं, जिनके द्वारा हम इस मृत्युलोक से बंधे हुए हैं। हृदय के गहन कन्दरा में पनपती हुई सारो वासनाओं का परित्याग कर उन हृदय-ग्रंथियों को छिन्न करना ही अमृतत्व या मुक्ति का एकमात्र उपाय है।[22] दूसरे शब्दों में अविद्या के कारण उत्पन्न देहाभिमान एवं विषयासक्ति रूपी विभिन्न प्रकार के बंधनों से मोक्ष पाने की इच्छा को ही मुमुक्षा या मुमुक्षुता कहा जाता है।[23]

जिसमें वैराग्य या मुमुक्षा नहीं उत्पन होतो, उस व्यक्ति के लिए कोई भी साधना मोक्षप्राप्ति या आत्मज्ञान में सहायक नहीं हो सकती। इसप्रकार के व्यक्ति के लिए शम दम इत्यादि साधना मात्र दिखावे के लिए अथवा कपटता होगी।[24]

चित्तशुद्धि :

यह सहज ही मान्य है कि ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मदर्शन के लिए चित्त-शुद्धि एक आवश्यक प्रारंभिक क्रिया है। जिस प्रकार से दर्पण स्वच्छ न रहने पर उसमें प्रतिबिंब स्पष्टतः दृश्यमान नहीं होता, उसी प्रकार विशुद्धतम सत्त्व की धारणा करने के लिए साधक को सत्त्व-शुद्ध[25] होना होगा। आत्मा इन्द्रिय एवं बुद्धि इत्यादि के परिशुद्ध होने पर ही प्रकाशित होती है।[26]

---

20. गी० (६/४५)-'···अनेक जन्मसंसिद्धः···परां गतिम्'।
21. गी० (६/४५)-'···संशुद्धकिल्विषः'।
22. क० (२/३/१४-१५); वृ० (४/४/७)-'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते अनुशासनम्'।
23. श० वि० (२७)-'अहंकारादिदेहान्तान्···मुमुक्षता'।
24. श० वि० (३०)-'एतयोर्मन्दता···तत्र शमादेर्भानमात्रता'।
25. छा० (७/२६/२)-'···सत्वशुद्धो···सर्वग्रन्थिनां विप्रमोक्षः' मु (३/१/८-९)-'···विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते···विशुद्धे विभवत्येष आत्मा';

परमात्मा स्वयं के अंतस् में ही अवस्थित हैं, परन्तु अविद्या से आच्छादित तथा विषयों के प्रति आकृष्ट चित्त में वह आभासित नहीं होते। चित्त के शुद्ध एवं स्थिर होने पर ही अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया जा सकता है ;[28] और तब यह प्रतीत होता है कि जो अतस् में हैं वही बाह्य में भी हैं।[28]

किसी दूसरे प्रसंग में व्याख्या की गयी है कि, जीव तथा ब्रह्म के एकत्व का सम्पादन ही आध्यात्मिक जीवन का चरम लक्ष्य है।[29] 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्य में इस एकत्व की उद्घोषणा हुई है ; लेकिन अविद्या के वशीभूत होने के कारण हम अपने स्वरूप को नहीं समझ पाते एवं मायाजाल के अंतराल में अवस्थित 'तत्' की प्रकृत सत्ता को भी नहीं प्राप्त कर पाते। अविद्या एवं माया की इस यवनिका को नष्ट करने के लिए 'निर्मम' दृष्टि की आवश्यकता है तथा उसके लिए 'शुद्धसत्त्व' भी होना आवश्यक है। शुद्धसत्त्व होने के उपरान्त प्रकृत बोध—मैं ही वह हूं, अहं ब्रह्मास्मि—उत्पन्न होता है ; इससे पहले ही वैसा कहना एक कपट आचरण ही होगा। हिन्दू धर्मशास्त्र में प्रायः पूर्णतया इस शुद्धत्व साधना के उपाय का निर्देश है। इसके प्रत्येक चरण में साधक क्रमशः लक्ष्य के सन्निकट पहुंचता जाएगा। इन सभी चरणों का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से विवरण देने

भा० (३/२५/१६-१८)- अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः··· परिपश्यति···'।

26. क० (१/२/२०)-'तमक्रतुः···धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः'।

27. (मु० ३/१/९)-'···प्राणैश्चित्तं···विशुद्धे विभवत्येष आत्मा' ; श० वि०- (११९) विशुद्धसत्त्वस्य···स्वात्मानुभूतिः···' ; (३८३)-'विशुद्धमन्तःकरणं ···ततः'।

28. ऐ० (५)-'···तदन्तरस्य सर्वस्य···बाह्यतः' ; छा० (७/२५/२)-'··· आत्मैवेदं सर्वम्।

29. श० वि० (५६)'···ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्धति···'।

30. छा० (६/८/७ ; ६/९/४; ६/१३/३)।

का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है। परन्तु सिद्धि किसी भी अध्ययन के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। इसके लिए सद्‌गुरू का दुर्लभ संग तथा साधक के अनेक जन्मों की साधना आवश्यक है।[31]

चित्तशुद्धि का दूसरा उद्देश्य है मन तथा बुद्धि की एकाग्रता स्थापित करना।[32] इन्द्रियों तथा विषय-वासनाओं में लिप्त[33] चंचल मन के द्वारा क्या अति दुर्दर्श तथा गूढ़ आत्मा की धारणा करना सभव हैं ?[34] उपनिषदीय ऋषियों ने ऐसा अवश्य बार-बार कहा है कि केवलमात्र मेधा[35] या बुद्धि के द्वारा ब्रह्मदर्शन करना संभव नहीं है; लेकिन उन्होंने यह कभी नहीं कहा है कि जड़ या मूर्ख किसी भी जातक के लिए ब्रह्म सहजता से प्राप्य है। दूसरी तरफ उन्होंने यह भी कहा है कि, इस अतीन्द्रिय दर्शन या अनुभूति के लिए 'स्मृतिलभ'[35] (या स्मृति की अविच्छिन्न धारा), 'सूक्ष्म बुद्धि' (अर्थात् जिसप्रकार की निर्मल बुद्धि के द्वारा इन्द्रियग्राह्य स्थूल पृथ्वी के ऊर्ध्व में स्थित सूक्ष्म विषयों का चिन्तन करना संभव है), 'प्रज्ञान' या 'विज्ञान' आवश्यक हैं।[38] इसमें से कोई भी गुण सत्त्वशुद्धि[36] या चित्तशुद्धि के बिना अर्जित नहीं किए जा सकते।[38]

---

31. ना० प० (१२-१६)-आत्मविद्यातपोमूलं···सोऽहमिति···, ; श० वि० (२६-२८)-'सर्वदा · सुयते फलम्'।
32. गी० (६/१२)—'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा···आत्मविशुद्धये'।
33. अमृत (२)-'मन एवं मनुष्याणां···मनः'; भा० (११/१४/२७)—'विषयान् ध्यायतश्चित्तं···विषज्जते···'।
34. भा० (११/३/४०)-'यर्हि···यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः'; (१/७/४)-'भक्तियोगेन ··मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले···'।
35. क० (१/२/१३)—···'न मेधया···'।
36. छा० (७/२६/२)-'सत्त्वशुद्धौ···स्मृतिलंभे'।
37. क० (१/३/१२)—'···एष···सूक्ष्मदर्शिभिः'।
38. क० (१/२/२४)-'···प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'; मु० (२/२/७)-'···तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति···'। ['प्रज्ञान' शब्द का अभिधात्मक अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान।

इस चित्तशुद्धि के लिए विभिन्न मार्गों में अनेक प्रकार के उपायों का निर्देश दिया गया है। उदाहरणार्थ—राजयोग[39] ; यज्ञ-दान-तप इत्यादि[40] निष्काम कर्म[41], ईश्वर के चरणों में निःस्वार्थ भक्ति ; नाम कीर्तन इत्यादि भक्तिमय कर्म[42] तथा तद्गतचित्त से उपासना आदि उपाय हैं।[43]

यद्यपि विभिन्न मार्गों में उपर्युक्त विभिन्न पद्धतियों में से प्रत्येक को अत्यधिक महत्व दिया गया है। फिर भी साधक का जीवन संक्षिप्त होने के कारण उसे चाहिए कि यथा संभव वह इन सब प्रणालियों को ग्रहण करे, जिससे उसे फल की प्राप्ति यथा शीघ्र हो। जब विशुद्ध के चरमउत्कर्ष को ही प्राप्त करने का उद्देश्य हो, तब विभिन्न उपायों के माध्यम से मलिनता को समाप्त करने में अपकार

वैदान्तिक मतानुसार, प्रज्ञान 'ब्रह्मात्मैकत्वबोध' है अर्थात् इस प्रकार का बोध कि, हमारी आत्मा तथा परमात्मा या ब्रह्म अभिन्न हैं। जिनमें बुद्धि ही नहीं है वे किस प्रकार ऐसी धारणा कर सकते हैं ? मेधा स्मृति, घृति इत्यादि प्रज्ञान के ही प्रकाश हैं, यही प्रज्ञान ब्रह्म है]; ऐ० (३/१/२-३)-'···प्रज्ञानं मेधा दृष्टि···प्रज्ञानं ब्रह्म'।

39. गी० (६/१२)—'···युंज्याद् योगमात्मविशुद्धये' ; (६/४५)—'···योगी संशुद्धकिल्विषः'।

40. मु० (३/१/५)-'सत्येन लभ्यस्तपसा···क्षीण दोषा' ; गी० (४/३०)—'यज्ञक्षयितकल्मषाः' : (१७/१४-१६)-'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं···मान-···मानसमुच्यते' ; (१७/२०)-'दातव्यमिति यद्दानं···' ; (१८/५)—,यज्ञदानतपः···पावनानि मनीषिणाम्'।

41. के० (४/८)—'···तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा···' ; गी० (५/११)—'···योगिनः कर्म कुर्वन्ति···आत्मशुद्धये' ; भा० (३/२९/१५)—'निषेवितानिमित्तेन···क्रियायोगेन···' ; श० वि० (११)—'चित्तस्य शुद्धये कर्म···'।

42. भा० (३/२९/१८-१९)-'···नामसंकीर्त्तनाच्च मे···परिसंशुद्ध आंशयः···' ; (११/२९/११-१२)-'···कारयेत्···यथा खममलाशयाः'।

43. मु० (२/२/३)-'धनुगृहीत्वा···शरंह्युपासानिशितं···विद्धि'।

की संभावना नहीं रहती । निश्चित रूप से इससे कार्य सूची कुछ वृहद् हो जाएगी, लेकिन इससे किसी प्रकार की हानि नहीं होगी ; क्योंकि चित्तशुद्धि केवलमात्र तैयारी ही नहीं है, बल्कि इस मार्ग में जितना आगे अग्रसित होंगे, साधक के लिए सिद्धि भी उतनी सहज-प्राप्य होती जाएगी । इसलिए सत्य, तपस्या, ब्रह्मचर्य इत्यादि केवलमात्र 'चित्तशुद्धि' के उपाय होने पर भी, इन सभी उपायों के द्वारा जितेन्द्रिय तथा निमल चित्त हो जाने पर इसी मार्ग से ही आत्म-दर्शनस्वरूप लक्ष्य पर पहुँचा जा सकता है । क्योंकि नेत्रों से तो पर-मात्मा का दर्शन करना संभव नहीं है, फिर भी चित्त जब विशुद्धतत्त्व के चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर स्वच्छ दर्पण के समान निर्मल तथा प्रसन्न रूप में परिणत हो जाता है, तब अपने ही हृदय की अनंत गहराई में स्थित आत्मा स्वत: ही उस चित्त रूपी दर्पण में प्रतिबिंबित तथा प्रकाशित होती है[44] ।

मद्यप एवं दुश्चरित्र व्यक्ति के लिए साहित्यिक या वैज्ञानिक होना संभव है (तथा इसके कई उदाहरण भी हैं) ; परन्तु इस प्रकार के व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश निषेध है ।[45-46] क्योंकि

---

44. मु० (३/१/५-६)-'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा···विभवत्येष आत्मा'; श्वे० (१/१५)—'···सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति' ।
45. क० (१/२/२४)...'नाविरतो···प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्' । ना० प० (६/१६);
46. दंभी, दुर्नीतिग्रस्त, शठ या नास्तिक के अतिरिक्त सभी का भक्ति धर्म पर अधिकार है—[भा० (११/२६/२६-३१)-'नैतत्त्वया···शुद्रयोषिताम्'], भागवत के इस कथन से यदि किसी की भी गलत धारणा बनती है, तो वे देखेंगे कि, इस अध्याय के ही परवर्ती श्लोकों में [भा० (११/२६/४३-४४)-'तितिक्षु:···तत: परम्'] उद्धव के प्रति भगवान के कथनों का उल्लेख किया गया है । वहाँ कहा गया है कि, भक्ति-मतानुसार भी भगवान् को प्राप्त करने के लिए 'संयतेन्द्रिय, शांत तथा समाहित' होने की आवश्यकता है । अर्थात् भक्ति मार्ग का द्वार सभी के लिए खुला रहने पर भी इन्द्रियसंयम के बिना चरमलक्ष्य की प्राप्ति का पारपत्र नहीं

जिन ज्ञान रूपी नेत्रों के द्वारा ब्रह्मदर्शन या आत्मदर्शन संभव है, वह अनेक जन्मों के दुष्कृत्यों के कारण तमावृत है। फलतः चित्तशुद्धि की विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा इस कुहरे को नष्ट कर पाने पर ही वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो सकती है। हो सकता है इस स्थिति में पहुंचने के लिए अनेक जन्म लेने होंगे, लेकिन मोक्षप्राप्ति न होने तक चित्तशुद्धि का अभ्यास करते रहना होगा।[47]

यह हम पहले से ही कहते आ रहे हैं कि वर्तमान सूची में स्थित चित्तशुद्धि के उपायों में किसका उपयोग कब किया जाय, इस विषय को लेकर विभिन्न सम्प्रदायों में मतभेद हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का आध्यात्मिक स्तर अथवा ग्रहण करने की क्षमता समान नहीं होती। लेकिन हिन्दू धर्म के प्रत्येक मार्ग तथा सम्प्रदाय का उद्देश्य एक है, अर्थात् ब्रह्मत्व सम्पादन ; यदि इसपर सदैव ध्यान रखा जाय तो किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं रह जाएगा। क्योंकि ब्रह्म के समान होने के लिए परीक्षाओं में आपको पूर्णांक अर्जित करना होगा ; इससे कम किसी भी प्रशंसा से सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। संक्षिप्त रूप से कहने पर ब्रह्मसायुज्य[48] या सारूप्य लाभ के लिए इस परिच्छेद के सभी सोपानों का अतिक्रमण करना होगा। गौण विषयों पर वैचारिक मतभेद रहने पर भी, यह सार्वजनीन पाठ्य सूची ही हिन्दू धर्म के अनेक मतों एवं मार्गों के एकत्व तथा समन्वय का परिचय है।

मिलेगा। [भा० १०/८७/३६]—'यदि न समुद्धरन्ति हृदि कामजटा··· अस्मृतकठमणिः···'।

47. गी० (६/४५)-'···अनेकजन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'; (११/८)-'न तु मां शक्यसे द्रष्टुं···दिव्यं ददामि ते चक्षुः···'।

48. तै० ब्रा० (३/१२/५/१२)-'ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकताम् आप्नोति' ; छा० (२/२०/२)-'सायुज्यं गच्छति···'।

गीता[49] एवं भागवत्[50] में ज्ञान तथा भक्ति दोनों पथ के सभी योगियों के लिए दैवी सम्पद एवं लक्षणों की जो सूची दी गई है, उसका विश्लेषण करने पर पाएँगे कि ये सभी गुण उपनिषद् द्वारा निर्देशित कुछ प्रशस्त मार्गों से उत्पन्न हुए हैं। हम उपलब्धि की सुविधा के लिए, मार्गानुक्रम से गुणों की विवेचना करेंगे।

यम :

राजयोग के प्रसंग में हमने देखा कि राजयोग के आठ अंगों में यम तथा नियम दो प्राथमिक अंग हैं। लेकिन उस प्रसंग में इनकी विस्तृत व्याख्या नहीं हो पाई। यह दोनों साधना सभी मार्गों के लिए अपरिहार्य हैं। पतंजलि ने कहा है—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह[51] राजयोग के वह पंचांग साधन हैं जिन्हें 'यम' कहा जाता है। यह जाति, देश तथा समय के द्वारा सीमाबद्ध नहीं है, अर्थात् जाति, देश, अवस्था को न मानते हुए प्रत्येक स्त्री, पुरुष व बालक के लिए पालनीय होने के कारण इसे 'सार्वभौम महाव्रत' भी कहा जाता है।[51] अतएव ज्ञान-

---

49. गी० (१६/१-३)–'अभयं···नातिमानिता' ; (१३/७-१०) अमानित्व-मदंभित्वमहिंसा···अरतिर्जन संसदि'।

50. भा० (३/२५/२१)-'तितिक्षवः कारुणिकाः···शान्ताः ; (११/११/२९-३१)-कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः···कारुणिकः···कविः'। इसी तालिका की पुनरुक्ति हम चैतन्यचरितामृत में भी पाते हैं (म० २२/७२-७६)– 'कृपालु, अकृतद्रोह···मौनी'।

51. पा० यो० (२/३०-३१)। याज्ञवल्क्य (यो० या० १/४९) तथा शाण्डिल्य [शा० (क) १] ने और छह गुणों को भी उसमें जोड़ा है— दया, आर्जव, क्षमा, धृति, परिमित आहार तथा शौच। भागवत् (११/१९/३३) ने और सात इसमें जोड़ दिया है-ह्री, असंचय, आस्तिक्य, मौन, स्थैर्य्य, क्षमा, अभय।'

योगी[52], कर्मयोगी[53], यहाँ तक कि भक्तियोगी के लिए भी, ये सब समान रूप से पालन करने के योग्य हैं। गीता ने इन्हें ही दैवी सम्पदा की संज्ञा दी है।[54]

वस्तुत: ये गुण भगवत् ऐश्वय[55] होने के कारण, ब्रह्म स्वारूप्य प्राप्त करने के लिए इन गुणों को अर्जित करना ही होगा।[56]

अहिंसा :

हिन्दू धर्म के अनुसार अहिंसा का अर्थ अत्यत व्यापक है। केवलमात्र भोजन या शिकार करने के उद्देश्य से प्राणियों की हत्या से विरत रहना ही नहीं, बल्कि 'अहिंसा' का अर्थ सर्वभूत में (मनुष्य पशु या हीनतर प्राणी प्रत्येक के प्रति ही) शत्रुभाव, यहाँ तक कि घृणा के भाव का भी परित्याग कर देना, तथा किसीके अनिष्ट चिन्तन को भी त्याग देना है। अतएव जो अहिंसा की साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त किए हैं, वे 'वैरीहीन'[57] या 'शत्रुहीन' हैं। सिंह, बाघ

52 गी० (१३/७-११)–'अमानित्वमदंभित्वमहिंसा···अन्यथा।'

53. भा० (३/२९/१७)-'···मैत्र्या···यमेन नियमेन च'; (११/१९/३३-३८) 'अहिंसा···'।

54. गी० (१६/२, २४)-'अहिंसा सत्यम्···'।

55. गी० (१०/४-५)-'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोह: क्षमा सत्यं दम: शम:···अहिंसा··· पृथग्विधा:'।

56. मनु के मतानुसार वाणप्रस्थ आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को ही स्वाध्याय, शम, दम, मैत्री, समाधान, दान, अपरिग्रह, दया या सर्वभूत की अनुकंपा को ग्रहण करना होगा [मनु० (६/८)-'स्वाध्याये···सर्वभूतानुकम्पक:] मनु ने दूसरे स्थानों पर कहा कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रियसंयम यह सब सभी वर्णों के मनुष्यों का आनुष्ठानिक धर्म है [मनु० (१०/६३)-'अहिंसा सत्यमस्तेयं···एवं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्ये···']।

57. गी० (११/५५)-,···निर्वैर: सर्वभूतेषु य: स मामेति पाण्डव'।

इत्यादि हिंसक पशु भी उनके मित्र होंगे।[59] क्योंकि, वे समझेंगे कि यह मनुष्य उनके साथ हिंसा करने वाला नहीं।[60]

हिन्दू मत की यह अहिंसा वेदान्त के अत्यन्त गूढ़ तत्त्व पर प्रतिष्ठित है। परमात्मा सर्वभूत के अंतस् में अवस्थित हैं, यदि इस प्रकार का 'समदर्शन'[61] किसी को होता है, तो फिर उसे यह अनुभव होगा कि किसी भी जोव की हत्या करना अथवा उससे हिंसा करने का अभिप्राय स्वयं की आत्मा की हत्या करना ही है।[62] इस प्रकार मनसा-वाचा-कर्मणा जब अहिंसा प्रतिष्ठित होगी, तब एकमात्र अहिंसा से ही वह साधक मोक्ष प्राप्त करेगा।[63] जो इन तथ्यों को न जानते हुए ही हिन्दूधर्म की समालोचना करते हैं, वे क्या किसो भी ऐसे धर्म का उल्लेख कर सकते हैं जिसमें अहिंसा को हिन्दू धर्म में दी गई मर्यादा की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं उच्चतर मर्यादा दी गई हो ?

अहिंसा केवल नेतिवाचक, अर्थात् दूसरों के प्रति द्वेषरहित रहना ही नहीं है, बल्कि इससे दो स्वतंत्र गुण, मैत्री और करुणा, स्वत: उत्पन्न होते हैं।[64] अहिंसक व्यक्ति में देहात्म बोध नहीं होता,

---

58. भा० (३/२५/२१)-तितिक्षवः···अजातशत्रव:'···' : (११/११/२६)-'कृपालुरकृतद्रोहः···' ; चै० च० (मध्य (२२/७४)-कृपालू···अकृत-द्रोह···'।

59. पा० यो० (सा० ३५) अहिंसाप्रतिष्ठायां···वैरत्यागः।'

60. गी० (१२/१३)-'अद्वेष्टा सर्वभूतानां···'।

61. गी० (५/१८)-'शुनिचैव···समदर्शिनः'।

62. गी० (१३/२७-२८)-'समं सर्वेषु भूतेषु···न हिनस्त्यात्मनात्मानं···परां गतिम्'।

63. गी० (५/१९)-'इहैव तैर्जितः सर्गो···ब्रह्मणि ते स्थिताः।'

64. भा० (११/११/३१)-'···मैत्रः कारुणिकः कविः'।

अतएव उसमें शत्रु-मित्र के भेद का ज्ञान भी नहीं होता। वह सभी के प्रति मित्रवत् भाव रखता है तथा सभी के दुःख में समान रूप से व्यथित होता है।

इस प्रश्न की जिज्ञासा स्वभाविक है कि, अहिंसा को इतने उच्चासन पर प्रतिष्ठित करने के पश्चात् भी हिन्दू शास्त्र के रचनाकारों ने यज्ञों में पशुबलि का अनुमोदन क्यों किया? इसका उत्तर अत्यन्त संक्षिप्त है—'अधिकारवाद'। इसकी और भी विस्तृत व्याख्या आपको अगले 'नियम' के अन्तर्गत 'बाह्यशौच[1] के प्रसंग में प्राप्त होगी।

सत्य :

विशुद्ध सत्त्व होने के लिए (या आत्मज्ञान उपलब्धि के लिए) अविचल सत्यनिष्ठा का होना आवश्यक है।[65-66] परन्तु इस सत्यनिष्ठा की सीमा कितनी दूर तक विस्तृत है, इसे समझने के लिए थोड़ी सी विवेचना की आवश्यकता हैं।

निश्चित रूप से जहां गीता में सत्य को 'वांग्मय' तपस्या कहा गया है, वहाँ सत्य भाषण तथा सत्यवादिता का अर्थ ही अंकित है। एवं इसी अर्थ में मनु[67] ने इस तथ्य को सनातन धर्म की संज्ञा से अभिहित किया है कि, अप्रिय सत्य का परित्याग कर प्रिय सत्य का उच्चारण करो। उपनिषदों में भी अनेक स्थान पर सत्य बोलने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[68]

---

65. मु० (३/१/५)-'सत्येन लभ्यः···नित्यम्' ; के० (४/८)-तस्यै··· सत्यमायतनम्।'

66. गी० (१७/१५)-'···सत्यं प्रियहितंच यत् वाङ्मयं तप उच्यते'।

67. मनु० (४/१३८)-'सत्यं ब्रूयात्···धर्मः सनातनः'।

68. प्र० (६/१)-'समूलो···अनृतं वक्तुम्' ; छा० (३/१७/४)-'अथ यत्तपो ···सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः'।

परन्तु जब झूठ बोलने पर विभिन्न प्रकार के भौतिक लाभ होने की संभावनाएं रहती हैं, तो फिर सत्य क्यों बोलें, इसका उत्तर हमें उपनिषदों का अत्यन्त गभीर अध्ययन करने पर प्राप्त होगा।[69]

लेकिन अति प्राचीन उपनिषदों में सत्य के साधन या सत्य दर्शन के रूप में लौकिक सत्य भाषणों की अपेक्षा उच्चतर स्तरों के आदर्श की अवतारणा की गई है। जिसका शाश्वत अस्तित्व है वही 'सत्' एव 'सत्य' है।[70] उपनिषद के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र 'सत्' वस्तु है इसलिए ब्रह्म ही एकमात्र 'सत्य' भी हैं ; इसके अतिरिक्त सभी वस्तुएं ब्रह्म से ही उत्पन्न हैं एवं ब्रह्म में ही विलीन हो जाएगी।[71] यदि सत्य का अर्थ ध्रुव या निश्चित है तो फिर जो विकार अथवा विनाशशील है वह सत्य नहीं ही सकता, बल्कि वह अनृत है।[72] ब्रह्म अविनाशी तथा विकाररहित हैं इसलिए वे सत्य[73] एवं नित्य हैं ; लेकिन प्रकृति में विकार है तथा उसका विनाश होता है, इसलिए वह अनित्य एवं अनृत है। ब्रह्म के अविनाशी होने के कारण 'सत्य' उनका एक लक्षण है।[74] ब्रह्म के इस सत्य स्वरूपत्व

69. Bible में मिथ्या साक्ष्य प्रस्तुत करने पर प्रतिबन्ध है [Exodus 19.16]; सत् एवं सत्य वस्तु के चिन्तन का उपदेश दिया गया है [Phil. 4. 8], लेकिन झूठ क्यों वर्जनीय है, इसे समझने का प्रयास नहीं किया गया है।
70. छा० (६/८(७)-'···तत् सत्यं स आत्मा'।
71. मु० (२/१/१)-तदेतत् सत्यम्···चैवापियन्ति'।
72. स. सा. (३)—'···सत्यमविनाशि···सत्यमित्युच्यते'।
73. मु. (१/२/१३)—'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' ; तै० (१/६/२)—'··· आकाशशरीरं ब्रह्म सत्यात्म प्राणारामं···'।
74. स. सा. (४)—'···एतद्वस्तुचतुष्टयं···ब्रह्मेत्युच्यते' ; छा. (८/१/५)— ···सत्यकाम: सत्यसंकल्पो···'।

के विभिन्न अर्थों के तात्पर्यों का समन्वय हमें भागवत् के इस सूक्त में मिलता है—

"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितंच सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।"[75]

प्रकृति की अनित्यता एवं अलीकता के बाद भी हम अज्ञानता-वश प्रकृति के मायावी आवरण से आच्छादित उस एकमात्र सत्य को नहीं देख पा रहे हैं। इसी हेतु ईशोपनिषद के ऋषि[76] उस सत्य को देखने के लिए प्रकाश रूपी कृपा की भिक्षा मांगते हैं; जिससे वह प्रकाश उनके स्वर्णावरण को दूर करे, और प्रभामंडल में स्थित उस सत्य पुरुष का दर्शन उस सत्य धर्म वाले ऋषि को करा दे। इन्हें ही वृहदारण्यक[77] में 'सत्यब्रह्म',[78] कहा गया है तथा उनकी 'उपासना' करने की बात कही गयी।[79]

यह सत्य है कि बहुतों ने मुण्डक उपनिषद 'के सत्यमेव जयते नानृतम्'[80] वाक्य को साधारणतः सत्य बोलना एवं 'अनृत' अर्थात् झूठ बोलने के अर्थ में व्याख्या की है। लेकिन वृहदारण्यक[77] में अनृत का वर्णन आद्योपान्त सत्य के मध्यवर्ती भाग के रूप में किया गया है। इस सृष्टि के आदि तथा अंत में वही अद्वैत सत्ता विराजमान है। लेकिन उन्होंने प्रकृति की सहायता से जिस संसार का

---

75. भा. (१०/२/२६)।
76. ईश० (१५-१६)—'···हिरण्मयेन पात्रेन···सोऽहमस्मि'।
77. वृ. (५/५/१-२)—'···प्रथमोत्तमे···सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहितं···'।
78. वृ. (५/४/१)—'···सत्यं ब्रह्मेति'।
79. वृ. (६/२/१५)—'श्रद्धां सत्यमुपासते'।
80. मु० (३/१/६)—'सत्यमेव जयते···निधानं'।

निर्माण किया है, वह अनित्य है, अतएव वह 'अनृत' है। इसी अर्थ में शंकर ने कहा है—'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या'।[81] मुण्डक उपनिषद का 'सत्यमेव जयते नानृतम्'[80] भी इसी अभिप्राय से कहा गया है ; यह उस श्लोक के परवर्ती श्लोकों से ही प्रमाणित हो जाएगा।[82]

इसी प्रकार से तैत्तिरोय उपनिषद् के शान्ति पाठ में विद्यार्जन के अनुकूल देवताओं से सहायता की प्रार्थना कर, वायु को सत्य[83] के रूप में अभिहित किया गया है। यह सत्य ब्रह्म हो है अर्थात् वायु को ब्रह्मस्वरूप सत्य कहा गया है। सत्य शब्द के ब्रह्म लक्षणत्व का प्रमाण आगे बढ़ने पर और भी कुछ मंत्रों में पाते हैं,[84] जहाँ कहा गया है कि ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप हैं और जो अपने हृदय में अधिष्ठित ब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म को ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रसंग के अन्त में निवेदन करता हूँ कि, मेरा उद्देश्य व्यावहारिक सत्य वचन का अवमूल्यन करना नहीं है।[85] हिन्दू धर्म के अनुसार सम्पूर्ण जीवन एक धारावाहिक पाठ्यक्रम है ; और क्रमशः विकास को त्याग एकाएक छलांग लगा कर शीर्ष स्थान पर नहीं पहुंचा जा सकता है। मोक्षार्थी का लक्ष्य है कि उस सत्यस्वरूप ब्रह्म तथा शीर्ष स्थान को प्राप्त करने के लिए अन्य सभी प्रकार के प्राकृत अनृत उपहारों के प्रति अपने लोभ एवं आसक्ति का संवरण

81. श. वि. (२०)—'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या···नापरः'।
82. मु. (३/१/७)—'वृहच्च तद्दिव्यम्···गुहायाम्'।
83. तै. (१/१/१)—'नमस्ते वायो···त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि··· सत्यं वदिष्यामि'।
84. तै. (२/१/३)—'ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्···सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'।
85. कायमनोवाक्य से सत्य का आश्रयी हो पाने पर सारी कुटिलताएँ विनष्ट हो 'आर्जव' अथवा सरलता का जन्म होता है, जिसे ज्ञान का विशिष्ट उपकरण कहा गया है [गी. (१३/७/११) अमानित्वम्···आर्जवम्··· भक्तिरव्यभिचारिणी···एतत् ज्ञानम्']।

करना ।[86] परन्तु एक ही दिन में इस दुरूह शिक्षा को अर्जित कर पाना संभव नहीं है। विशेषत: जितने दिनों तक गृहस्थाश्रम या प्रवृत्तिमार्ग में रहा जाता है, उतने दिनों तक सभी कामनाओं-वासनाओं का त्याग कर सन्यासी बन जाना संभव नहीं है। लेकिन ब्रह्म के वाक्रूप सत्य की साधना करना संभव है ; और जो व्यक्ति अपने वचनों से सत्यवादी नहीं हो सकता वह आध्यात्मिकता में सत्य का आश्रय किस प्रकार ग्रहण करेगा ? इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद् के आचार्यों ने शिष्यों के अध्ययन की समाप्ति के पश्चात् विवाहादि कर गृहस्थ आश्रम के अवश्य पालनीय कर्त्तव्यों का स्मरण कराते हुए कहा है—'सत्य वद। धर्मं चर'। 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्।'[87] लेकिन उसी समय से उन्हें यह भी ध्यान रखना होगा कि, सत्य, ज्ञान एवं अनन्तस्वरूप ब्रह्म को जानना ही उनके जीवन का लक्ष्य है ; एवं उनका ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् अन्य किसी भी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं रह जाती ।[88]

सम्पूर्ण विश्व को त्याग कर, ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है यह ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मज्ञान) प्राप्त करने के लिए गहरी एवं अटल निष्ठा की आवश्यकता होती है। इसी का पहला अध्याय लौकिक सत्यवादिता है, जिसका पालन गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले प्रत्येक युवक को अवश्य ही करना चाहिए।[87] और पुन: वृद्धावस्था में सर्वत्यागी ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी के लिए भी यह एक कर्त्तव्य है[89]। लेकिन इस चरम स्थिति में यह मात्र सत्यवादिता ही नहीं रह जाती, बल्कि यह ब्रह्मवाणी का उच्चारण तथा कल्याणमय वाक्रूपी ब्रह्म की

86. मु. (३/१/६)—'···येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा···निधानम् ।'
87. तै. (१/११/१)।
88. तै. (२/१/३)—'···यो वेद···सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह···'।
89. मनु. (६/४८)—'···सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्'।

उपासना भी बन जाती है।[90] संक्षिप्त रूप से कहने पर हमें ब्रह्मज्ञान पाने के उद्देश्य से सत्यवादी तथा सत्यसंध होना होगा,[91] क्योंकि ब्रह्म सत्य स्वरूप है। जिन्होंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनका सत्याश्रय ही लक्षण है, कारण सत्य ही ब्रह्म है।[92]

अस्तेय :

'अस्तेय' का अर्थ अचौर्य अथवा चोरी न करना है। परन्तु इस साधारण कथन का अभिप्राय हिन्दू धर्म में अत्यन्त व्यावक रूप से प्रयुक्त हुआ है। "शरीर मन, वचन से पराई वस्तु को न चाहना" ही इसका अर्थ है।[93]

थोड़ा ध्यान देने पर ही हम पाएंगे कि हिन्दू ऋषियों की नीति संबंधी धारणाएं भी कितनी उच्च कोटि की थीं। भारतीय दंड विधान में चोरी की जो संज्ञा दी गयी है, उसीका अनेक धर्मशास्त्रों में निषेध किया गया है।[94] लेकिन ऐसा उपदेश क्या और किसोने दिया है कि, दूसरे के धन को हस्तगत न करते हुए भी उसके प्रति केवल लोभ रखना भी जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्ति पाने के मार्ग में बाधा ही उत्पन्न करती है? इस लोभ का त्याग करना कितना कठिन है, अपने अन्तर का अनुसंधान कर पाठक स्वयं ही इसका अनुमान कर सकते हैं।

---

90. तै. (३/१०-२)—'···क्षेम इति वाचि···'।
91. तै. (१/६)—ऋतंच···सत्यंच स्वाध्यायप्रवचने च···'; के० (४/८)—'तस्यै तपो···सत्यमायतनम्'; श्वे. (१/१५)—'···सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति'।
92. वृ. (५/४/१)—'सत्यं ह्येव ब्रह्म'; छा० (८/३/५)—'...त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति लोकमेति'।
93. शा. (१)—'अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निष्पृहा'; यो० या० (१/५३)—'कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषृ निष्पृहा अस्तेयमिति···'।
94. उदाहरणस्वरूप, यहूदी एवं इसाई धर्म [Exodus 20·15—'Thou shall not Steal'] इसलाम [कु. (सु. मा. ५/६/३८)]।

ब्रह्मचर्य :

साधारणतया 'ब्रह्मचर्य' शब्द का अर्थ हम 'विवाह न करना' ही समझते हैं। लेकिन यह केवल इस शब्द का प्राथमिक अर्थ है। इस अर्थ में चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य को गृहस्थ आश्रम के पूर्व के आश्रम के रूप में वर्णित किया गया है, जिस आश्रम में शिष्य अविवाहित रह कर शिक्षा प्राप्ति के लिए गुरुकुलों में निवास करता है।

ब्रह्मचर्य के अधिकारी केवल पुरुष ही होते हैं, इस प्रकार की धारणा भी गलत है। नारी भी ब्रह्मचर्य का पालन कर ब्रह्मचारिणी बन सकती है।[95] दूसरी तरफ, यदि केवलमात्र विवाह न करना ही ब्रह्मचर्य पालन कहलाता, तो फिर प्रत्येक अविवाहित व्यक्ति को ब्रह्मचारी की संज्ञा दी जाती।

तो फिर, ब्रह्मचर्य का तत्व क्या हैं ? शास्त्रों का उत्तर है— "वीर्य धारण" मनुष्य के शरीर में रक्त, मांस, मज्जा इत्यादि जो कुछ उपादान हैं उसमें वीर्य या शुक्र सर्वाधिक परिणत उपादान है ; अर्थात् भोज्य पदार्थों से रस लेकर उसको वीर्य के रूप में रूपान्तरित होने में सबसे अधिक समय लगता है ;[96] और यही मनुष्य के अधिकतम शक्तियों का उपादान है। इस शक्ति की रक्षा कर पाने पर मनुष्य के लिए जो कार्य माँसपेशियों के बल से कर पाना संभव नहीं, उस असंभव प्रतीत होने वाले कार्य को भी वह कर पाने में सक्षम हो जाता है। इसलिए ऋषियों ने इसके जैविक व्यवहार पर प्रतिबंध लगा कर इसका उपयोग ब्रह्मप्राप्ति के उद्देश्य से करने के लिए कहा है।

---

95. मनु. (५/१५८, १६०)।

96. गर्भ. (३)—'···रसाच्छोनितं···मज्जातः शुक्रः···'। भोजन से वीर्य निर्मित होने में ३५ दिन का समय लगता है, एवं आधे सेर रक्त से मात्र एक बून्द वीर्य उत्पन्न होता है [प्रणवमठ, ब्रह्मचर्य्याम्' पृ० १०]।

राजयोग में वीर्य का प्रयोजन सहज ही मान्य है। वीर्यहीन व्यक्ति प्राणायाम करने में सक्षम नहीं हो सकता, ध्यान तथा समाधि तो बहुत दूर की वस्तु रहीं। इसलिए पतंजलि ने ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य संचय करने को कहा है।[97] राजयोग काम की शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में रूपान्तरित करने की एक प्रक्रिया है।

वीर्यहीन व्यक्ति के लिए ज्ञानयोग में भी सफलता अर्जित कर पाना संभव नहीं।[98] क्योंकि अतीन्द्रिय विषयों की धारणा करने के लिए वीर्य, वैराग्य तथा संन्यास आवश्यक है। सूक्ष्मबुद्धि या सूक्ष्मदृष्टि के अतिरिक्त[99], जो सर्वभूत में विद्यमान रहकर भी अदृश्य हैं, उनका दर्शन करना संभव नहीं। निर्मल चित्त नहीं रहने पर यह सूक्ष्मदृष्टि उत्पन्न ही नहीं होती एवं निर्मल चित्त को पाने के लिए ब्रह्मचर्य या इन्द्रियनिरोध की आवश्यकता होती है। इसलिए ब्रह्मज्ञान या अपने हृदयाकाश में ब्रह्म को पाने के लिए सत्य, तपस्या इत्यादि के साथ निरंतर ब्रह्मचर्य की भी आवश्यकता होती है।[100]

यदि कोई सोचता है कि, भक्तियोग में ब्रह्मचर्य की आवश्यकता नहीं होती, तो यह उचित नहीं होगा। क्योंकि किसी भी योग में अनन्य भाव से[1], भगवत्परायण होना होगा या मनको भगवान् के साथ जोड़ना होगा। इसीलिए गीता में योगियों को 'ब्रह्मचारी-व्रत' में स्थित होने का उपदेश दिया गया है[2], यदि भक्ति को अव्यभि-चारिणी[3] रखनी है, तो फिर नारी सहचर्य की इच्छा को त्यागकर

---

97. पा० यो० (सा० ३८)—'ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'।

100. मु. (३/१/५)-'सत्येन लभ्यस्तपसा···ब्रह्मचर्येण नित्यम्···यतयः क्षीणदोषः।

1. गी. (१२/६)-'ये तु···अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते'।
2. गी० (६/१४)-'प्रशान्तात्मा विगतभी ब्रह्मचारिव्रते स्थितः···मत्परः'।
3. गी० (१३/१०)-'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी···'

एकमात्र ईश्वर से ही प्रेम रखना होगा,[4] यह भावना रखनी होगी कि परमात्मा से प्रिय कुछ भी नहीं है[5]।

इसलिए भागवत् ने भी भक्तियुक्त बुद्धि के द्वारा इन्द्रिय इत्यादि को संयत कर वासुदेव परायण होने को कहा है।[6] यद्यपि कहा गया है कि, वर्णाश्रम से रहित व्यक्ति के लिए भी भक्तियोग द्वारा भगवत्प्राप्ति संभव है ;[7-8] तथापि साथ ही यह भी कहा गया है कि, सभी आश्रम वालों के लिए मन, वाणी तथा शरीर को अनुशासित रख कर सर्वत्र भगवद्दर्शन करना संभव है।[9] और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि, मुझे पाने के लिए एकान्त भाव से मेरा चिन्तन एव मनन करना होगा, अतएव स्त्री सहचर्य से दूर रहकर तथा इन्द्रियों को संयत कर निरंतर मेरे ध्यान में लीन रहना होगा।[10]

---

4. ना० भ० (१/२)—सा तस्मिन् परमप्रेमरूपा' ; (२/७-९)-'... सा न कामयमाना ... अनन्यता'।

5. वृ० (१/४/८)—'...प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा'।

6. भा० (११/१६/४२-४४)—'वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियानि च...परिसमाप्यते' ; (११/१७/२५-३६)...ब्रह्मव्रतधरः...सर्वभूतेषु मां परम्...उपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः... मद्भक्तस्तीव्रतपसा ...'।

7. भा० (११/१७/१)-'...वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि'।

8. अन्यत्र कहा गया है कि, यम-नियम इत्यादि के योग से समन्वित ब्राह्मण की अपेक्षा भगवान के प्रति आत्म समर्पित चाण्डाल श्रेय है, क्योंकि तपस्या, योग आदि के द्वारा नहीं बल्कि एकमात्र भक्ति के द्वारा ही भगवान् को संतुष्ट किया जा सकता है [भा० ७/९/१०]।

9. भा० (११/१७/३५)-'सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं...मनो-वाक्कायसंयमः'।

10. भा० (११/१४/२७-३०) - 'विषयान् ध्यायतश्चित्तं...स्त्रीणां स्त्रीसंगीनां संगं त्यक्त्वा...तत्संगिसंगतः' ; भा० मा० (६/४५-४७)-'ब्रह्मचर्य्यम्...कामं...'। नारद भी कहते हैं [ना० भ० (३/६३)—'स्त्री-धन-नास्तिक-वैरचरित्रं न श्रवणीयम् ; (३/७९)—'सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवान् एव भजनीयः']।

यदि हम इस प्रसंग में हिन्दूधर्म के मूलतत्व 'अधिकारवाद' पर ध्यान दें तो फिर उपर्युक्त कथनों में परस्पर विरोधाभास का अनुभव नहीं होगा। यदि भागवत् एवं नारदीय भक्ति सूत्र को सम्पूर्ण रूप से 'अधिकारवाद' की पृष्ठभूमि पर रखकर विचार करें तो देखेंगे कि, इन दोनों शास्त्रों में ही कहा गया है कि, भक्तियोग में भी चित्त-शुद्धि की आवश्यकता होती है तथा यम-नियम उसका एक उपकरण है।[1] जिसने शुद्ध चित्त हो ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है, वह किसी अन्य विषय के प्रति आकर्षण अथवा सुख के बोध से रहित हो जाता है; इसलिए साधारण अनुशासनों का प्रश्न ही नहीं उठता। जिन्हें भागवत् के मात्र इस श्लोक[2] की यह व्याख्या[3] हृदयंगम हो गयी, उनमें गोपियों के प्रेम के संबध में गलत धारणा कभी नहीं रह सकती। जिसमें देह का बोध है उसके लिए क्या 'कृष्णमय' होना संभव है? इसी शरीर के बोध को समाप्त करने के लिए इन्द्रियों पर अनुशासन करने की आवश्यकता पड़ती है।[4] जबतक देहात्मबोध रहता है, तबतक ईश्वर से पूर्णप्रेम नहीं किया जा सकता।

1. भा० (३/२६/१७)-'···मैत्र्या···यमेन नियमेन च'।
2. भा० (१०/४६/४)-'ता मन्मनस्का मत्प्राणा···ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम्'। यह श्रीकृष्ण का कथन है, गोपियों ने भी कहा है भा० (१०/३१/४)-'न खलु···अखिल देहिनामंतरात्मदृक्···'।
3. यह लेखक की स्वकपोल कल्पित व्याख्या नहीं है, स्वयं नारद मुनि की व्याख्या है, इसे हिन्दुओं में ही कितने लोग जानते हैं? भक्तिसूत्र में नारद ने सर्वसमर्पिता भगवत्प्रेम के उदाहरणस्वरूप गोपियों का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि, उनका असतीत्व नहीं होता, क्योंकि, वे कृष्ण से मनुष्य रूप में प्रेम नहीं करतीं बल्कि भगवत्स्वरूप में प्रेम करती हैं और अपने देहज्ञान का विसर्जन दे कर उनमें अनुरक्त होती हैं [ना० भ० (३/१८-२३)-'आत्मरत्यविरोधेन··· तदर्पिताखिलचारता···यथा-व्रज-गोपिकानाम्···न तत्रापि माहात्म्यज्ञा-विस्मृति···तद्विहीन जाराणामिव']
4. गी० (१८/५१-५३)-बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च··· कामं क्रोधं परिग्रहं विमुच्य···ब्रह्मभूयाय कल्पते।'

तथा भागवत् में असंदिग्ध रूप से कहा गया है कि, इस देहात्मबोध या 'अहंकार' को समाप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य एक आवश्यक उपाय है।[5] इसप्रकार के बाह्यत: विरोधी कथन विभिन्न स्तर के नर-नारियों के लिए आवश्यक हैं। जबतक अहंकार समाप्त नहीं होता तबतक ब्रह्मचर्य चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। परन्तु ज्योंही देह-मन इत्यादि सभी ईश्वर से तादात्म्य कर लेते हैं, त्योंही वह व्यक्ति (नारी अथवा पुरुष) अहंकार से मुक्त हो सभी संस्कारों को विसर्जित कर देता है, और तब उसके लिए अपने शरीर कुल तथा मान के प्रति ध्यान देने का अवकाश ही कहाँ रह जाता है।[6]

ज्ञानयोगियों का इस अवस्था के साथ कोई अन्तर नहीं है। जो स्वयं को ब्रह्म के प्रति अर्पित कर दिए हैं वे ही ब्रह्मचारी हैं। यही ब्रह्मचर्य शब्द का मूल अर्थ है।[7] इसलिए उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मचर्य के द्वारा एषणा (इच्छा) करते हुए अथवा ब्रह्म की परिचर्या करते हुए ब्रह्म को प्राप्त करना होगा।

हमने देखा कि, प्रत्येक मनुष्य के लिए यौवनकाल में ब्रह्मचर्य का पालन कर विद्या अर्जन करना उचित है। इस प्रकार चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य प्रथम आश्रम है। लेकिन मोक्ष प्राप्ति की तैयारी

---

5. भा० (५/५/६-१३)—एवं मन:···देहगेहात्मबुद्धे:···सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्य्येण···लिंगं व्यापोहेत कुशलोऽहमाख्यम्'

6. भा० (१०/४६/४-६)—'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका:··· मदात्मिका:' ; (११/१२/१२)-'ता नाविदन्· नाम-रूपे। [अतएव, हिन्दू धर्म के विभिन्न शास्त्रों के बीच कोई आदर्शगत भेद नहीं है, तथा लक्ष्य भी एक ही है। केवल विभिन्न स्तरों के योग्य बना कर एक ही गीत को विभिन्न स्वरों में गाया गया है]।

7. 'ब्रह्मणि चरति ईति ब्रह्मचर्याम्'।

8. छा (८/५/१)-'ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते'। इसके बाद के खण्ड में, इस ब्रह्मचर्य के पालन का फल, इन्द्र तथा विरोचन के आख्यानों के द्वारा व्यक्त हुआ है [छा० ८/७/३ ; ८/११/३]।

के लिए जिस चित्तशुद्धि की आवश्यकता है, उसका उपकरण ब्रह्मचर्य है, जिसकी आवश्यकता आश्रम निरपेक्ष है। अर्थात् आयु या आश्रम जो भी हो, ब्रह्म के दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य का आश्रय ग्रहण कर "दोष रहित"[9] होना होगा।

प्रश्न यह है कि, ब्रह्मप्राप्ति या मोक्षलाभ के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता क्यों है? इसका उत्तर है कि, ब्रह्म को पाने के लिए दूसरी सभी इच्छाओं को त्याग देना होगा। इसका उल्लेख हमने बार-बार किया है। मानना ही पड़ेगा कि नारी का सान्निध्य एक प्रधानतम कामना का विषय है[10]। फलत: जो ब्रह्म को पाना चाहते हैं उन्हें नारी सहचर्य से जितने प्रकार सुख प्राप्त हो सकते हैं[11] उन सबों का वर्जन कर ब्रह्म को ही एकमात्र आश्रय स्वरूप स्वीकार करना होगा।[12]

---

9. मु० (३/१/५)-'सत्येन लभ्यः···ब्रह्मचर्येण नित्यम्···क्षीणदोषाः ; क० (१/२/१५)-'···यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति' ; प्रश्न, (५/३)–'··· ब्रह्मचर्य्येण···महिमानमनुभवति'।

10. श्रीरामकृष्ण की वाणी में 'कामिनी-कांचन' के त्याग का उपदेश बार-बार उद्धृत हुआ है [कथा०—१/२३, २६, ४६, १६६, ४/१६, ३२, ३८, २१०]।

11. इसीलिए उपनिषदों ने काया मन वाणी से मैथुन के त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है [शा० (क० १)—'ब्रह्मचर्य्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः' ; यो० या० (१/५४)-'कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं' और मैथुन की संज्ञा को अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण करने पर, प्रत्यक्ष वीर्यरक्षा का ही कार्य नहीं बल्कि कामोद्दीपक हर कार्य ही ब्रह्मचारियों के लिए निषिद्ध हैं, उदाहरणार्थ, नारी विषयक चिंता, आलोचना, नारी के साथ संभाषण, क्रीड़ा, उपहास [भा० (११/१७/३३) - 'स्मरणं कीर्तनं केलिः···मुमुक्षुभिः-स्त्रीणां निरीक्षण-स्पर्श-संलाप-क्ष्वेलनादिकम्···त्यजेत्' ; मनु० (२/१७६)— '···स्त्रीणां च प्रेक्षनालंभम्···]

12. क० (२/१/२)-'पराचः कामान्···न प्रार्थयन्ते'।

ब्रह्मचर्य से संबंधित इसप्रकार के कठोर अनुशासनों को देखकर अनेकों ने अपना मत व्यक्त किया है कि हिन्दू शास्त्रों के रचनाकार पुरुष होने के कारण उन्होंने नारियों को घृणा के योग्य माना है। लेकिन इस प्रकार का मत पूर्णतया अज्ञानता का प्रतीक है। हिन्दू धर्म का प्रत्येक शास्त्र, माता को अधिक से भी अधिक महीयसी के रूप में स्थापित कर, प्रत्येक जननी को जगत् जननी की प्रतिमूर्ति के रूप में पूजा करता है [यथा, चन्डी (५/७१-३)—'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता···नमः']—क्या किसी जाति अथवा धर्म में इसकी कल्पना भी है ? जिस नारी को त्यागने का उपदेश हिन्दू धर्मशास्त्र देते हैं, वह "रमणी" या केवल शारीरिक भोग्य वस्तु है, और जिसकी पूजा करने के लिए कहते हैं वह "जननी" है—जिनकी करुणा की बहती धारा में प्रतिक्षण प्रत्येक शिशु का पालन होता है, जिससे विधाता की सृष्टि की रक्षा होती है।

ऋषियों ने नारी-शरीर के प्रति आकर्षण की असारता का विश्लेषण कर दिखाया है कि [ना० व० (क्रु/२९-३०)—'स्त्रीणामवाच्य देशस्य···किमतः परम्] इसमें आकृष्ट होने लायक कुछ नहीं [या० (८ १६)—'मांसपान्चालिकायास्तु दुःखश्रृंखलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया'] ; लेकिन इसप्रकार का चित्तविक्षोभकारी मोह भी दूसरा नहीं है। अतएव सन्यासी या योगी, जो एकमात्र ईश्वर के ही ध्यान में तन्मय हो मुक्ति पाना चाहते हैं, वे नारीमूर्ति को काष्ठ प्रतिमा तक को पैरों के द्वारा भी स्पर्श नहीं करेंगे।[13]

लेकिन पहले ही कहा गया है कि हिन्दूशास्त्रों ने प्रत्येक मनुष्य को सन्यासी होने के लिए एक असंभव सा निर्देश नहीं दिया है। सृष्टि यदि ईश्वर की इच्छा से हुई है तो [(ऐ० १/१/१)—'स ईक्षत लोकान्नू सृजा इति ; छा० (६/२/३)—'तदैक्षत प्रजायेयेति'], फिर

13. कथा० (४/६८)।

धर्म ईश्वर की सृष्टि के प्रतिकूल कुछ नहीं हो सकता। इसलिए उपनिषद में कहा गया है कि "प्रजातंत्र का छेदन नहीं करोगे" (तै० (१/११)——'प्रजातत्तुं मा व्यवच्छेत्सीः]। लेकिन वंश रक्षा के लिए तो फिर उसी नारी की आवश्यकता होती है।

हिन्दूधर्म ने मातृपूजा की अवतारणा के द्वारा इन दोनों उद्देश्यों का समन्वय प्रस्तुत किया है। सृष्टि को निरंतर बनाए रखने के लिए गृहस्थ आश्रम की आवश्यकता है। फिर भी प्रत्येक शास्त्रकार ने यह निर्देश दिया है कि वंश रक्षा के लिए नारी के साथ उतना ही दैहिक संबंध रक्खोगे जिससे कि एक पुत्र की प्राप्ति हो जाए[14], और फिर पंचयज्ञों में निरत रहकर धीरे-धीरे इन्द्रियों को निवृत्ति की ओर उन्मुख करोगे।[15] सन्तान प्राप्ति के उपरान्त नारी अपनी मोहनी रमणी रूप का परित्याग कर महीयसी माता के रूप में संसार की अध्यक्षता करेंगी।

जिन ब्रह्मज्ञ याज्ञवल्क्य ने रमणी के शरीर का वर्णन निकृष्ट रूप में किया है [या० (१६)], उन्होंने ही पुनः सभी प्रकार के गुरुओं से उच्चप्रतिष्ठित अपनी अपनी माता को पूजनीय के रूप में निर्देशित किया है [या० स० (१/३४-३५)—'स गुरुयः क्रिया कृत्वा··· एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी']। जिन मनु महाराज ने नारी को स्वभावतः कुटिल तथा निकृष्ट कहा है [मनु (९/१७-१८)-'शय्यासनमलंकार···अनृतमिति···'], उन्होंने ही सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री को गृहलक्ष्मी के रूप में अभिहित किया है [मनु० (९/२६)—'प्रजनार्थं महाभागाः पूजा ही गृहदोप्तयः···कश्चन'] । वही मनु जिस भाषा में मातृ गौरव को लिपिबद्ध किए हैं उसे सम्पूर्ण

14. ना० प० (२)-'स्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य···'।

15. तै० (१/११/१-३)-'···सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव पितृदेवो भव, ···संविदा देयम्···'।

सभ्य जगत् के लिए कंठस्थ कर लेना उचित होगा ; इसीलिए इसे उद्धत करने का लोभ संवरण नहीं कर पाया हूँ—

"उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते" [मनु० (२/१४५)

अर्थात् दस उपाध्यायों की अपेक्षा एक आचार्य का गौरव अधिक है, तथा सौ आचार्यों के गौरव की अपेक्षा पिता का गौरव अधिक है ; सर्वोपरि, सहस्रों पिताओं की अपेक्षा 'माता' अधिक सम्मानीय है। जिस हिन्दूधर्म ने ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु को समाज में शीर्षासन पर स्थापित किया था, कल्पना कीजिए की उसी ने माता को कहाँ स्थान प्रदान किया है ।

ब्रह्मचर्य से संबंधित शास्त्रों का अध्ययन करने पर देखा जाता है कि प्रवृत्ति से निवृत्ति श्रेय है । क्योंकि गृहस्थाश्रम तथा प्रवृत्ति मार्ग में पंचयज्ञ इत्यादि अनुष्ठानों के द्वारा स्वर्ग पर विजय प्राप्त किया जा सकता है ; परन्तु मोक्ष पाने के लिए सन्यास या नित्य ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है।[16] यदि गार्हस्थधर्म के उत्कृष्टतम अनुष्ठानों से मोक्ष पाना संभव होता तो फिर गार्हस्थ आश्रम के उपरान्त सन्यास आश्रम का विधान ही नहीं रहता।[17] निश्चय ही अनेक शास्त्रों में गृहस्थ आश्रम का गौरव वर्णित है। यहाँ तक कि मनु ने गार्हस्थ

16. मु० (३/१/५)-'ब्रह्मचर्येण नित्यम्'। इस विषय की विवेचना हमने पंचम अध्याय में विशद् रूप से की है ।
17. ना० प० (२)—'गार्हस्थ्योचितं पंचविंशतिवत्सरं तीर्त्वा···वनस्थो भूत्वा सर्वतो विरक्तश्चित्त:···साधनचतुष्टयसम्पन्न: सन्यस्तमर्हति···' ; क० श्रु० (४/१)—'···चरितब्रह्मचर्य्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाद्य···तस्य संन्यास: यानं (११) ; जाबाल (८)-'ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृही भवेत् । गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्···' ।
18. प्रश्न० (१/१५-१६)-'तद् ये ह वै तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति तेषामेवैष ब्रह्म लोको । येषां तपो ब्रह्मचर्य्यं···तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको' ; महा० (अनु० १४/१/७६, ८०)—'प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते निवृत्तिलक्षणस्त्वन्यो धर्मो मोक्षाय तिष्ठति ।'

आश्रम को अन्य आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा है।[19] क्योंकि गृहस्थ ही अन्य आश्रमिओं के पालनकर्ता हैं। लेकिन उन्होंने ही मोक्षप्राप्ति के लिए गार्हस्थ के उपरान्त प्रव्रज्या या सन्यास ग्रहण करने को कहा है।[20] गृहस्थाश्रम में जो अनुशासित जीवन व्यतीत[21] करते हैं उन्हें मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग प्राप्त हो सकता है[18] लेकिन मोक्ष के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है।[17]

अपने संभाषणों में विवेकानंद ने भी कहीं-कहीं गृहस्थाश्रम की प्रशंसा की है। परन्तु उन्होंने अपने शिष्यों के समक्ष स्पष्ट रूप से कहा है कि उनकी ये सभी उक्तियाँ गृहस्थ श्रोताओं को उत्साह या सांत्वना देने के लिए हैं ; अन्यथा उनका मूल वक्तव्य यही है कि सन्यास तथा त्याग के अतिरिक्त मुक्ति पाना संभव नहीं।[22] जिन सब शास्त्रों में गृहस्थों के प्रति साधुवाद है, स्वामीजी का यह मत उनके सम्बन्ध में भी लागू होता है।

तो फिर क्या हम जैसे गृहस्थ लोगों के लिए कोई आशा ही नहीं है ? निश्चित रूप से है, यदि हम अधिकारवाद, कर्मफल तथा जन्मान्तरवाद को ध्यान में रक्खें तो हमलोग जैविक विवर्तन के जिन-जिन स्तरों में हैं, उसमें प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में अलग-अलग

---

19. मनु० (३/७७-७८)—'यथा वायुं समाश्रित्य ज्येष्ठाश्रमो गृही' ; महा:० (अनु० १४१/६०)—'गृहस्थ: प्रवरस्तेषां धर्ममाश्रित:···'।
20. मनु० (६/३३-३८)—'वनेषु···तु त्यक्त्वा संङ्गान् परिव्रजेत्···प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते···मनो मोक्षे निवेशयेत् प्रव्रजेत् गृहात्'।
21. अनेक शास्त्रों में इस प्रकार के अनुशासित जीवन को गृहस्थ के लिए ब्रह्मचर्य के समान फलप्रद कहा गया है [यो० या० (१/५६)—'ऋतावृतौ स्वद्वारेषु···गृहस्थवासिनाम्' ; मनु (३५/०) ; महा० (अनु० १४५/१२२-३)—'जन्मनक्षत्रयोगेषु···ब्रह्मचर्यव्रतफलं लभेत् दारव्रती सदा···'] ब्र० सू० (३/४/४८)—'···गृहीणा उपसंहार:'।
22. विवेकानंद की वाणी तथा रचना (९/३५३-४, ४८-५०, ५/४००-४०१)।

व्यवस्था है। जिसको दैहिक सुखों को कामनाएं समाप्त नहीं हुई हैं, वह यदि गृहस्थाश्रम को लांघकर सन्यास ग्रहण करता है तो यह एक कपट आचरण ही होगा। अतः उसे गृहस्थाश्रम में ही रहकर संयत जीवन यापन कर धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर अग्रसर होना होगा। सभी प्रकार की वासनाओं से मुक्त होना तो एकदिन की बात नहीं है।[23] अनेक जन्मों से इस निवृत्ति साधना को साधने पर पापशून्य हो मुक्ति प्राप्त होगी।[25] परन्तु यदि सिद्धिलाभ के पूर्व ही किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न हो जाता है, तो उससे भी हताश नहीं होना चाहिए। क्योंकि अगले जन्म में हमारी यात्रा वहीं से आरंभ होगी जहाँ तक पूव जन्म में हम पहुंचे थे।[26]

अपरिग्रह :

चूंकि मन को सम्यक रूप से वशीभूत न कर पाने तक परमात्मा में उसे एकाग्रचित्त कर पाना संभव नहीं है, इसलिए साधक

23. गी० (६/२५)—'शनैः शनैरुपरमेत्…'।
24. गी० (६/२७-२८)।
25. गी० (६/४५)—'…अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। [निश्चित रूप से सन्यासी के लिए भी यह भगवत्-वाणी आवश्यक है, क्योंकि इस-प्रकार का कथन कोई भी सन्यासी नहीं कह सकता है कि, उसने सन्यास आश्रम मे प्रवेश करने मात्र से मोक्ष प्राप्त कर लिया है। फिर भी वे हमसे आगे हैं तथा अगाध श्रद्धा के पात्र भी हैं, क्योंकि वे 'डबल प्रमोशन' (एक साथ दो पदोन्नति-) पाए हुए छात्र हैं, अनेक जन्मों की सुकृतियों के फलस्वरूप गार्हस्थ्य तथा वाणप्रस्थ आश्रम को छोड़कर जो ब्रह्मचर्य से सीधे सन्यास आश्रम में प्रवेश कर जाते हैं उनकी मुक्ति अत्यन्त शीघ्र होती है, क्योंकि उनका ब्रह्मचर्य क्षतिग्रस्त नहीं होता, परन्तु चरम परीक्षा फिर भी शेष रह जाती है—वह है 'कायामनवाणी' से अष्टप्रकार के मैथुन का परित्याग कर 'ब्रह्मचर्य्य को 'ब्रह्मचर्य्या' में परिणत कर देना।']
26. गी० (६/४३-४४)—'अत्र तां…पौर्वदेहिकम्…पूर्वाभ्यासेन…शब्द ब्रह्माति वर्त्तते'।

ऐसा कोई भी कार्य नहीं करेंगे जिसके कारण उनका मन किसी अन्य पर निर्भरशील हो जाय। इसलिए वे किसी से भी कुछ नहीं लगे या लेने को आकांक्षा नहीं रक्खेंगे। कारण, उपहार समझ कर ग्रहण करने पर भी दाता के प्रति दास्यमनोभाव उपज सकता है या कामनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

अतएव साधक दूसरे की वस्तु ग्रहण नहीं करेंगे—चोरी अथवा दान किसी भी उपाय से नहीं, अर्थात् 'अस्तेय' तथा 'अपरिग्रह' की नीतियों का अवलबन करेंगे।

जिसने अस्तेय एवं अपरिग्रह का अभ्यास कर लिया है उसका अहंकार समाप्त हो गया है। अत: बिना इच्छा के कुछ पाने पर भी वे भविष्य के लिए उसका संचय नहीं करेंगे। चूँकि वे वर्तमान तथा भविष्य सभी स्थितियों के लिए ईश्वर पर निर्भरशील हैं, इसलिए वे 'असंचयी' होंगे।[27]

नियम :

हमने पांचवें अध्याय में कहा है कि, राजयोग के अष्टांग साधनों में दूसरा साधन 'नियम' है। इसके पांच अंग हैं—शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान।[28] ये सभी राजयोग के अन्तर्गत होते हुए भी अन्य मार्गावलंबियों के लिए भी आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

---

27. इसलिए भागवत् (११/१९/३३) ने शम साधना के अंग के रूप में 'असंचय' का उल्लेख किया है।

28. पा० यो० (सा० ३२)—'शौचसंतोष···नियमा:'। योगी याज्ञवल्क्य (२/१) तथा शांडिल्योपनिषद् में (क० २) कुछ अन्य क्रियाओं को भी नियमों के अन्तर्गत रखा गया है—आस्तिक्य, दान, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप, व्रत। भागवत ने उनमें सात और जोड़े हैं—जप, होम, श्रद्धा, आतिथ्य, तीर्थ भ्रमण, परोपकार की इच्छा तथा गुरु सेवा।

शौच :—

शौच से साधारणत: हमारा अभिप्राय स्वच्छता से होता है। परन्तु चित्तशुद्धि के लिए जिस शौच के अवलंबन की आवश्यकता है, वह और अधिक व्यापक है। शौच दो प्रकार का होता है—बाह्य एवं आन्तः शौच।[30-31] चित्तशुद्धि के लिए दोनों की ही आवश्यकता है, फिर आन्त: शौच को मुख्य कहा गया है, इसलिए कि, केवलमात्र शरीर के परिष्करण से ही ब्रह्म का दर्शन नहीं हो सकता, जबतक कि चित्त निर्मल न हो जाय। अत: उसके लिए आन्त: शौच आवश्यक है।

दूसरी तरफ शरीर के अशुद्ध रहने पर साधारण व्यक्ति से मन: शुद्धि या मन के एकाग्रता की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए आन्तर शुद्धि एवं बाह्य शुद्धि परस्पर सापेक्ष हैं अर्थात् जबतक मानस शुद्धि का ज्ञान नहीं हो जाता, तबतक यथासंभव बाह्यशौच का पालन करना उचित है। लेकिन सर्वांगीण रूप से बाह्य परिशुद्धि का पालन प्राय: असंभव ही है ; और पुन: इस कमी को पूरा करने का उपाय है मन: शुद्धि। इसलिए हिन्दुओं के पूजादि प्रत्येक शास्त्रीय कर्मों के प्रारंभ में 'आचमन' का विधान है। यह आचमन मंत्र

---

29. मनु के मतानुसार, शौच दसों धर्मलक्षणों के बीच अन्यतम है (६/९२)- 'धृति, क्षमा, दमोऽस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रह:···धर्मलक्षणम्') और यह ज्ञाति वर्ण से परे सभी के पालन योग्य है (१०/६३)–'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रह:···एतं समासिकं धर्मं···मनु:')।

30. शा० (क० १-२)-शौचं नाम द्विविधं बाह्यमांतरं चेति···मृज्जलाभ्यां बाह्यम्···मन: शुद्धिरान्तरम्···लभ्यम्' ; यो० या० (१/६७-६८)— 'शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं···चानघे'।

31. महा. (अनु. १४५/११/६२)—'बाह्ययाभ्यन्तरं चेति द्विविधं शौच मिष्यते···'।

विशेषरूप से स्मरण करने योग्य है, विष्णु को स्मरण कर तथा विष्णुनाम का उच्चारण कर कहना पड़ता है—

'ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुंडरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः' ॥

अर्थात् कितने हो अपवित्र स्थिति में क्यों न हों; भगवान् को मात्र ध्यान करते ही बाह्य तथा आन्तर दोनों शुद्धियाँ एक साथ ही प्राप्त हो जाती हैं।

ब्रह्म हमारे उद्देश्य या केन्द्रस्थल हैं और आत्मपरिष्करण उस लक्ष्य पर पहुँचने का केवल एक अवलंबन है। अतः जो एक क्षण के लिए भी मन-वचन-काया से ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाए हैं, उनके समक्ष या उस क्षण के लिए शुद्धि-अशुद्धि का ज्ञान समाप्त हो जाता है अथवा गौण हो जाता है। इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण यही है कि जिन शास्त्रों ने कहा है कि शौच के बिना सन्यास का अधिकारी हो पाना संभव नहीं[32], उन्होंने ही कहा है कि सन्यास के सर्वोच्च शिखर या तुरीयातीत अवस्था में पहुँचने पर—जल से स्नान करना भी निषिद्ध है।[33] क्योंकि तब वे समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध कर तथा सभी कर्मों का त्याग कर ब्रह्म के ध्यान में निरंतर लीन रहते हुए शाश्वत रूप से पवित्र[34] हो गये हैं। इसप्रकार के योगी जिनके हृदय में ब्रह्म सदैव जाग्रत हैं, उनके लिए तो शौच की बात ही क्या है, वैदिक नित्यकर्म, यज्ञ क्रियाएँ इत्यादि किसी भी कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती।[23] इसप्रकार के योगी (अवधूत) बालक, जड़, उन्मत्त अथवा पिशाच के सदृश्य कर्मरहित तथा निस्पृह हो आत्मानंद में अकेले ही विचरण करते हैं, तथा ब्रह्मस्वरूप में ही रहते हुए देहावसान के पश्चात् ब्रह्म में ही लीन हो अपनी साधना का उचित फल प्राप्त करते हैं।[34]

---

32. ना. प. (३/२/१)—'यस्मिन् शांतिः शमः शौचं···वसेत्'।
33. ना. प. (३/२५-२७)।
34. तु०—'···नित्यपूतः···तच्चित्तं मय्ये वावतिष्ठते···क्षौराभ्यंगस्नानोर्द्ध-

बाह्य शुचि :

मिट्टी, जल[32] इत्यादि की सहायता से शारीरिक शुद्धिकरण करना ही बाह्यशुचि कहलाता है। महाभारत में बाह्य शुचि के विधान का विस्तृत वर्णन है। उत्तम मिट्टी तथा विशुद्ध जल से प्रत्येक अंग का प्रक्षालन (सफाई), परिष्करण तथा स्नान प्राथमिक क्रियाएं हैं। उसके उपरान्त भोजन की शुद्धता तथा सदाहार का प्रसंग आता है।[36]

पुंड्रादिकं विहाय···लौकिकं वैदिकमप्युपसंहृत्य···बालोन्मत्तपिशाचवदेकाकी संचरन्···प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति···' ; ना० प (५/२६). 'बुधो बालकवत्···जड़वच्चरेत्···' ; कथा० (१/१२६)।

35. महा० (अनु० १४५/११/६०-८५)।

36. छांदोग्य कहते हैं कि, केवलमात्र आहारशुद्धि से चित्तशुद्धि प्राप्त किया जा सकता है (७/२६/२)—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि···'। इस 'आहार शुद्धि' का अभिप्राय क्या है, इसके सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। रामानुज के अनुसार इसका तात्पर्य शुद्ध भोजन ग्रहण से है और इसी को व्यापक अर्थ का रूप देते हुए, वे कहते हैं कि, केवल दूषित भोजन ही नहीं बल्कि हीन या अपवित्र व्यक्ति द्वारा पकाए गए या बनाए गए खाद्य का भी परित्याग करना चाहिए। शंकराचार्य के मतानुसार इसका अर्थ अत्यंत गंभीर है। इन्द्रियाँ जो कुछ भी आहरण करती हैं वे ही 'आहार' हैं ; अतः आहार शुद्धि का तात्पर्य, राग-द्वेष-मोह इत्यादि सभी प्रकार के इन्द्रिय विकारों से मोक्ष प्राप्त करना तथा मन में शुद्ध भाव को लाना है।

विवेकानंद के अनुसार दोनों की ही आवश्यकता है (वि० वा० र० ४/४६) ; फिर भी खाद्य तथा अखाद्य के विचार में संस्पर्श दोष इत्यादि के विषय में अत्यधिक ढीठता दिखाने पर ब्रह्मलोक में नहीं पहुंचा जा सकता यह समन्वय (रामानुज तया शंकराचार्य के आहार सम्बन्धी विचारों का) ग्रहणीय है, क्योंकि, गीता ने भोजन के गुण अनुसार ही सात्विक राजसिक तथा तामसिक श्रेणियों को विभाजित किया है। अत: सात्विक मानसिकता को प्राप्त करने के लिए सात्विक भोजन ग्रहण करना अनिवार्य है। दूसरी ओर केवल शुद्ध वस्तु का भोजन करने से ही छांदोग्य-

श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है कि, (१७/१-१०) सात्विक या शुद्ध भोजन वही है जिससे आयु, उद्यम तथा आरोग्य में वृद्धि होती है और इसीप्रकार के सरल, स्निग्ध तथा हृदयग्राही वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए ; एवं अतिशय तिक्त, अम्ल, रूखे, नमकीन, ज्वलन उत्पन्न करने वाले, अधपके, दुर्गन्धमय, जूठे और विकृत (वासी) भोज्य पदार्थ का परित्याग करना चाहिए।[35] महाभारत में मद्य तथा माँस के परित्याग का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है।[35]

हिन्दू धर्म में अहिंसा का स्थान कहाँ है, इसके सम्बन्ध में बहुतों की धारणा सम्यक् नहीं है। क्योंकि यज्ञों में पशुबलि का विधान है एवं इसी के प्रतिवादस्वरूप जैन तथा बौद्ध धर्मों का जन्म हुआ था। लेकिन इसके पूर्व ही यम के अन्तर्गत 'अहिंसा' के प्रसंग में हमने कहा है कि सनातन धर्म में भी आध्यात्मिक जीवन के उच्च-सोपान में अहिंसा अपरिहार्य है। यही नहीं बल्कि, यह भी कहा गया है कि यह हत्या केवल जीवहत्या तक ही सीमित नहीं है।

वर्तमान समय में पशुबलि तथा यज्ञावशेष माँस का भक्षण एवं शाकाहारी भोजनों में समन्वय की आवश्यकता हैं।

महाभारत में निरामिष आहार को जो स्थान दिया गया है उससे बहुतों का आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक है। कहा गया है कि[37], जो व्यक्ति अपने स्वाद की पूर्ति हेतु इच्छानुसार दूसरे जीवों का प्राण हनन करते हैं, वे बाघ, गिद्ध, श्रृगाल इत्यादि के समान होते हैं। दूसरी ओर जो व्यक्ति पूर्ण रूप से मांसाहार का परित्याग

उक्त शुद्ध सत्त्व तथा सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए क्रोध-द्वेष इत्यादि का वर्जन कर भाव शुद्धि प्राप्त करना भी आवश्यक है (छा० ७/२६/२)—'आहारशुद्धौ सर्वग्रंथिनां विप्रमोक्ष:')। इस पुस्तक में हमने भाव शुद्धि को आन्त:शौच के अन्तर्गत रखा है।

37. महा० (अनु० ११५/११/८०-८१, ८५)।

किए हैं उनकी सुकृति—यज्ञ, दान, वेदाध्ययन, सौ वर्षों की तपस्या का फल इत्यादि की अपेक्षा उत्कृष्ट है।

तब ऐसे में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, किस प्रकार से शास्त्रों ने यज्ञ में पशुबलि तथा यज्ञावशेष मांस के भक्षण की स्वकृति दी है? इसका उत्तर है—अधिकारवाद। सन्यासी[38] तथा मोक्षाभिलाषी[39] साधक के लिए मांसाहार निषिद्ध है। क्योंकि, ब्रह्मपद पाने के लिए सभी प्रकार की अहिंसा अपरिहार्य है।[39] इस प्रकार के व्यक्ति इच्छानुसार की तो बात ही दूर है, अज्ञानतावश या अनिच्छा से हुई जीव हत्या से भी बच कर रहें एवं जिससे कि कीट-पतंग इत्यादि भी पांवों के नीचे आकर विनष्ट न हों इसके लिए सदा भूमि का निरीक्षण कर चलें। इसके बाद भी यदि कोई जीवहत्या हो जाती है तो उसके लिए प्रायश्चित का विधान है।[40]

लेकिन सभी व्यक्तियों के लिए एक ही दिन में मोक्षार्थी अथवा सन्यासी बन पाना संभव नहीं है; हिन्दूशास्त्रकारों ने इस वास्तविक सत्य को अस्वीकृत नहीं किया। यह वर्तमान विज्ञान-सम्मत सत्य है कि पशु जन्म के विवर्तन के परिणामस्वरूप मनुष्य का जन्म हुआ है एवं प्राणीतत्त्वविद इस निष्कर्ष में भी पहुंचे हैं कि, जिन प्राणियों में श्वदंत या कुत्तों के समान नुकीले दांत हैं, वे जैविक स्वभाव से ही मांसभक्षी हैं। मनुष्य भी इसी वर्ग में आता है; क्योंकि, उसके चार श्वदंत हैं। अत: आध्यात्मिकता एवं इन्द्रियशासन के द्वारा जिन मनुष्यों का पशुत्वभाव अबतक दूर नहीं हुआ है, उनके मांस भक्षण पर प्रतिबंध लगाने पर क्या उनके जैविक स्वभाव में परिवर्तन आ पाएगा?

---

38. ना० प० (६/३५-३६)-,···कृमिकीटपतंगांश्च···न नाशयेत्···परमार्थ-मतिर्यतिः'; (५/३१)-'जरायुजान्डजादीनां···कुर्वीत न द्रोहं···'।
39. मनु० (६/६०, ७५)-'अहिंसया···तत्पदम्'।
40. मनु० (६/६८-६९)-'संरक्षनार्थं जन्तूनां···षडाचरेत्'।

थोड़े-थोड़े अनुशासन के द्वारा इसे सीमित करने पर धीरे-धीरे इनमें भी पशुत्व से देवत्व का उन्मेष होगा। इसीलिए यज्ञ इत्यादि में देव पितरों को आहुति देकर उसी मांस को ग्रहण करना अनुमोदित है, और इसके अतिरिक्त जीवहत्या तथा मांस भक्षण निषिद्ध है।[41]

यज्ञ इत्यादि में देव तथा पितरों को आहुति देकर उस मांस के भक्षण का अनुमोदन देने का कारण है कि, मांसाहार के विषय को भी धार्मिक अनुष्ठानों से जोड़कर, इसप्रकार की छोटी भावनाओं वाले व्यक्तियों के हृदय में भी धार्मिक भाव उत्पन्न करना तथा उसे प्रवृत्ति मार्ग से धीरे-धीरे निवृत्ति मार्ग में दीक्षित करना। इस प्रसंग में उल्लेख करना चाहता हूँ कि, पूजा में पशुबलि शास्त्रानुमोदित होते हुए भी उसे "सात्त्विक" पूजा नहीं कहा जाता।[42]

यज्ञों में होनेवाले पशुबलि के विरोध में बौद्ध धर्म का उद्भव हुआ और यह भी सत्य है कि, पशुबलि अहिंसक-नीति का विरोधी है। लेकिन फिर भी उल्लेखनीय है कि पूजा में जीवहत्या आवश्यक कर्त्तव्य है ऐसा भी शास्त्रकारों ने नही कहा है। इस पुस्तक में इतना अवकाश नहीं है कि बलिदान के समर्थक तर्कों का विस्तृत विश्लेषण किया जा सके। लेकिन सगुण ईश्वर पूजा में ईश्वर के उद्देश्य से कुछ उपचार-उत्सर्ग का विधान प्राय: सभी धर्मों में है। उपचार किस प्रकार का होगा इसी विषय में मतभेद है। परन्तु हिन्दू धर्म में जीवबलि को श्रेष्ठ स्थान नहीं दिया जाता। यहाँ "अधिकारवाद" को आधार मानकर बलि को श्रेणियों में विभाजित किया गया है।[43]

---

41. मनु० (५/२७)-'प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं···' ; (५/३१-३२)-'यज्ञाय··· देवान् पितृंश्चार्च्चयित्वा···न दुष्यति'।
42. भा० (११/५/१०-१४)-'सर्वेषु शश्वत् तनुभृत्स्ववस्थितं···निवृत्तिरिष्टा·· पशोरालभनं न हिंसा···पशून् द्रुह्यन्ति······प्रेत्य खादन्ति ते च तान्'।
43. प्रत्येक पूजा पद्धति में पशु बलि के स्थान पर कुष्माण्ड इत्यादि फल के बलि का वैकल्पिक विधान है।

गीता ने समस्त मनुष्य जातियों तथा उनकी वृत्तियों एवं कर्मों को सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक इन तीनों श्रेणियों में विभाजित किया है। अज्ञानता ही तामसिकता का कारण है ;[44] इन्द्रिय प्रवृत्ति द्वारा संचालित व्यक्ति को राजसिक तथा ज्ञान के द्वारा परिशोधित निर्मल चित्तवाले व्यक्ति को सात्त्विक कहा जाता है।[45] तामसिक व्यक्ति जड़ की भांति होते हैं तथा राजसिक व्यक्ति शान्तचित्त वाले होते हैं। जड़त्व से देवत्व तक पहुंचने में तामसिक स्तर निम्नतर, राजसिक मध्यम तथा सात्त्विक सर्वश्रेष्ठ अवस्था मानी जाती है।[46] अत: जो मनुष्य पशुत्व से ऊपर नहीं उठ पाए हैं, अथवा युद्ध इत्यादि राजसिक कर्म ही जिनकी वृत्तियाँ हैं, उनके लिए भी विधान बनाए रखने हेतु शास्त्रों ने सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक पूजाओं का उल्लेख किया है।[47] अब हम पशुबलि के तांत्रिक प्रकार भेदों को समझ पाएँगे। कहा गया है कि, जीवहत्या तामस तथा राजस पूज़ाओं में विहित है, लेकिन सात्त्विक पूजा में पशु के स्थान पर कुष्माण्डादि (कुम्हड़ा या कद्दू का फल) फलों की बलि देने का विधान है।[48] अतएव देखा जाता है कि, पशुबलि को

---

44. गी० (१४/५-१०)-"सत्त्वं रजस्तमं···तामसा:' ।

45. श० बि० (१११-११६)-'विक्षेपशक्तिः···समृच्छति' ।

46. निश्चित रूप से मोक्ष के लिए 'गुणातीत' अवस्था आवश्यक है [गी० १४/२०-२५] । यह सात्विक अवस्था से ऊर्ध्वमुखी है, क्योंकि गुणातीत व्यक्ति 'ब्रह्मभूय' [गी० १४/२६] होता है, अर्थात् स्वयं ही ब्रह्मभाव को प्राप्त किए रहता है। इस अवस्था में पूजा, बलिदान इत्यादि किसी की भी पुनः आवश्यकता नहीं रह जाती ।

47. गी० (१७/४)-'यजन्ते सात्विका···जना: ।'

48. वसुमती, क्रियाकांडवारिधि (पृ० २६६)-'मायाति महिषं···कुष्मान्ड-भिक्षुदण्डंच···पुष्टमेव च' । भागवत ने [भा० ७/१५/७-१० ; ४८, ५०, ५२] हिंस्र द्रव्ययज्ञ अथवा पशुबलि को बार-बार निंदनीय कहा है। सच्चे ज्ञानी साधक अपने इन्द्रियों को तथा कर्मसंभार को ही आहुति

आध्यात्मिक जीवन में उच्चस्थान नहीं दिया गया है, यहाँ तक की पूजा में उसकी उपयोगिता भी अनिवार्य नहीं मानी गयी है।

अंतः शुद्धि या आभ्यन्तर शुद्धि :

शाण्डिल्य कहते हैं कि, शौच मनःशुद्धि है जो केवलमात्र अध्यात्मविद्या द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।[49] इसी का विश्लेषण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं[50] कि, धर्म का अनुशीलन एवं पिता तथा आचार्य के समक्ष काया-मन-वाणी से श्रद्धा-भक्ति सहित अध्यात्म विद्या की प्राप्ति द्वारा मनः शुद्धि करनी चाहिए। यदि मन को धो-पोंछकर शुद्ध करना है तो मन की स्वाभाविक मैल जो कामना है उसका अन्त करना होगा। इसलिए भागवत में कहा गया है कि प्रकृत शुद्धि स्नान इत्यादि बाह्यक्रियाओं के द्वारा सम्पन्न नहीं होगी, बल्कि इसके लिए कर्म अथवा कर्मफल में पूर्ण अनासक्ति[51] का होना आवश्यक है। और चूंकि ब्रह्मचर्य कामना को विनष्ट करने का एक उपाय है, इसलिए महाभारत में ब्रह्मचर्य[52] को शौचाचार कहा गया है। अन्य स्थानों[53] पर और भी व्यापक रूप से मानसिक सुकृत को आभ्यन्तर शौच कहा गया है। इसका उपादान सभी जीवों के प्रति कल्याण की कामना, सत्य का आश्रय, सरलता, व्रत-उपवास, ब्रह्मचर्य, दम तथा शम है।[53]

देकर कर्मफल से निष्कृति प्राप्त करते हैं। पशुबलि के द्वारा शान्ति अथवा ईश्वर का अनुग्रह दोनों में से कोई भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

49. शा० (क० १)-'मनः शुद्धिरान्तरम्। तदध्यात्मविद्या लभ्यम्'। इस प्रकार की पवित्रता के द्वारा ही ब्रह्मपद प्राप्त किया जाता है [क० (१/३/८)-'यस्तु···सदा शुचिः'] ।
50. यो० या० (१/६८-६९)-'मनशुद्धिश्च···वांग्मनसादिभिः'।
51. भा० (११/१९/३८)-'कर्मस्वसंगमः शौचं···उच्यते'।
52. महा० (अनु० १४५/अ० ९१/११८)-'ब्रह्मचर्य्यं परं शौचं···केवलं ब्रह्मचर्य्येण प्राप्यते परमं पदम्'।
53. महा० (अनु० १४५/अ० ११/४९, ६२)-'सुखाभिसन्धिर्लोकानां···मानसं सुकृतं यत् तच्छौचमाभ्यन्तरं स्मृतम्'।

पतंजलि के अनुसार शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की शौच साधनाएँ सफल होने पर साधक को दो प्रकार के फल की प्राप्ति होती है—(क) शरीर के प्रति घृणा[54]; (ख) मन की प्रफुल्लता, एकाग्रता तथा सत्त्वशुद्धि।[55] जब अन्तर निर्मलता के आलोक से प्रकाशमान हो उठता है तब अपना या दूसरे का रक्तमांस का पिण्ड यह शरीर तुच्छ प्रतीत होता है। तब यह धारणा दृढ़ होती है कि, आत्मदर्शन ही एकमात्र लक्ष्य है। साधक आन्तः शुद्धि के द्वारा योग्यता अर्जित कर स्वयं को पूर्णतया उसी दिशा में संयोजित करेगा। अतः देखा जा रहा है कि, बाह्यशौच का अर्थ किसी प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधन की साधना नहीं है।

दूसरी ओर, चित्त जबतक आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—इन तीन प्रकार के दुःखों अथवा व्याधियों के द्वारा विक्षुब्ध रहता है, तबतक उस अव्यवस्थित चित्त में आत्मस्वरूप का दर्शन करना संभव नहीं है। जिसका चित्त प्रसन्न है, उसे किसी भी प्रकार के दुःख विचलित नहीं कर सकते। अतः उसको बुद्धि या प्रज्ञा भी स्थिर हो आत्मदर्शन के योग्य हो जाती है।[53-57]

प्रश्न यह है कि, चित्त की शान्ति को प्राप्त करने का उपाय क्या है?

किस प्रकार के चिन्तन से मानसिक आनंद या चित्त प्रसाद उत्पन्न हो सकता है इस विषय में पतंजलि ने चार प्रकार के चिन्तन का उल्लेख[56] किया है—सबके प्रति बन्धुत्व की भावना रखना;

54. पा० यो० (सा० ४०)-'शौचात्...परैरसंसर्गः'
55. पा० यो० (सा० ४१)-'सत्त्वशुद्धिः...आत्मदर्शनयोग्यत्वानि च'।
56. पा० यो० (स० ३३)-"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां...चित्तप्रसादनम्'।
57. गी० (२/६५)-'प्रसादे सर्वदुःखानां...बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'।
58. गी० (२/६१)-'वशे ही यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'; (२/६४)-'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति'।

दीनों के प्रति दयावान होना, दूसरे के सत्कर्मों को देख प्रसन्न होना, तथा असत्कर्म या पापकर्म करने पर, उससे उत्तेजित अथवा क्षुब्ध न हो उसकी उपेक्षा करना। इन भावनाओं का अवलंबन करने पर चित्तवृत्तियां संयत हो प्रशान्ति लाएँगी।

गीता ने और भी व्यापक रूप से कहा है—चित्तशान्ति प्राप्त करने का उपाय है 'स्थितप्रज्ञ' होना अर्थात् इन्द्रियों को वश में करना।[58] तथा इन्द्रियों को वश में करने के लिए विषयवस्तुओं के प्रति आसक्ति (राग) एवं अप्रिय वस्तुओं के प्रति द्वेष की भावना का परित्याग करना होगा[59] ; क्योंकि प्रिय विषयों के प्रति आसक्ति अथवा अप्रिय विषयों के प्रति द्वेष से ही काम, क्रोध, मोह, भय, उद्वेग इत्यादि इन्द्रियविक्षोभ जन्म लेते हैं एवं असंयत इन्द्रियाँ प्रज्ञा को तूफान में फँसी नौका की भाँति विक्षिप्त करती हैं।[60] जिसे इष्ट की प्राप्ति पर हर्ष एवं अनिष्ट की प्राप्ति पर दुःख नहीं होता[61], जो सभी प्रकार की कामनाओं को अपने अन्तर से दूर करने में समर्थ हुए हैं, वे 'आत्माराम' हैं, क्योंकि वे अपनी आत्मा से ही संतुष्टि प्राप्त करते हैं। इसप्रकार के व्यक्ति 'स्थितप्रज्ञ' या 'स्थितधी' हैं तथा वे 'निर्भय', 'निस्पृह' और 'निरहंकार' होकर शान्ति प्राप्त करते हैं।[62-63]

संतोष :

'संतोष' का अर्थ यही है कि, केवल जीवन धारण के लिए जब जितना मिल जाए उसी में संतुष्ट रहना। मानव के अभावों का अंत नहीं है और उस न मिटने वाली वासना की पूर्ति करने में असमर्थ होने के कारण ही दुःख उत्पन्न होते हैं। इसलिए समाहित एवं सुखी होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि, बिना मांगे जितना

---

59. गी० (२/६४)-'रागद्वेषवियुक्तैस्तु···चरन्'।
60. गी० (२/६२-६३)-'ध्यायतो विषयान् पुंसः···बुद्धिनाशात्, प्रणश्यति' ; (२/६७)-इन्द्रियाणां हि चरतां···वायुर्नावमिवाम्भसि'।

प्राप्त हो उसी पर संतुष्ट हो जाना। इसलिए संतोष केवल राजयोग[63] में ही नहीं बल्कि भक्ति[65] अथवा अन्य योगों[66] में भी आवश्यक है।

तपस्या :

जिस वेद में कहा गया है कि, तपस्या के द्वारा ब्रह्म को नहीं प्राप्त किया जा सकता[67], वही वेद पुनः कहते हैं कि, तपस्या के द्वारा ही ब्रह्म को जानने का प्रयास करना होगा।[68]

इन दोनों प्रकार की उक्तियों में मूलतः कोई भी विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों उक्तियाँ आध्यात्मिक जीवन के दो विभिन्न स्तरों के साथ संयुक्त हैं। एकाग्रता तथा चित्तशुद्धि के लिए तपस्या की आवश्यकता पड़ती है ;[69] अतः इसे ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा[70] या पादसमूहों का अन्यतम कहा गया है। इसीलिए तपस्या, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा का पालन नहीं करने पर शिष्य को गुरु से ब्रह्मविद्या के प्रथम पाठ का भी अधिकार नहीं मिलता था।[71] जबतक ब्रह्म-जिज्ञासा का समाधान नहीं हो जाता, तबतक ब्रह्म क्या है इसे जानने के लिए तपस्या करते रहना होगा।[68] लेकिन केवल तपस्या के द्वारा ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मप्राप्ति संभव नहीं है। ब्रह्मदर्शन ब्रह्म की

---

64. पा० यो० (सा० ३२, ४२)-शौचसन्तोष···सुखलाभः' ।
65. गी० (१२/१४)-'संतुष्टः सततं योगी···प्रियः' ।
66. गी० (४/२२)-'यदृच्छालाभसंतुष्टो···न निबध्यते' ; यो० या०-'यदृच्छालाभतो नित्यं···संतोषं सुखलक्षणम्' ।
67. मु० (३/१/८)-'नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' ।
68. तै० (३/२-४)-'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ; श्वे० (१/१५)-'तपसा योऽनुपश्यति' ।
69. मु० (३/१/५)-'सत्येन लभ्यस्तपसा···क्षीणदोषाः' ।
70. के० (४/८)–'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा···सत्यमायतनम्' ।
71. प्रश्न० (१/२)-'तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया···वक्ष्याम इति' ।

कृपा से ही साध्य है।[72] फिर भी ज्ञान-वैराग्य से युक्त तपस्या के द्वारा उस कृपा प्राप्ति की योग्यता अर्जित की जा सकती है।[73] अतः ब्रह्मप्राप्ति के लिए तपस्या तथा ईश्वरानुग्रह दोनों की ही आवश्यकता है।[74] उस कृपा की प्राप्ति के लिए तपस्या एक उपाय है। एकाग्रताहीन अशान्त व्यक्ति निश्चित रूप से ब्रह्मप्राप्ति या आत्मज्ञान की आशा नहीं कर सकते।[75]

तपस्या शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है, किसी प्रकार के संकल्प या व्रत की चर्या अथवा साधन। ब्रह्माण्ड सृष्टि के मूल में भी स्वयं ब्रह्म का तप अथवा संकल्प है।[76] यह तपस्या ज्ञानमय है।[77] इसलिए ब्रह्म को जानने के लिए भी तपस्या को आवन्यकता है।[78] यह ठीक है कि तपस्या का अभिप्राय साधारणतः चांद्रायण इत्यादि शारीरिक क्लेशपूर्ण साधन समझा जाता है। परन्तु व्यापक अर्थ में तपस्या एक सम्पूर्णतः नियमों पर आधारित या विधिवद्ध एकनिष्ठ आचरण है, जिसके द्वारा साधक के शुद्धिकरण का कार्य सम्पन्न होता है तथा ब्रह्मप्राप्ति के संकल्प को साधना सुगम हो जाता है। इसी आशय से नारायणोपनिषद् [(ख) १०] ने तपस्या के तात्पर्य में ऋत, सत्य, शम, दम, दान, यज्ञ तथा ब्रह्मोपासना तक को समाया है। अवश्य ही यहाँ भी अधिकार भेद या स्तर भेद है। गृहस्थ के लिए इन्द्रिय-

72. क० (१/२/२३) ; मु० (३/२/३)-'नायमात्मा···यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' ; श्वे० (६/२१)-'तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म···विद्वान्···'।

73. मु० (३/२/४)-'एतैरुपायैर्यतते···विशते ब्रह्मधाम'।

74. श्वे० (६/२१)-'तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च···'।

75. क० १/२/२४)-'नाशान्तमानसो···आप्नुयात्'।

76. मु० (१/१/८)-'तपसा चीयते ब्रह्म···' ; ऐ० (१/१/४ ; १/३/२)-'तमभ्यतपत्···' (तै० २/६/३)–'स तपोऽतप्यत···सर्वमसृजत···'।

77. मु० (१/१/६)-'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः···जायते'।

78. योगी याज्ञवल्क्य में इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है [यो० या० (२/२-'कृच्छ चांद्रायाणादिभिः···तप उत्तमम्']। लेकिन केवल

संयम ही तपस्या है, वाणप्रस्थी तथा सन्यासी की तपस्या है, भिक्षा-वृत्ति ग्रहण द्वारा अपने आश्रम विहित निवृत्ति मूलक कर्मों को करते जाना।

भक्ति पथ में भो तपस्या अपरिहार्य है; क्योंकि अहंकार का विनाश नहीं होने पर ईश्वर से गहरा एवं निस्वार्थ प्रेम नहीं किया जा सकता एवं इस अहंकार को त्यागने का एकमात्र उपाय है तपस्या का विविध प्रकार अनुष्ठान।[80]

जो भी हो पूर्ण रूप से शुद्ध होने के लिए शरीर, मन तथा वाणी, तीनों के द्वारा तपस्या के त्रिविध सोपानों पर अग्रसर होना होगा। इन त्रिविध तपस्याओं की व्याख्या गीता में की गयी है। (क) शारीरिक तपस्या—देवता, ब्रह्मज्ञ, गुरु तथा प्राज्ञों की पूजा एवं शौच (शारीरिक शुद्धि), सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा है।[81] (ख) मानसिक तपस्या—चित्त की प्रसन्नता, वाणी-संयम, आत्मसंयम या मनोनिग्रह, भाव शुद्धि तथा निष्कपट व्यवहार है।[82] (ग) वाचिक तपस्या-स्वाध्याय,[83] एवं अकर्कश, सत्य, प्रिय तथा हितकर भाषण।[84]

इन तीनों तपस्याओं के साधनाकाल में योगियों को अशुद्धि

दैहिक कृच्छसाधना रूपी अत्यन्त उग्र तपस्या को गीता में 'असुर' की संज्ञा से अभिहित किया गया है, क्योंकि इससे शरीर में विद्यमान आत्मा को केवल कष्ट ही दिया जाता है [गी० (१७/६)-'कर्षयन्तः···आसुर-निश्चययान्' ; भा० (६/१६/४२)-'···स्वद्रोहात् तव कोपः···']

79. मु० (१/२/११)-'तपः श्रद्धे···भैक्षचर्यां चरन्तः']।
80. भा० (५/५/१)-'तपो दिव्यं···ब्रह्मसौख्यस्तवनन्तम्' ; (५/५/६-१०)-'यदा मनो हृदयग्रन्थिरस्य···तपसेहानिवृत्त्या ; १०/४७/२४—'दान व्रत तपो···कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते'।
81. गी० (१७/१४)—'देवद्विज···शारीरं तप उच्यते'।
82. गी० (१७/१६)-'मनः प्रसादः मानसमुच्यते'।
83. तै० (१/६)-'स्वाध्यायप्रवचने···तद्धि तपस्तद्धि तपः'।
84. गी० (१७/१५)-'अनुद्वेगकरं···वांग्मयं तप उच्यते' ; मनु० (४/१३८)-'···न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'।

विनाश हेतु दूरदर्शन दूरश्रवण इत्यादि नानाप्रकार की आसाधारण शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[85] लेकिन मोक्षार्थी के लिए तो उसी में भूल जाना उचित न होगा। उनका उद्देश्य ब्रह्मप्राप्ति है, इस तथ्य को सदैव ध्यान में रखने के लिए ही प्रत्येक तपस्या की क्रिया के आरंभ में ही ॐ शब्द का उच्चारण करने का विधान है।[86] अन्य किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा[87] से विरत होकर दंभ, मोह आदि का परित्याग कर इस त्रिविध तपस्या का अनुष्ठान करने पर यह तपस्या मोक्ष के मार्ग पर पहुंचाएगी।[88] इसप्रकार की श्रद्धायुक्त सर्वांगीण तपस्या के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्ति का प्रयास करने पर अंत में अमृतत्व की प्राप्ति की जा सकती है।[89] अज्ञानियों के लिए यह संभव नहीं है।[89] सत्य ब्रह्मचर्य तथा तपस्या के द्वारा जिन्होंने चित्त को निष्कलुष कर लिया है, वे ही अपने हृदयाकाश में विद्यमान ज्योतिर्मय आत्मा के दर्शन में सक्षम हो पाते हैं[90] एवम् अमृतलोक को प्राप्त करते हैं।

वाणी संयम तथा मौन :

यह कहा गया है कि वाणी पर संयम रखना मानसिक तपस्या का एक अंग है। एकाग्र एवं आत्मकेन्द्रित न हो पाने पर हृदयाकाश में परमात्मा का दर्शन नहीं किया जा सकता। अधिक बोलने पर शक्ति तथा समय का अपव्यय भी होता है। इसलिए मुमुक्षु साधक को मितभाषी (कम बोलने वाला) बनने अथवा ब्रह्म के अलावा

85. पा० यो (सा० ४३)-'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः'।
86. गी० (१७/२४)-'तस्मादोमित्युदाहृत्य···ब्रह्मवादिनाम्'।
87. गी० (१७/२५)-'तदित्यनभिसंधाय फलं···मोक्षकांक्षिभिः।'
88. गी० (१७/१७)-'श्रद्धया परया तप्तं···परिचक्षते'।
89. प्रश्न० (१/१०)-'···तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया···एतदमृतमभयम्···एष निरोधस्तदेष··· ।'
90. मु० (३/१/५)-'सत्येन लभ्यस्तपसा···क्षीणदोषाः'; श्वे० (१/१५)-'सत्येनैनंतपसा योऽनुपश्यति।'

अन्य किसी भी विषय पर वाणी संयम का उपदेश दिया है।[92] इसी कारण से भक्तियोग में भी वाक्संयम अपरिहार्य है।[93]

वाणी पर संयम तथा ब्रह्मज्ञान के मार्ग में कुछ दूर अग्रसर होने पर साधक मौन[94] हो जाते हैं, क्योंकि तब वे अपनी आत्मा से ही सभी प्रकार के आनंद प्राप्त कर लेते हैं। इस अवस्था के साधक को आत्मक्रीड़[94], आत्मरतिमग्न[94] आत्माराम[95] अथवा अन्तराराम कहा जाता है।[96]

विषय-वासनाएँ ही चित्त को विक्षिप्त करती हैं। उन विषय-वासनाओं का उद्गम स्रोत है परमात्मा व इन्द्रियग्राह्य संसार में भेद बुद्धि। परन्तु यदि यह ज्ञान दृढ़ हो जाये कि, सभी प्रकार के विषय अनित्य हैं, परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है, तथा भूमानंद केवल उसी अद्वैत आत्मा से ही प्राप्त हो सकता है, तो फिर उस व्यक्ति के लिए किसी और से बोलचाल की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?[97] जिन्होंने उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द की चिंता भी नहीं करेंगे।[98] अन्य सभी वाक्यों का परित्याग कर

---

91. प्रश्न० (१/१५)-'तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो···प्रतिष्ठितम्।'
92. गी० (१८/५२)–'विविक्तसेवी···यतवाक्कायमानसः···'; ना० प० (३/३९)यस्य वांग्मनसि···सम्यग् गुप्ते च सदा।'
93. भा० (३/२७/५-७)-'भक्तियोगेन···ब्रह्मचर्येण मौनेन···'; (५/५/१२)-'···यमेन वाचाम्'।
94. ना० प० (३/५९)-'न हि केन सहालपेत्···'; गी० (१२/१९)—'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी···'।
95. ना० प० (५/२४-२५)-'न कुर्यान्न वदेत् किंचित्···आत्मारामः···आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्'; मु० (३(१/४)-'···विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः···वरिष्ठः'।
96. गी० (५/२४)–'योऽन्तः सुखोऽन्तरारामः'···।
97. श० वि० (५२१-५२७)-'ब्रह्मप्रत्ययसंन्ततिः···नास्ति निर्वासनान् मौनात् ···स्वानन्द रसपायिनः।

केवलमात्र 'ॐ' शब्द का अवलंबन कर साधक आनद तथा अमृतस्वरूप आत्मा का ध्यान करेंगे जिससे कि वे इस तमावृत संसार-सागर को पार कर सकें।[99]

एकदण्डी सन्यासी के लिए मौन का अवलंबन करना आवश्यक कर्त्तव्य है।[1]

स्वाध्याय :

वेदाध्ययन तथा आवृत्ति को स्वाध्याय कहा जाता है। इसका व्युत्पत्तिगत अर्थ है स्वयं पाठ करना। उपनिषद के अनुसार, आत्म-दर्शन के लिए श्रवण, मनन तथा ध्यान, क्रमशः इन तीनों उपायों का अवलंबन करना होगा[2]। सर्वप्रथम आचार्य शास्त्रकारों ने जो कहा है उसका श्रवण कर बार-बार उसमें मन को एकाग्र करना होगा। इसप्रकार से मन स्थिर होने के उपरांत आत्मा का एकाग्रचित्त हो ध्यान करने पर चित्तरूपी दर्पण में परमात्मा प्रतिबिंबित होते हैं। इसीलिए राजयोग में स्वाध्याय ईश्वर-प्रणिधान का पूर्ववर्ती सोपान है।[3] गीता में कहे हुए ज्ञानयोग में भी[3] इसे एक चरण माना गया है; क्योंकि, बार-बार शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा संदेह दूर हो ब्रह्मज्ञान में निष्ठा या एकाग्रता उत्पन्न होती है।[4] दैवी सम्पदाएँ

---

98. वृ० (४/४/२१)-'तमेव धीरो विज्ञाय···नानुध्यायाद् वहुन् शब्दान्···'; मनु० (६/४२-४३)—'एकएव चरेन्नित्यं···मुनिर्भ्रावसमाहितः।

99. मु० (२/२/५-६)·'तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुंचथ··· ओमित्येवं ध्यायथ···'।

1. ना० प० (४/२४)—'मौन···एकदंडिनाम्'; (५/३७)—सर्वत्र विचरन्मौनी···।'
2. वृ० (२/४/५—,···आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः···'।
3. पा० यो० (सा० ३२)—'···स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि'···; (सा०४४) —'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः'।
4. गी० (४/२८)—'···स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च···संश्रितव्रताः'; (१७/१५) —'...स्वाध्यायाभ्यसनंचैव वांग्मयं तप उच्यते'।

मोक्षप्राप्ति के साधन हैं, तथा पूर्व कर्मों की सुकृतियों के अनुसार जो दैवी सम्पदाएँ साधक को प्राप्त होती हैं, उनमें स्वाध्याय भी एक है। शास्त्र विरुद्ध कार्यों से सिद्धि नहीं प्राप्त होती, बल्कि शास्त्र-विहित कर्म ही मोक्षप्राप्ति में सहायक होते हैं। इसलिए ब्रह्मज्ञान न होने तक शास्त्रों का अध्ययन करना एक आवश्यक कर्त्तव्य है।

केवलमात्र शास्त्राध्ययन या विद्यार्जन के द्वारा ब्रह्मदर्शन संभव नहीं है, यह उपनिषदों में बार-बार कहे जाने पर भी, मूर्ख या जड़ के लिए यह सहजतर है—इस प्रकार का इंगित कहीं भी नहीं किया गया है। परन्तु, यह कहा गया है कि, प्रज्ञान या 'स्मृतिलंभ' को तैयारी या ज्ञाननेत्र[6] अर्जन के लिए वेदाध्ययन एक विशेष उपकरण है। बुद्धिहीन व्यक्ति की धारणा तथा स्मरण शक्ति की दुर्बलता के कारण ब्रह्मज्ञान असंभव है। इसलिए ब्रह्मविद्या की कामना करने वाले को बुद्धि या मेधा की कामना कर जप करने को कहा गया है[7]। जिस आरुणय उपनिषद् ने संन्यासी को वैदिक क्रिया, मंत्रादि तथा स्वाध्याय जो (प्रवृत्तिमार्ग में स्वर्गप्राप्ति का सहायक है) का परित्याग करने को कहा है, उसी उपनिषद् में वेद के आरण्यक भाग या उपनिषद् की आवृत्ति का निर्देश दिया गया है[8]। दूसरी ओर, मनु (३/८१) गृहस्थ के आवश्यक कर्त्तव्य पंचयज्ञ में स्वाध्याय को 'ऋषियज्ञ' के रूप में अभिहित किए हैं। इसी की व्याख्या करते हुए शिक्षोपनिषद्[9] ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले शिष्यों के

---

5. गी० (१६/१, ५)—'अभयं···स्वाध्यायस्तप···दैवी सम्पद्विमोक्षाय···'; (१६/२३-२४)—'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य···तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं···'।
6. अ० वि० (२१)—ज्ञाननेत्रं···स्मृतम्'।
7. तै० (१/४/१)—'स मन्द्रो मेधया स्पृणेतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्···'।
8. आ० (२/१)—'...सर्वेषु वेदेषु आरण्यकमावर्त्तयेत्···उपनिषदमावर्त्तयेदिति'; ना० प० (५)—'नाध्येतव्यो···महद्वाचोविग्लापनं।'
9. तै० शि० (१/६; १/११/१)—'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च···स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यान्न प्रमदितव्यम्'।

लिए जिन कर्मों को सदा अपरिहार्य कहा है, उनमें सत्य, तपस्या, शम, दम, स्वाध्याय (वेदाध्ययन) तथा प्रवचन (शास्त्रीय अध्यापन) है ; क्योंकि ये सभी कर्म चित्त को शुद्ध कर गृहस्थ को ब्रह्मज्ञान के योग्य बनाते हैं।

भक्ति पथ के अनुसार, अनन्या भक्ति के अतिरिक्त, स्वाध्याय तपस्या इत्यादि किसी भी क्रिया के द्वारा भगवान् की प्रसन्नता नहीं प्राप्त की जा सकती[10]। फिर भी गृहस्थों को वेदाध्ययन और पंचयज्ञ के अन्तर्गत अन्य उपायों का भी अनुसरण करने का उपदेश दिया गया है[11]। तो क्या दोनों तत्वों के बीच कोई विरोध है ? भागवत् में ही इस संशय का समाधान किया गया है। जो कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते या जानना ही नहीं चाहते, सर्वत्र एवं सभी पदार्थों में वासुदेव का दर्शन करते हैं, उनके लिए शास्त्रों के अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? लेकिन वह तो बहुत दूर की बात है। सर्वत्र ब्रह्मदर्शन के शीर्षस्थान पर आरोहण करने पर ज्ञानमार्गी के लिए भी अध्ययन, मंत्र इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती यह हम पहले हो कह चुके हैं। परन्तु सर्वत्र ब्रह्मदर्शन की तैयारी के लिए 'नियम' के द्वारा ही शरीर तथा मन को संयमित एवं नियंत्रित करना होगा।[12] और भी विस्तृत रूप से कहा गया है कि पंचयज्ञ का पालन करते समय गृही इन यज्ञों के भोक्ताओं[13] की अर्चना भगवान् का ही विभिन्न रूप समझ कर करेंगे। उदाहरणस्वरूप, ऋषियों को अथवा प्राणियों को भगवान् की ही प्रतिमूर्ति

10. भा० (११/१४/२०-२३)—'न साधयति···न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो··· विनाशय:'।
11. भा० (११/१७/५०)—'वेदाध्याय देवर्षि-पितृ-भूतानि मद्रुपाण्यन्वहं यजेत्।'
12. भा० (११/१७/३५)...'सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमं···मद्भाव: सर्वभूतेषु ···कायसंयम:।'
13. मनु० (३/८१)—'स्वाध्यायेनार्च्चयेतर्षीन्···बलिकर्मणा'।

या प्रतिरूप मानकर, वेदाध्ययन या अन्न इत्यादि के उत्सर्ग द्वारा अर्चना करेंगे।[11] इस प्रकार के अभ्यास के द्वारा ही ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न भक्ति का जन्म होता है[14], अर्थात् सर्वभूत में वासुदेव ही स्थित हैं, इसप्रकार का दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है। लेकिन ज्ञान-मार्ग में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की उपलब्धि करने में जिसप्रकार से जन्मजन्मांतर की तपस्या की आवश्यकता है, उसी प्रकार भक्तिमार्ग में 'वासुदेवः सर्वमिति'[16] ऐसी दृष्टि का अधिकारी होने के लिए अनेक जन्म साधना करने की आवश्यकता पड़ेगी। उतने दिनों तक स्वाध्याय, तपस्या इत्यादि यज्ञों के द्वारा पूर्वजन्मकृत दुष्कर्मों को भस्म करना होगा।[17-18]

इसका मौलिक कारण यह है कि, हिन्दू धर्म में अन्धविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है। जबतक सभी संदेहों का समाधान हो चित्त शान्त नहीं हो जाता तबतक शास्त्रीय उपदेश, शुद्ध बुद्धि, विवेक एवं विचार की सहायता[19] से उस हृदय-कन्दरावासी अन्तर्यामी को पाने के लिए निरंतर प्रयासरत रहना होगा। उपनिषद् आदि का अध्ययन इस विचार बुद्धि को जगाकर अविद्या के जाल को विनष्ट करने में सहायता प्रदान करता है, जिसके परिणामस्वरूप एकात्म ज्ञान या अपने स्वरुप की उपलब्धि होती है तथा स्वयं के हृदय में स्थित ब्रह्म अभिव्यक्त होते हैं। इसलिए ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मदर्शन हेतु स्वाध्याय एक नितान्त आवश्यक सोपान है।

ब्रह्मोपासना के अतिरिक्त मोक्ष पाना संभव नहीं होने के कारण

14. भा० (११/१६/३, ५)-'ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः···भक्तिभावितः।'
15. भा० (११/१६/२०-२१)-श्रद्धामृतकथायां···सर्वभूतेषु मन्मतिः।'
16. गी० (७/१६)-'बहुनां जन्मनामन्ते···वासुदेवः सर्वमिति···सुदुर्लभः।'
17-18. गी० (१८/५)...'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'।
19. श्वे० (४/१७)-'हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुः···'; (४/२०)-'हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुः···'।

उपनिषदों ने यज्ञ, दान तथा अध्ययन को 'धर्म के प्रथम स्कंध'[20] की संज्ञा दी है। अर्थात् ये सभी पुण्य कार्य ब्रह्मप्राप्ति के प्रथम सोपान स्वरूप होने के कारण चित्तशुद्धि कारक हैं। इसलिए उपनिषदों का अध्ययन तथा आवृत्ति गृही के लिए सत्य, दम तथा शम जैसे ही आवश्यक कर्त्तव्य बताए गए हैं।[21] जिस किसी भी आश्रम में क्यों न हों, उपनिषद् का अध्ययन योगोन्मुख किसी भी हिन्दू के लिए निषिद्ध नहीं है; क्योंकि, वह ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मचिन्तन को प्रतिपादित करता है। इसलिए उपनिषदों में ही आचार्यों ने शिष्यों को कहा है कि अध्ययन एवं अध्यापन कभी भी वर्जनीय नहीं है।[21]

पहले ही कहा गया है कि स्वाध्याय मानव शरीर को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाता है। इसी कारण[22] मनु ने स्वाध्याय को 'पंचयज्ञों' में अन्यतम कहा है।[23] पुराण में भी कहा गया है कि, स्वाध्याय का अभ्यास योग के परिपूरक के रूप में करने पर परमात्मा साधक के समक्ष प्रकट होते हैं।[24]

ब्रह्मज्ञान न होने तक स्वाध्याय ही तपस्या है। परन्तु ब्रह्मनिष्ठ हो कर सर्वत्यागी सन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर स्वाध्याय की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि वे तो सदा के लिए ही वेदों के आराध्य ब्रह्म से युक्त हो गए हैं।[25] फिर अध्ययन की क्या

---

20. छा० (२/१२/१)-'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति···अमृतत्वमेति'।
21. तै० (१/६)-'स्वाध्याय-प्रवचने एवेति···तद्धि तपस्तद्धि तपः'; (१/११/१)-'···स्वाध्याय···प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'।
22. मनु० (२/२८)-'स्वाध्यायेन···ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'।
23. 'ऋषियज्ञ' [मनु०-३/८१], को 'ब्रह्मयज्ञ' भी कहा जाता है [गरुड़पुराण, पू० ९६/१३]।
24. विष्णु (६/६२)-'स्वाध्यायाद् योगमादीत···प्रकाशते'।
25. मनु० (६/३७-८)–'अनधीत्य···प्रव्रजेत् गृहात्; (६/४९)-'अध्यात्मरतिरासीनो···विचरेदिह'।

आवश्यकता है ? दूसरी ओर, श्रुति निहित शब्द ब्रह्म का अभ्यास नहीं करने पर परब्रह्म का ज्ञान या आत्मज्ञान का क्षेत्र तैयार नहीं होगा।[26] आत्मज्ञान का उदय होते ही साधक सभी ग्रन्थों तथा शाब्दिक ज्ञान का परित्याग कर ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रवृत्त हो जाएंगे।[27]

स्वाध्याय रूपी तपस्या में एक शास्त्रीय अवरोध है। वह यही है कि, मनु संहिता में स्वाध्याय को ब्राह्मणों का कार्य कहा गया[28] है, एवं शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं दिया गया है।[29] लेकिन वर्तमान समय में किसी भी वर्ण के हिन्दू के लिए यह बाधा स्वाध्याय की अवरोधक नहीं बन सकती।[30] यह केवल उनके तर्कों का उपादान है जो पानी में उतरे बिना ही तैरने के विषय पर खोज करना चाहते

26. ब्र० वि० (१७)-'द्वे विद्ये···शब्दब्रह्मणिनिष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'।
27. ब्र० वि० (१८-२१)-'ग्रंथमभ्यस्य···त्यजेद् ग्रंथमशेषतः···घृतमिव पयसि निगूढं···तद्ब्रह्माहमिति···'; मुक्ति (१/५६)-'मुमुक्षवः···अष्टोत्तरशतोपनिषदं विधिवदधीत्य···कैवल्यमुक्तिरिति'।
28. मनु० (१/८८)-'अध्यापनमध्ययनं···ब्राह्मणानामकल्पयत्'; (२/२८)-'स्वाध्यायेन···ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'; (२/१६६) 'वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः···'।
29. मनु० (१०/१)—' अधीयीरंस्त्रयो वर्णा स्वकर्मस्था द्विजातयः'।
30. इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि, वर्तमान के बंगला भाषा में प्रकाशित सुलभ एक वेद तथा उपनिषद ग्रंथमालाके प्रकाशक एक ऐसे धर्मावलंबी हैं, जो अपने मत के अतिरिक्त अन्य किसी भी धर्ममत को मान्यता नहीं देते। इस प्रकाशक की उदारता के लिए सम्पूर्ण हिन्दू समाज को उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, तथा जो धनवान हिन्दू अपने धर्म के विश्वजनग्राह्य शास्त्रों की पर्याप्त जानकारी नहीं रखते, वे यदि इस विधर्मी प्रकाशक के पदह्लिचों का अनुसरण कर बंगला तथा अंग्रेजी अनुवादसहित और भी सुलभ संस्करणों में प्रकाशित कर वेद को विश्व के प्रत्येक मानव के घर-घर में पहुंचा दे, तो फिर केवल मानव कल्याण ही नहीं, बल्कि वे इस ब्रह्मयज्ञ को पालन के लिए अपनी आत्मा की सद्गति की व्यवस्था करने में भी सक्षम होंगे।

हैं। क्योंकि वेद तथा उपनिषदों की छपी पुस्तकें आजकल बिकने वाली वस्तुओं में अन्यतम हैं ; और उन्हें कोई भी पढ़े तो उसे किसी प्रकार का शास्त्रीय या सामाजिक अनुशासनों का भय नहीं है।

शूद्रत्व :

इसी कारण से ही क्यों शूद्रों के लिए वेद पाठ वर्जित था—इस प्रकार के तर्क-वितर्क वाले प्रश्नों की विवेचना इस पुस्तक में करना व्यर्थ समझता हूँ। फिर भी कुछ स्थूल तथ्यों का ध्यान में रखने पर धर्म विमुख हिन्दुओं के संदेह का समाधान हो सकता है।

(क) वृत्तियों के अनुसार जातियों का वर्गीकरण एक सामाजिक व्यवस्था है।[31] हिन्दूधर्म के सारतत्त्वों में इसे नहीं गिना जा सकता। उस समय के ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिवेश के अनुसार, प्रत्येक धर्म में ही इसप्रकार के थोड़े बहुत सामाजिक संस्कार हैं, जो उन धर्मों से सम्बद्ध समझे जाने पर भी उनकी मर्मवाणी के रूप में नहीं गिने जाते। यदि ऐसा ही होता तो फिर कैथोलिक-प्रोटेस्टेन्ट

---

31. ग्रंथकार के मतानुसार आश्रमों का विभाजन धर्मीय तत्व है। हिन्दूधर्म द्वारा निर्देशित मार्ग से देवत्व प्राप्त करने के लिए इन आश्रमों के माध्यम से निवृत्ति की शिक्षा ग्रहण करना अत्यत्त आवश्यक है। लेकिन, किसी भी समाज में वृत्ति विभाग (श्रम विभाजन) या Division of Labour अर्थनैतिक कारणों से आवश्यक है ; उदाहरणार्थ, याजक, योद्धा, समाज सेवी इत्यादि श्रेणी विभाग ईसाई समाज में भी हैं। चूँकि ये विभाजन तात्कालिन समाजिक तथा अर्थनैतिक समस्याओं के समाधान की आवश्यकता के अनुसार निर्मित हुआ, इसलिए युग परिवर्तन के साथ उस समाज की पटभूमिका भी परिवर्तित होने के कारण, आदिम समाज व्यवस्था में सुधार की भी आवश्यकता होती है। आज चर्मव्यवसाय अथवा उसी के अनुरूप व्यवसाय में अनेक ब्राह्मणों की सन्तानें भी उदरपूर्ति के लिए जुड़ी हुई हैं, लेकिन हिन्दू समाज ने उनका परित्याग नहीं किया अथवा कोई यह भी नहीं कह सकता है कि, उनका व्यक्तिगत आध्यात्मिक मार्ग सदा के लिए बंद हो गया है।

या शिया-सुन्नी सम्प्रदायों[32] के बीच रक्तपात वाले संघष का जन्म नहीं होता ।

(ख) यदि यह स्वीकृत है, तो फिर दूसरा प्रश्न यह है कि वैदिक समाज की आयु क्या है ? कम से कम मानने पर भी यह अब से छः हजार वर्ष प्राचीन है एवम् आधुनिककाल की गवेषणाओं के द्वारा यह और भी अधिक प्राचीन प्रमाणित हो सकता है । क्या उस युग में, मध्य प्राच्य या पाश्चात्य सभ्यता का जन्म हुआ था ? यदि हुआ था, तो उन देशों की समाज-व्यवस्था कैसी थी ? हिन्दूधर्म के वृत्तियों पर आधारित समाज व्यवस्था को हेय करने का प्रयास करने वाले तार्किकों को पहले उपर्युक्त दोनों प्रश्नों के सही उत्तर के सम्बन्ध में संदेहरहित होना होगा ।

(ग) वैदिक यज्ञों तथा मंत्रों की सफलता का आधार उनका सम्यक् अनुष्ठान तथा उसकी आवृत्ति में था । इसप्रकार का त्रुटिहीन अनुशीलन अनेक दिनों के अभ्यास की अपेक्षा रखता है । इसी कारण से समझा जाता था कि, जो परिचर्या इत्यादि के कार्य में रत हैं उनके द्वारा अकस्मात् प्रयत्न करने पर कोई भयंकर भूल हो सकती हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि इसीलिए शूद्रों को वैदिक कर्मकांडों के अधिकार से वंचित कर दिया गया । जिस मनु ने शूद्रों के लिए वेदपाठ निषिद्ध किया था, उन्होंने ही पुनः कहा है कि 'मंत्रों का वर्जन कर यज्ञ इत्यादि का अनुष्ठान करने पर शूद्र निन्दनीय नहीं बल्कि प्रशंसनीय माने जाएंगे' ।[34]

32. सन् 1983 ई० में इस्लामिक राष्ट्र पाकिस्तान को सिया-सुन्नी के संघर्ष को मिटाने के लिए गोले बारूद की सहायता लेनी पड़ी थी तथा आश्चर्य का विषय यह है कि, इस विरोध का कारण, एक ही धर्माचरण की (जैसे, मुहर्रम) अलग-अलग व्याख्या तथा-अभिव्यक्ति थी । इसके अतिरिक्त ईरान-इराक का सात वर्षों का ध्वंसात्मक युद्ध भी है, जिसे रोकने में समस्त इस्लामिक जगत् असफल रहा है ।

33. प्रथम अध्याय का टीका १ द्रष्टव्य है ।

34. मनु० (१०/१२७)-'सतां वृत्तिमनुष्ठिताः मंत्रवर्जं···प्रशंसां आप्नुवन्ति' ।

(घ) वेदों की चर्चा के लिए बहुत दिनों के अभ्यास एवं चारित्रिक शुद्धता की आवश्यता है, इसका प्रमाण हम मनुसंहिता के ही दूसरे प्रसंगों में पाते हैं। शूद्रों के अतिरिक्त अन्य तीन वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकारी कहे जाने पर भी वेद के अध्यापन का अधिकार एक मात्र ब्राह्मण को ही दिया गया है।[35] इसका कारण पूर्णत: स्पष्ट है—जो युद्धकर्म अथवा व्यापार के कर्म में रत हैं, वे वेद अध्यापन के लिए जिस ब्रह्मविद्या की आवश्यकता है उसे कहाँ से पाएंगे? दूसरी ओर वेदचर्चा और वैदिक कर्मों का अनुष्ठान तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना ही ब्राह्मणों का एकमात्र ध्येय है।[36] वे यदि वेदाभ्यास के अतिरिक्त अन्य किसी भी वृत्ति को अपनाते हैं, यहाँ तक कि जीवनधारण के लिए भी अन्य किसी विद्या का आश्रय ग्रहण करते हैं, तो फिर वे जीते जी ही शूद्रावस्था को प्राप्त करते हैं।[37] वेदाभ्यास ही ब्राह्मण की परम तपस्या है, वेदों का ज्ञान ही उनका श्रेष्ठत्व है, और इसके अभाव में वे निष्फल माने जाएंगे।[38]

(ङ) स्मृतियों के युग में शूद्रों द्वारा वेदमंत्र का उच्चारण निषिद्ध होने पर भी यह नहीं प्रमाणित होता कि उपनिषद् या ज्ञानकांड का अध्ययन निषिद्ध था।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि, उपनिषद् तत्त्व का अधिकारी होने के लिए सन्यासी को ईश्वर तथा गुरू के प्रति श्रद्धावान होना आवश्यक है; यह नहीं कहा गया है कि ब्राह्मण या द्विज के अतिरिक्त दूसरा कोई इस विद्या की शिक्षा नहीं ग्रहण कर

---

35. मनु० (१/१०३)-'बिदुषा ब्राह्मणेन···नान्येन केनचित्।'

36. मनु (१/९७-९८)–'ब्राह्मणेषु···ब्रह्मभूयाय कल्पते।'

37. मनु० (१/१६८)-'योऽनधीत्य···सान्वय:।'

38. मनु० (२/१५५)-'विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं···(२/१५८)-'विप्रोऽनृचोऽफल:'; (२/१६६)-'···वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तप: परमिहोच्यते।'

सकता[39]। वास्तव में चतुराश्रम तो चारों वर्णों की जोवन धारा थी।

(च) 'शूद्र सृष्टिकर्ता के पद से उत्पन्न हैं'[40] ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०/९०/१२) की इस उक्ति की आक्षरिक व्याख्या पर निर्भर होकर जो लोग हिन्दू धर्म के इस अपवाद का डंके की चोट पर पूरे संसार में प्रचार कर रहे हैं कि शूद्रों में निकृष्टता जन्मजात होती है, वे क्या भगवत् निःसृत गीता की इस वाणी को कभी नहीं सुने हैं[41] कि, "गुणों तथा कर्मों के अनुसार चारों वर्णों की सृष्टि मेरे द्वारा हुई है"? अठ्ठारहवें अध्याय में यह भी कहा गया है कि विभिन्न वर्णों के गुण तथा कर्म क्या हैं।[41] अतः जो शम, दम को पालते हुए अध्ययन-अध्यापन इत्पादि कर्म में रत रहते थे वे ब्राह्मण और जो शौर्य-वीर्य की शक्ति से देश की रक्षा के लिए नियुक्त रहते थे वे क्षत्रिय होते थे।[42-43] इसी तरह हर वर्ण के कर्म निर्दिष्ट हैं।

जो शूद्रोंको नीचजाति का कहकर ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[41] की दुहाई देते रहते हैं, वे इस सूक्त में वर्णित पुरुष को मनुष्य देहधारी समझते हैं, जिसके पैरों से उत्पन्न जोव निकृष्ट तो होगा ही। लेकिन उन्होंने पुरुषसूक्त के सोलह मंत्रों का एक साथ अध्ययन नहीं किया है। इस सूक्त के पहले मंत्र में ही कहा गया है कि सृष्टिकर्ता पुरुष मानव शरीरधारी या मनुष्य जैसे जोव नहीं है, बल्कि ब्रह्माण्ड रूपी एक विराट् पुरुष हैं जिनके 'सहस्त्रों मस्तक', 'सहस्त्रों नेत्र' तथा 'सहस्र पाद' हैं। और फिर अंत में कहा गया है कि, इनके मस्तक से स्वर्ग तथा चरणों से पृथ्वी का उद्भव हुआ है। इसी 'सहस्रशीर्ष', 'सहस्र-

39. श्वे० (६/२१-२३)-'...अत्याश्रमिभ्यः··· महात्मनः।'
40. ऋक् (१०/९०/१२)-'ब्राह्मणस्य मुखमासीत्···पद्भ्यां शूद्रो अजायत।'
41. गी० (४/१३)-'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः···'।
42. गी० (१८/४२-४४)-'शमो दमस्तपः'···स्वभावजम्'।
43. भा० (७/११/२१-२४, ११/१७/१६-१९)-'शमो···गोविप्ररक्षणम्'।

पाद' वाले पुरुष का माहात्म्य ही उपनिषदों में प्रतिध्वनित हुआ है[44]; तथा इनकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि उनके हाथ, पैर इत्यादि कोई भी इन्द्रिय नहीं हैं।[45] यदि ऐसा है तो फिर उनका वर्णन सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष इत्यादि के विशेषणों से करने की आवश्यकता क्या है? उत्तर है—उनकी सर्वव्यापकता को प्रतिष्ठित करना, जिसकी व्याख्या हमने तृतीय अध्याय में विस्तृत रूप से की है। वे सवभूत की सृष्टि कर उनमें ही समाहित हो गए हैं अतः ब्रह्माण्ड में स्थित सभी जीवों के नेत्र, मस्तक, हाथ, पैर सब तो उन्हीं के हैं—इसलिए वे सहस्रशीर्ष इत्यादि कहे जाते हैं।[46] और पुनः जीवात्मा के रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में छिपे हुए हैं।[47] इस कारण से ही, सृष्टिकर्ता रूपी विराट् पुरुष के शीर्ष भाग में स्वर्ग लोक, तथा चन्द्र तथा सूर्य उनकी दोनों आँखें, दिशाएँ उनके कर्ण एवं पृथ्वी उनके चरणस्वरूप हैं।[48]

तो फिर, 'पुरुषसूक्त' से शूद्रों की हीनता या जन्मगत वर्ण विभाग की धारणा करना अलीक तथा युक्तिहीन है।

क्यों तथा किस प्रकार वर्ण विभाजन हुआ था उसकी विस्तृत व्याख्या महाभारत के शान्ति पर्व[49] में है। उसके प्रत्येक वाक्य से ही पूर्वोक्त कथन के समालोचकों का स्तब्ध रह जाना स्वाभाविक है—

44. श्वे० (३/१४)-'सहस्त्रशीर्षा···सहस्त्रपात्···विश्वतो वृत्वा···दशांगुलम्' (३/१९)-'अपाणिपादः···'।
45. श्वे० (६/१९)-अपाणिपादो···महान्तम्'।
46. श्वे० (३/१६)-'सर्वतः पाणिपादन्तं···सर्वमावृत्य तिष्ठति'।
47. श्वे० (३/१३), क० (२/३/१७)-'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा···हृदये सन्निविष्टः।
48. मु० (२/१/४)-'अग्निर्मूर्धा···पद्भ्यां पृथ्वी···'।
49. म० भा० (शान्ति० १८८/१०-१५)-न विशेषोऽस्ति वर्णानां···कर्मभिर्वर्णतां गतम्···लोभात् त्वज्ञानतां गताः; भा० (११/१७/१०)-'आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति'।

१ सृष्टि के प्रारम्भ में मानव जाति के बीच किसी भी प्रकार का श्रेणी विभाजन नहीं था। सभी 'ब्रह्मा' से उत्पन्न होने के कारण सम्पूर्ण मानव जाति ही ब्राह्मण थी।

२ यजुर्वेद में भी कहा गया है कि, शूद्र इत्यादि के साथ समस्त मनुष्य जाति के लिए ही वेदवाणी की रचना हुई।[50]

३ लेकिन परवर्ती काल में समाज के क्रमिक विकास के साथ-साथ विभिन्न व्यक्तियों ने अनेक प्रकार की वृत्तियों अथवा जीवन धारण के लिए विविध प्रकार के कर्मों को ग्रहण किया।

इन सब कर्मों से ही मानव जाति के बीच श्रेणियों का विभाजन हुआ।[49] जो चिन्तन, मनन, अध्ययन, दान, अपरिग्रह, सत्यनिष्ठा, अद्रोह इत्यादि वैदिक क्रियाओं तथा सदाचार के साथ जीवन-यापन करते थे उन्हें ब्राह्मण कहा जाता ; दूसरी ओर युद्ध, प्रजा की रक्षा इत्यादि कर्मों में लगे रहने वाले व्यक्ति को 'क्षत्रिय' एवं व्यापार पशु-पालन तथा कृषि-कार्य करने वाले व्यक्ति को 'वैश्य' कहा जाता था। 'शूद्र' उन व्यक्तियों को कहा जाता था, जो वेद का परित्याग कर अज्ञानी ही रह जाते थे, लोभ के वशीभूत हो कर सभी पदार्थों का सेवन करते तथा हिंसा एवं मिथ्या का आश्रय ग्रहण कर व्याध के समान निन्दनीय जीविका को अपनाते थे।[51]

४ इस प्रकार से सदाचार हीन तथा स्वेच्छाचारी होने के कारण शूद्र के अंतः एवं वाह्य दोनों ही अपवित्र थे। और इसीलिए वे अपने कर्मों के कारण वेदाध्ययन के अनधिकारी हुए।[52] अर्थात्

50. यजुः (२६/२)-'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानिजनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय च···'।

51. म० भा० (शान्ति० १८८/१३)-'हिंसानृतप्रिया···द्विजाः शूद्रतां गताः' ; मनु० (२/१६८)-'योऽनधीत्य···स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति···'।

52. म० भा० (शान्ति० १८८/१५)-'···लोभात् त्वज्ञानतां गताः' ; १८९/७-८)-'सर्वभक्षयतिर्नित्यं त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः···ब्राह्मणः।

वृत्तियों के अनुसार वर्ण विभाजन होने के उपरान्त भी सभी लोग 'यज्ञ क्रियाओं के अधिकारी थे, लेकिन समय के साथ लोभी ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त हो वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित हो गए'।[49]

५ लेकिन यह परिचय अपने कर्मों के अनुसार ही था, जन्मगत रूप से जाति विभाजन नहीं था। कोई ब्राह्मण के घर जन्म लेकर भी यदि वेदाध्ययन का परित्याग कर इसप्रकार की हीनवृत्ति तथा भ्रष्टाचार वाला होता तो उसे शूद्र कहा जाता था[51]-[52]; दूसरी ओर किसी शूद्र में यदि सत्य, दान, दया, तपस्या इत्यादि ब्राह्मणोचित गुण लक्षित होते, तो फिर वह ब्राह्मण की संज्ञा पाता था।[53]

(छ) ब्राह्मणोचित गुणों को अर्जित कर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किसी भी जाति के लिए ब्राह्मणत्व अर्जन करना संभव था, जिसका प्रमाण अनेक शास्त्रों में मिलता है।[54] दूसरी ओर द्विजवंश में उत्पन्न अनेक

53. मनु० (११/१०२)–'वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र यत्राश्रमे वसन्···स ब्रह्म-भूयाय कल्पते'; म० भा० (शा० १८९/८)-'शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः'; (अनु० १४३/२३-२६)-'सुरापो ब्रह्महा···पतति ब्राह्मणो···एभिस्तु कर्मभिर्देवि···शूद्रो ब्राह्मणतां याति ···'।

54. भा० (७/११/३५)-'यस्य यल्लक्षणं···यदन्यत्रापि दृश्यते···विनिर्दिशेत्।'

ये दृष्टान्त काल्पनिक नहीं है इसका प्रमाण यही है कि, विभिन्न प्रकार के शास्त्रों में इनका परस्पर समर्थन किया गया है। अधिक क्या कहूँ—वेद के विभाजक तथा ब्रह्मसूत्र के प्रणेता कृष्णद्वैपायन व्यास स्वयं धीवरकन्या (मल्लाह की पुत्री-अनु०) सत्यवती की सन्तान थे (महा० आदि० ६३/६७/६८)। दूसरी ओर नारद परिव्राजक उप-निषद् (ना० प० १) तथा नारद भक्तिसूत्र के रचयिता देवर्षि नारद दासी पुत्र थे (भा० १/५/२३, १/६/६)।

ऋग्वेद के तृतीय मंडल के ऋषि विश्वामित्र क्षत्रिय राजा होकर भी तपस्या के द्वारा ब्राह्मणत्व की प्राप्ति करते हैं [वाल्मीकि-रामायण (आदि); भा० (९/९/२८)]। महाभारतोत्तर हरिवंश में नाभागा-दिष्ट दो वैश्य पुत्रों के ब्राह्मणत्व प्राप्ति का उल्लेख है।

ऋग्वेद के ९/११२ सूक्त से ही मान्य है कि एक ही परिवार में पिता तथा संतति विभिन्न वृत्तियों को ग्रहण कर सकते हैं। अतः उस समय जन्मगत रूप से जातिभेद का आविर्भाव नहीं हुआ था।

जातियाँ वेदक्रिया इत्यादि से विरत होने के कारण शूद्रत्व प्राप्त हुई हैं, इसका भी उल्लेख मनुसहिता में है।[55]

इस प्रसंग में सामवेदान्तर्गत छांदोग्य[56] जैसे आदि एवं मुख्य उपनिषद् में कहे गए सत्यकाम उपाख्यान का उल्लेख न करने पर विचार अपूर्ण ही रह जाएगा। यद्यपि इस उपाख्यान के अभिप्राय को लेकर कुछ मतभेद है, फिर भी यहाँ तक कहा जा सकता है कि, सत्यकाम अपनी माता से पूछ कर भी अपने गोत्र को तो नहीं जान पाए, उनके पिता का नाम भी अबतक नहीं जाना जा सका है। लेकिन सत्यकाम की माता ने कहा था कि, 'अनेक परिचर्या के उपरान्त अपने यौवन काल में मैं तुम्हें पाई थी, इसलिए तुम्हारे गोत्र को नहीं जान सकी'[56]। अत: सत्यकाम का दासीपुत्र होना असंभव नहीं है; यदि ऐसा न भी हो, तो भी गुरु गौतम ऋषि ने केवलमात्र सत्यकाम की सत्यनिष्ठा से ही प्रभावित होकर उन्हें 'ब्राह्मण' कहकर संबोधित किया था[57] तथा उसी समय उन्हें

---

55. मनु० (१०/४२-४५)-'उत्कर्षंचापकर्षंच मनुष्येष्विह जन्मत:···दस्यव: स्मृता:'।

प्रसन्नता का विषय यही है कि, आदिकाल में जातियों का विभाजन गुणों तथा वृत्तियों पर आधारित था तथा सामाजिक विकार के फलस्वरूप वह जन्मगत रूप में रूपान्तरित हो गया। इस अकाट्य सत्य का, जिसे स्वीकार करने में अनेक शिक्षित हिन्दू कुंठा का अनुभव करते हैं, इसी की घोषणा अनेक अ-हिन्दू विचारक निशंक भाव से किए हैं [Sri Kailash V. Maya, (1984) U.J.S.C. 262 (Paras 7-8), Per Fazl Ali J.] वे अपने इन्हीं कथनों के कारण हिन्दुओं के लिए नमनीय हैं और विधर्मी समालोचकों के लिए दृष्टि प्रदानकारी हैं।

56. छा० (४/४/१-४/९/३) सत्यकामजावाल उपाख्यान। यदि वे अपने पिता का परिचय जानते तो उन्हें माता के नाम के अनुसार 'सत्यकाम जावाल' के नाम से आत्मपरिचय नहीं देना पड़ता (छा० ४/४/२-'वह्वहं ···परिचारिणी···सत्यकाम एव जावालो ब्रुवीथा इति')।

57. छा० (४/४/५)–'तं होवाच नैतद् ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति···त्वानेष्ये'।

उपनयन संस्कार प्रदान करने की स्वीकृति दी थी। परवर्ती अध्यायों में हम देखते हैं कि, गुरु गौतम ने सत्यकाम को ब्रह्मविद्या दान किया।[58] केवल इतना ही नहीं, इसी ब्रह्म विद्या के बल पर सत्यकाम स्वयं ही गुरुरूप में उपकोसल आदि शिष्यों को ब्रह्मविद्या दान किए थे।[59]

(ज) वेद मत्रों के अर्थ की उपलब्धि तथा उन्हें ध्यान में रखने के लिए बुद्धि[60] आवश्यक है एवं वह बुद्धि अपवित्र तथा स्वेच्छाचारी मनुष्य के लिए संभव नहीं है।[61] यहां तक कि मंत्र का सम्यक् उच्चारण भी संभव नहीं है.; इसीलिए शूद्रों द्वारा वेद मंत्र का उच्चारण निषिद्ध था।[62] दूसरी ओर जो ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन, चिन्तन, मनन, दान, अप्रतिग्रह आदि छहों कर्मों को छोड़ दिए हैं उन्हें कोई भी गुरू वेदविद्या प्रदान नहीं करते थे, क्योंकि इसप्रकार के ब्राह्मण 'शूद्र आचरण' वाले होते थे।[63] अतएव हम देखते हैं कि, कोई केवल जन्म के सूत्र से वेदाध्ययन का अधिकारी अथवा अनधिकारी नहीं होता था ; अधिकार तो प्रत्येक क्षेत्र में अर्जित होता था व्यक्तिगत सदाचार के बल से।

(झ) इसे हम मनु में पाते हैं कि, वेदाध्ययन का अधिकार जन्मगत अधिकार नहीं है, बल्कि व्यक्तिगत संस्कार या शुद्धसत्त्व का अधि-

58. छा० (४/६/३)-'···तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति···'।
59. छा० (४/१०/१)-'उपकोसलो···सत्यकामे जावाले···'।
60. श्वे० (४/२०)-'हृदा हृदिस्थं ···' ; कठ (१/३/१६)-'···मेधावी··· महीयते (२/३/६-१०)-'···हृदा मनीषा···बुद्धिश्च न विचेष्टति···' ; तै० (१/४/१)-'···ब्रह्मण: कोशोऽसि मेधया पिहित:'।
61. क० (१/२/२४)-'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो···' ; (१/३/७)—'···अमनस्क: सदाऽशुचि:··· ।'
62. व्यास० स० (१/६)–'शूद्रो'···वेदमंत्र···स्वधा···स्वाहा वषट्कारादिभिर्विना'।
63. हा० स० (१/२०)-'एषामन्यतमाभावे वृषाचारो भवेद् द्विज:। तत्र विद्या न दातव्या··· ।'

कार है। यदि जन्मगत होता तो फिर ब्राह्मण का पुत्र आरंभ से ही वेदाध्ययन का अधिकारी होता। लेकिन मनु ने उपनयन के पूर्व द्विजबालक को शूद्रों के समान कहा है एवं तब तक के लिए उन्हें वेदमंत्रों का उच्चारण या किसी भी प्रकार की वैदिक क्रिया करने से वर्जित किया है।[64]

(ञ) शूद्रों का वेदाध्ययन निषिद्ध है, यह यदि हिन्दू धर्म का सारतत्त्व होता, तो फिर श्री चैतन्यदेव को सनातन धर्म से वहिष्कृत कर दिया जाता, क्योंकि चैतन्यदेव ने यवन हरिदास के वेदाध्ययन का केवल अनुमोदन ही नहीं बल्कि प्रशंसा भी किया था—

'हरिदास कहे प्रभु ना छुँइह मोरे।
मुइ नीच अस्पृश्य परम पामरे।।
प्रभु कहे तोमा स्पर्शी पवित्र हइते।
... ...
निरन्तर चारि बेद कर अध्ययन'।।[65]

अर्थात् हरिदास कहते हैं, 'प्रभो मैं नीच, अछूत, पापी हूँ, मुझे आप स्पर्श न करें'।

महाप्रभु कहते हैं, 'मैं स्वयं पवित्र होने के लिए तुम्हें स्पर्श करता हूँ, तुम निरंतर चारों वेदों का अध्ययन करते हो।'

(ट) शूद्र वेदाध्ययन के अधिकारी हैं, परन्तु यह निषेधाज्ञा जन्मगत हीनता के कारण नहीं, बल्कि उसके संस्कार तथा वृत्तिगत अक्षमता के कारण है। यदि हम नारी जाति के ऊपर इसीप्रकार निषेधारोप के दृष्टान्त के कारणों को खोज करें तो इस व्यक्तिगत अक्षमता के सिद्धान्त को ही समर्थन प्राप्त होगा।

---

64. मनु० (२/१७१-२)-'...न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म...शूद्रेण हि समस्तावद् न जायते'।

65. चै० च० (म०), ११श० प०।

नारियों के उपनयन का विधान नहीं है, फिर भी विवाह को उपनयन का विकल्प माना गया है। तो क्या आजीवन ब्रह्मचारिणी ब्राह्मण कन्या का शूद्रत्व रह ही गया ? उसे वेद मंत्रोंके उच्चारण का अधिकार कहाँ है। विवाहित द्विज कन्या को अवस्था भी इस विषय में अधिक उन्नत नहीं है, क्योंकि उसके लिए पति को सेवा तथा गृहपरिचर्या ही, गुरुगृहवास एवं वैदिक होम इत्यादि का वैकल्पिक विधान है।[66] दूसरी ओर बिना गुरु के पास गए वेदाध्ययन संभव नहीं था। उपनीत शिष्य के अलावा गुरु वेदशिक्षा नहीं देते थे और मनु में 'शिष्या' का उल्लेख ही नहीं मिलता।[67] अन्य स्थलों पर मनु ने कहा है कि, नारोजाति को मत्रोच्चारण का अधिकार नहीं है[68] तथा यम संहिता में नारी को वेदाध्ययन से वर्जित ही किया गया है।[69]

दूसरी ओर यह भी स्वीकार करना ही पड़ता है कि, वैदिक उत्कष के समय इस सम्बन्ध में नारी तथा पुरुष के बोच किसी प्रकार का भेद तो था ही नहीं, बल्कि अनेक प्रकार के मत्रों की उद्गाता या 'ऋषि' नारी ही थीं।[70] इसके अतिरिक्त, वृहदारण्यक

66. मनु. (२/६७)—'वैवाहिको विधिः···अग्निपरिक्रिया'।
67. मनु. (२/६९-७३)—'उपनीयः गुरुः शिष्यं···चारमेत्'।
68. मनु, (९/१८)—'नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः···'।
69. यम. स. (७३)—'न स्त्रीणां···न कुर्यात् वैदिकीं श्रुतिम्।' भागवत में भी इसके पक्ष में प्रमाण मिलता है—भा. (१/४/२५, २९)—'स्त्री-शुद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति-गोचरा···आन्मायार्थश्च दर्शितः...स्त्रीशूद्रादि-भिरप्युत'।
70. उदाहरणार्थ, विश्ववारा (ऋक् ४/२८/१) ; अपाला (ऋक् ८/९१/७) ; घोषा (ऋक्-१०/३९, ४०/५, ९) ; सूर्या (ऋक् १०/८५/६, ८, १०, १३) ; वाक् (१०/१२५—'देवीसूक्त') ; इन्द्राणी (ऋक्-१०/१४५)। पाणिनि के व्याकरण में आचार्या तथा आचार्याणी और उपाध्याया तथा उपाध्यायानी इन दो स्त्रीलिंग पदों के उपयोग से यह मान्यता पुष्ट होती है कि उस युग में नारी स्वयं अध्यापन का कार्य करती थीं।

उपनिषद में हम देखते हैं कि, राजा जनक की सभा में अद्वितोय ब्रह्मविद् याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्राथं में वेदवादिनो गार्गी ने किस तीक्ष्णता से प्रश्नरूपी वाणों का प्रहार किया था।[71] हम इसी उपनिषद् में पाते हैं कि, याज्ञवल्क्य को गृहिणो मैत्रेयी कहती हैं—'येनाहं नामृता स्यां किमह तेन कुर्याम्'[72]? इसके द्वारा हो वेद के सम्पूर्ण ज्ञानकांड की ममंवाणो संकलित हुई है। और यदि दुर्भाग्यवश मनुष्यजाति के इतिहास से याज्ञवल्क्य कभी विस्मृत भी हो जाते हैं, तब भी इस महियसी नारी की यह अमृतवाणी 'प्रलयपयोधि रूपी जल' में भी वेद को बचाए रक्खेगी।

उपनिषद् में व्यक्त सत्यकाम के उपाख्यान से भी हम इस सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं कि, उस समय वेद के अध्ययन का अधिकार व्यक्तिगत था, जन्मगत नहीं। परवर्ती युगों में, मनु के कथनों[73] के साथ भागवत[74] के निर्देशों का युगपत् अध्ययन न करने पर बड़ा भ्रम होगा, क्योंकि स्मृति तथा पुराण दोनों ने श्रुति की ही व्याख्या की है। भागवत के सप्तम स्कंद के ग्यारहवें अध्याय का विषय 'मानवधमं-वणंधमं-स्त्रीधर्माणां निरूपणम्' है। इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है कि, जिस धर्म का अनुसरण करने पर ईश्वर संतुष्ट होते हैं, वह तीस लक्षणों से समन्वित है और वह धर्म सभी मनुष्यों के लिए पालन करने योग्य है। इन तीसों में स्वाध्याय का उल्लेख है।[74] उसके पश्चात् निश्चित रूप

71. वृ. (३/१/२, ३/६/१, ३/८/१-१२)।
72. वृ. (२/४/४, ४/५/४)।
73. मनु. (१/८८ ; २/२८ ; २/१६६)।
74. भा. (७/११/३५)—'यस्य यल्चक्षणं···विनिर्द्दिशेत्'।
75. भा. (७/११/८-१२)—'सत्यं···स्वाध्याय आर्जवम्···नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां...सर्वात्मा येन तुष्यति'।

से अध्ययन एवं अध्यापन को ब्राह्मणों का कार्य तथा अपने स्वामी की सेवा शूद्रों का कार्य कहा गया है।[76] परन्तु सबसे अंत में कहा गया है कि, एक वर्ण को प्रकाशित करने वाला कोई भी लक्षण यदि अन्य वर्ण के किसी भी व्यक्ति में देखा जाय तो फिर उस व्यक्ति को उसी वर्ण के योग्य अधिकारी के रूप में मान्यता देनी होगी।[74] परिणामस्वरूप, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जाति का कोई भी व्यक्ति यदि शम-दम तपस्या इत्यादि ब्राह्मण के लक्षण अर्जित कर लेता है, उसके लिए स्वाध्याय अथवा वेदाध्ययन दोषरहित तो है ही, साथ ही शास्त्रानुमोदित भी है।

दूसरी ओर, वेदमंत्र इत्यादि का पाठ या उच्चारण कर पाने में असमर्थ व्यक्ति के लिए किसी भी शास्त्र का अध्ययन, स्तव-स्तोत्र के पठन की भी गणना स्वाध्याय के रूप में की गई है।[77]

अतएव जातिबंधन किसी के भी स्वाध्याय में कभी बाधा नहीं रहा। अब तो मुद्रण यंत्र की कृपा से—जो गहराई में न जाकर यों ही विभिन्न प्रकार की आपत्ति करते रहते हैं उनके अलावा—अन्य किसी भी व्यक्ति के लिए उपनिषद तथा अन्य शास्त्र सुलभ तथा सहज बोधगम्य हुए हैं।

जो हिन्दू के रूप में परिचित हो समाज में निवास करते हैं, उन सबों को अपने रक्त का ऋण चुकाने के लिए इन शास्त्रों का अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अध्ययन कर 'ऋषियज्ञ' को सम्पन्न करना चाहिए।

ईश्वर प्रणिधान (या उपासना) :

ब्रह्म के साकार रूप (विष्णु, शिव या मातृमूर्ति) को श्रद्धाभक्ति के साथ पूजन करना ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।[78] यह भक्ति-

76. भा. (७/११/१४, १५, २४)।
77. पद्म (पाताल)—···तत्त्वादि शास्त्राभ्यासश्च स्वाध्याय परिकीर्त्तितः'।
78. यो. या. (२/६)। भागवत में (११/१९/३४) इसे 'मदर्च्चनम्'

मत का सारतत्व होने पर भी, इसे राजयोग में भी समाधि के अनुकूल माना गया है।[79]

'ईश्वर' शब्द के अर्थ की व्याख्या हमने द्वितीय अध्याय में विस्तृत रूप से की है। फिर भी इस प्रसंग में उसके सारांश की पुनरावृत्ति इसे समझने में सहायता प्रदान करेगी। 'ईश्वर' शब्द का व्युत्पतिगत अर्थ है देवताओं में श्रेष्ठ (ईश + वर)। परन्तु ऐसा होनेपर 'बहुत्व' की कल्पना आ जाती है। हिन्दूधर्म का मूलतत्व है कि संसार का कर्ता अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म है। लेकिन वह यदि निर्गुण है, तो फिर इस विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि किसने की ? इस प्रश्न का उत्तर ही ईश्वरत्व के उदय का कारण है। उत्तर यह है कि, निर्गुण होने पर भी उनमें अनन्त शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। वे उन्हीं शक्तियों के द्वारा एवं माया या प्रकृति की सहायता[80] से संसार की सृष्टि करते हैं और उसी उपाय से सृष्टि का पालन तथा विनाश भी करते हैं। इस सगुण अवस्था में ब्रह्म की उपाधि 'ईश्वर' होती है। सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय इन तीन क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए वे तीन विभिन्न रूपों को धारण करते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर या शिव। इस प्रकार के और भी असंख्य गुणों को निर्देशित करने के लिए इन्द्र, वरुण, अग्नि इत्यादि देवताओं की कल्पना की गई है, लेकिन इनमें से कोई भी ब्रह्म से अलग या स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं। ये अद्वितीय ब्रह्म के विभिन्न रूपों के प्रकाश या अभिव्यक्ति हैं।[80] ब्रह्म की सगुण बाह्य आकृति होने के कारण हम ईश्वर

[वासुदेव अथवा उनके विग्रह की पूजा को (भा. ११/११/३४—'मल्लिंग···दर्शन-स्पर्शनार्चनम्'···) पूजा] कहा जाता है। यह 'भक्ति' के नौ लक्षणों में विशिष्ट लक्षण है (भा. ७/५(२३-२४)।

79. पा. यो. (सा. ४५)—'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'।

80. वृ. (२/५/१६)—'···इन्द्रो मायाभिः···दश'।

को सर्वशक्तिमान, सर्वनियन्ता[81]-[82] तथा सर्वगुणों के आधार के रूप में अभिहित करते हैं। लेकिन स्वरूपतः वे एक और निराकार तथा निर्गुण हैं।[82]

इस सगुण कल्पना का प्रत्यक्ष परिणाम है द्वैतवाद का जन्म। यदि ईश्वर सभी के नियन्ता एवं सर्वशक्तिमान हैं तो, वे प्रत्येक सीमित-शक्तिवाले मनुष्य से पृथक, एक ईप्सित सत्ता हैं, जिनकी उपासना करने पर उसी निराकार ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है। अतएव ज्ञानमार्ग के अनुसार ईश्वरोपासना मोक्ष या ब्रह्म-प्राप्ति में सहायक है।[83] निराकार ब्रह्म की कल्पना तथा ध्यान दुःसाध्य है। इसलिए सगुण ईश्वर के रूप की कल्पना की सहायता से स्थूल से सूक्ष्म ज्ञान की ओर जाने का उपाय बताया गया है।[84] इसके साथ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' जैसे महावाक्य के बीच कोई असमानता नहीं है।

निःसन्देह सकाम (अर्थात् किसी फल की प्रार्थना करते हुए पूजा करना) उपासना से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। फिर भी चित्तशुद्धि के लिए प्राथमिक स्तर में इसकी आवश्यकता पड़ती है। इसका अभ्यास करने पर अविचल श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न होती है।[85] इसके बाद के स्तरों में, ईष्टदेव की मूर्ति में ही परमेश्वर या परमात्मा अवस्थित हैं, ऐसी कल्पना कर निष्काम भावना

81. ईश—शासन करना।

82. श्वे. (३/१-२ ; १७—'य एको···गोपाः') ; कठ. (२/१/५)—'···ईशानं भूतभव्यस्य···'।

83. श्वे. (६/१८)—'यो ब्रह्माणं विदधाति···मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' ; (६/१०)—'···स्व-भावतो देवः···स नो दधातु ब्रह्माप्ययम्'।

84. रा. पू ता. (७)—'चिन्मयस्याद्वितीयस्य···उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना'।

85. गी. (७/२१-२२)—यो यो···तस्य तस्याचलां श्रद्धां···लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्'।

के साथ आगे बढ़ने पर, वह उपासना निर्गुण ब्रह्म एवं आत्मतत्त्व की उपलब्धि में परिणत हो जाती है।[86] और अंत में, ब्रह्म की निष्काम उपासना मोक्ष का कारण बनती है।[87] यही है हिन्दू अध्यात्मवाद का स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभियान। अर्थात्, ज्ञानयोग में ईश्वर की उपासना ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का एक सोपान है।

साधारण रूप से राजयोग का लक्ष्य 'ब्रह्मदर्शन' नहीं है। इसका लक्ष्य 'कैवल्य' है तथा इसके लिए उपाय है समाधि। लेकिन समाधि के लिए एकाग्रता आवश्यक है[89]; एवं ईश्वर की उपासना इस एकाग्रता को पाने का उपाय है[90] अतः अंत में यही उपासना समाधि में पूर्णत्व प्राप्त करती है।[91]

भक्तियोग में ईश्वरोपासना का स्थान सहज रूप से बोधगम्य है। यह पहले ही कहा गया है कि, भक्ति का उद्देश्य ईश्वर से एकनिष्ट प्रेम है।[92] ऐसी भक्ति करने के लिए अन्य विषयों से अनुराग समेट कर एवं अन्य कर्म इत्यादि को त्याग कर, एकमात्र ईश्वर का ही काया-मन-वाणी से आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है।[94] इसीलिए पूजा धौर ईश्वरोपासना के अन्य अंगों के प्रति

---

86. क. (२/३/१३)—'अस्तीत्येवोपलब्धव्य···प्रसीदति।'
87. मु. (३/२/१)—'स वेदैतत्···उपासते पुरुषं ये ह्यकामाः···धीराः'।
88. पा. यो. (कै. ३४)—'···कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा···'।
89. पा. यो. (व ११-१२)—'सर्वार्थतैकाग्रतयोः···चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः'।
90. पा. यो. (सा. १-२)—'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। समाधिभावनार्थः···'।
91. पा. यो. (स. २३)—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'; (सा. ४५)—'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।'
92. ना. भ. सू. (२)—सा तस्मिन् परम-प्रेमरूपा'।
93. ना. भ. सू. (८)—'···लोकवेदव्यापारन्यासः'।
94. ना. भ. सू. (१०)—'अन्याश्रयाणां त्यागः···'।

अनुराग को ही 'भक्ति' कहा गया है।[95] इन क्रियाओं का अवलंबन ग्रहण करने पर चित्त शुद्ध हो जाता है तथा परिणामस्वरूप साधक का चित्त भगवान में लीन हो जाता है अथवा स्वयं के हृदय में ही उनकी अनुभूति होती है।[96] लेकिन तबतक बाह्य पूजा की आवश्यकता है, जबतक साधक में इसप्रकार का ज्ञान न उत्पन्न हो जाए कि, ईश्वर सर्वभूत में अवस्थित हैं अतः वे उसके हृदय में ही विद्यमान हैं। इस ज्ञानोदय के उपरान्त साधक को और किसी प्रकार के द्वैत उपासना की आवश्यकता नहीं रह जाती ;[97] वे 'हृदयस्थित हृषीकेश' के साथ एकाकार हो जाते हैं। उसके पश्चात् भगवद्ज्ञान से वे सर्वभूत की सेवा में स्वयं को अर्पित कर अपने आराध्य ईश्वर का केवल स्वयं के हृदय में ही नहीं बल्कि सर्वत्र दर्शन करते हैं।[98] श्रीमद्भागवत् को इन उक्तियों से यही प्रमाणित होता है कि, चरम स्थिति में ज्ञानमार्गी के साथ भक्ति-मार्गी का कोई अन्तर नहीं है—दोनों की साधनाओं का फल सर्वत्र ब्रह्मदर्शन है[99] और उसी का परिणाम 'लोकसंग्रह' या सभी जीवों

---

95. ना. भ. सू. (१६)—'पूजादिष्वनुराग इति···'।
96. भा. (३/२९/१५-२०)—'मद्धिष्ण्यदर्शन–स्पर्श-पूजा···आत्मानमविकारी यत्' ; (११/३/४०)—'यर्ह्यंजनाभचरणैषणयोरुभक्त्या···उपलभ्यत आत्मतत्वं···सवितृप्रकाशः'।
97. गी. (४/२४-३३)—'ब्रह्मार्पणं···ब्रह्मकर्मसमाधिना···सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'।
98. भा. (३/२९/२५ ,२७, ३४)—अर्च्चादावर्च्चयेत्···यावन्न वेद स्वहृदि··· अर्हयेद्दानमानाभ्यां···ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति' ; (३/३२/ २३, २६, ३२)—'वासुदेवे···भक्तियोगः प्रयोजितः···जनयत्याशु... ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्' ; ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म···भगवानेक ईयते' ; ज्ञानयोगश्च···भक्तिलक्षणः द्वयोरप्येक एवार्थः···' ; (११/२९/११-१२) पृथक् सत्रेण वा सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ईक्षेतात्मनि ; (११/२९/ १८-१९) '—सर्वं ब्रह्मात्मकं···मनोवाक्कायवृत्तिभिः'।
99. चै. च.—'नेत्रों से जिस किसी भी वस्तु को देखता हूं, उसमें कृष्ण के रूप के दर्शन होते हैं।'

की सेवा है। आगे के दो अध्यायों में इसकी विवेचना और भी विस्तार के साथ की जाएगी।

जप :

जप का मौलिक उद्‌गम स्रोत हम वृहदारण्यक (४/५/६) के इस मंत्र में पाते हैं—आत्मा···मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:···'। यह 'मनन' क्रिया, जिसके अर्थ की आवृत्ति ब्रह्मसूत्र में बार-बार की गई है[1] [अर्थात् आत्मदर्शन (या ब्रह्मदर्शन) करने के लिए बार-बार आत्मचिन्तन तथा ध्यान की आवश्यकता होती है], उसे ही परवर्ती शास्त्रों में जप कहा गया है। इसी अर्थ में अन्य उपनिषदों में भी प्रणव रूपी धनुष की सहायता से निरंतर उपासना के द्वारा ब्रह्म रूपी लक्ष्यभेद का उपदेश दिया गया है।[2] अन्य स्थानों पर प्राणायाम के साथ ब्रह्म के तरणीरूप प्रणव का आश्रय ग्रहण करने के लिए निर्देश भी दिया गया है।[3] ज्ञानमार्गी उपनिषदों में 'भक्ति' शब्द का उपयोग न होने पर भी बाद के भक्तिमार्गी उपनिषदों में 'जप' का उल्लेख और उपदेश पाया जाता है।[4-5]

---

1. ब्र. सू. (४/१/१)—'आवृत्तिः असकृत् उपदेशात्'। याज्ञवल्कय ने इसे अभ्यास कहा है [यो. या. (१२/१३)–'अधीत्य वेदं···तस्य अभ्यासेन]। अभ्यास करने के लिए श्रुत विषय का निरंतर अनुचिंतन आवश्यक है—तथा उसी का 'मनन' भी [वे. सा. (७६)—श्रुतस्या द्वितीयवस्तुनो··· अनवरतमनुचिन्तनम्']।
2. मु. (२/२/३-४)-'धनुर्गृहीत्वा···उपासानिशितं···प्रणवो धनुः··· तन्मयो भवेत्' ; श्वे. (१/१४)—'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवंचोत्तरारणिम् ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येत्···' ; छा. (१/१/१) – 'ओमित्येतद—क्षरमुद्गीथमुपासीत'।
3. श्वे. (२/८)—'त्रिरुन्नतं···ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत··· ।'
4. रा. पू. ता. (१/११)—'ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं···जप्तव्यो···' ; रा. र. (१/८)-···राममंत्रं जपति···, ; (२/१, ६, ३५)—'···जपेत्··· मनुम्' ; गो. पू. ता. (५घ)—'ॐकारेणान्तरितं यो जपति गोविन्दस्य

जप का प्रत्यक्ष उल्लेख और व्याख्या है 'योगी याज्ञवल्क्य' ग्रंथ में। इस राजयोग शास्त्र के प्रणेता हैं वृहदारण्यक के ऋषि याज्ञवल्क्य। अतः इससे सम्यक् प्रमाण मिलता है कि जप उपनिषद के मनन के अन्तर्गत ही था। इस ग्रंथ में जप को 'नियम' का ही एक अंग कहा गया है। योग मार्ग के साधक पहले वेदान्त का श्रवण करेंगे।[5] फिर सुनी हुई बातों को अभ्यास में उतारेंगे। इस अभ्यास को ही जप कहा गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार यह जप या अभ्यास दो प्रकार के हैं—(क) पठित शास्त्रों को बारबार दुहराना—इसे स्वाध्याय का ही अंग कह सकते हैं,[7] और (ख) वेद में निर्देशित गुरु से प्राप्त किसी मंत्र का अभ्यास।[8] आजकल हम ऐसे मंत्रजप को ही जप मानते हैं।

व्युत्पत्ति के हिसाब से मंत्र शब्द का अर्थ है—जो मनन या ध्यान के द्वारा उपलब्ध हुआ है (अथवा जिसका मनन करने से जापक त्राण या मुक्ति पाता है)। किसी देवता की उपासना के समय

पंचपदं···'; का० (६/१०)—'···सिद्धमंत्रस्य जापिनाम्···'; (१२) –'···सर्वमंत्रजापी···'; शा० (२)–'जप नाम···मानसं कोटीगुणम्।'

5. आश्चर्य का विषय यही है कि, हिन्दूवंश में उत्पन्न होकर भी आज जो अपने को स्वतंत्र 'जाति' के रूप में अभिहित करते हैं, उन्हीं सिक्खों के गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित धर्म की आधारशिला है 'एक ओंकार, शुण्णाइ, मण्णइ, ध्यान' (श्रवण-मनन-निदिध्यासन) तथा जप [Religions of India, ed : Karan Singh PP. 148, 154, 164].
6. आ. (२/१)'···आरण्यकमावर्त्तयेत् उपनिषदमावर्त्तयेत्···'; शाठ्या. (१५)-'नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः।'
7. यो. या. ((२/१३)-'अधीत्य वेदं जपः स्मृतः।'
8. यो. या. (२/१२)—'गुरुणा चोपदिष्टोऽपि मंत्राभ्यासो जपः स्मृतः'; शा. (२)-'जपो नाम विधिवद्गुरुपदिष्ट···मंत्राभ्यासः···।,
9. यो. या. (२/८)-'सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं···।'
10. म. नि. (७/८८)-'···जपान्याद्यां प्रसादयेत्।'

उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए उनके रूप-गुण आदि के वर्णन से युक्त मंत्र उच्चारित होते थे। इसलिए वैदिक सूक्त ही आदि मंत्र हैं। सो हमने देखा कि वैदिक मंत्रों का बार बार उच्चारण करने का नाम था जप। एक मत्र की रचना कई शब्दों या वाक्यों को लेकर होती है। कालक्रम से, विशेषतया तंत्रशास्त्र के आविर्भाव के बाद, बीजमंत्रों का उपयोग अधिक होने लगा। एक मंत्र के अन्दर जो अर्थ निहित होता है उसे पूर्णरूपेण ठीक रखते हुए, एक अथवा उससे अधिक वर्ण या अक्षर मात्र उपयोग में लाकर, किसी देवता की उपासना के लिए बीजमंत्र का उद्भव हुआ। प्रणव या ॐ एक ऐसा बीजमंत्र है जो ब्रह्म का वाचक है, यह हम पहले कह चुके हैं। तंत्र में देवदेवियों के लिए ऐसे अलग-अलग बीजमंत्र का निर्देश है। परंतु प्रत्येक मंत्र प्रणव की भाँति ब्रह्म का वाचक है। और जिसका मनन, त्राण या मोक्षप्राप्ति का सहायक है, वह मंत्र कहलाता है। यह मनन-क्रिया स्मरण तथा उच्चारण के माध्यम से अनुष्ठित होती है।

गुरु से दीक्षा लेते समय गुरु शिष्य के कानों में उसके इष्ट देवता तथा उस देवता को जपने के लिए तन्त्रोक्त बीजमंत्र प्रदान करते हैं। शिष्य गोपनता के साथ यत्नपूर्वक उस बीज मंत्र का जप कर अपने इष्टदेव का सान्निध्य तथा कृपा प्राप्त करने के लिए तत्पर होता है। भक्ति पंथ के अनुसार, इष्ट मंत्र का जप

11. यथा. ब्रह्ममंत्रः-ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म' ; [म. नि. (३/१२-१४)-'प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य सच्चित्पदमुदाहरेत् एकं पदान्ते सर्वमंत्रोत्तमः-'] ; गायत्रीमंत्र-'ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं···प्रचोदयात् ।'

12. रा. पू. ता. (२/३)–'यथैव वटवीजस्थः···महाद्रुमः···। '

13. क्यों 'गायत्री' ब्रह्म की वाचक है इसकी विशिष्ट व्याख्या छान्दोग्य उपनिषद के ३/१० खण्ड में है।

14. रा. पू. ता. (१/१३)—'क्रिया···मननांत्राणान्मंत्रः सर्ववाचस्य वाचकः।'

कर सिद्धिप्राप्त करने पर इष्टदेवता, उस मंत्र की ध्यानमूर्ति में, साधक के समक्ष प्रगट् होते हैं।[15] राजयोग में, तपस्या एवं समाधि के सदृश, मंत्रों के जप से सिद्धिप्राप्त करना एक विशिष्ट उपाय है।[16] राजयोग की यह सिद्धि कैवल्य प्राप्ति या 'स्वरूप प्रतिष्ठा' है—इस अवस्था में साधक त्रिगुणातीत होकर जीवात्मा के स्वरूप निर्गुण चित्‌शक्ति में प्रतिष्ठित हो जाता है।

पतंजलि ने अपने अष्टांग योग के अन्तर्गत 'नियमों' की तालिका में जप का अलग से उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने जप का उल्लेख ईश्वर प्रणिधान के प्रसंग में किया है, क्योंकि यह ईश्वरोपासना का अन्यतम उपाय है।[17] हमने पहले ही कहा है कि, निर्गुण निरवयव ब्रह्म की कल्पना या चिन्तन दुरूह होने के कारण साधना के शीर्षस्थान पर पहुँचने के पूर्व तक, सगुण ब्रह्म की उपासना तथा उन्हीं की कल्पना करने के लिए किसी-न-किसी प्रतीक या स्मारक के अवलंबन की आवश्यकता पड़ती है। इन सभी प्रतीकों में सबसे सूक्ष्म 'ओंकार' अर्थात् 'ॐ' शब्द है। इसे 'प्रणव'[18] भी कहा जाता है।[19] यह ॐ शब्द ब्रह्म का वाचक[20] या प्रकाशक है; कारण इस शब्द के द्वारा यह

15. ना. भ. (८०)-'स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्'।
16. पा. यो. (कै. १)-जन्मौषधिमंत्रतपः समाधिजः···सिद्धयः'।
17. पा. यो. (स. २८)—'तज्जपस्तदर्थभावनम्'।
18. क्यो कि ओंऽम् शब्द के द्वारा ईश्वर की स्तुति या गुणगान किया जा सकता है (प्रकर्षेण नूयेत ईति प्रणवः')। यह शब्द तथा ब्रह्म दोनों एक ही हैं। इसलिए यह ब्रह्मप्राप्ति का श्रेष्ठ आलंबन है [क. (१/२/१६-१७)-'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म···एतदालंबनं श्रेष्ठम्···महीयते']।
19. विभिन्न उपनिषदों में प्रणव या ओंऽकार की विविध व्याख्याएं दी गई हैं, उदाहरणस्वरुप, ना. वि. (१/१७); योग. (६-११)।
20. पा. यो. (स. २७)—'तस्य वाचकः प्रणवः'।

सूचित होता है कि ब्रह्म सर्वकालिक एवं सर्वव्यापक हैं। इस ॐ की संरचना अ+उ+म् (आदि+मध्य+अंत) इन तीन शब्दों की समष्टि को लेकर हुई है। 'अ' सारे उच्चारित शब्दों में पहला है, 'उ' उच्चारण करने में मुख के अभ्यन्तरस्थ जिह्वामूल की आवश्यकता होती है तथा 'म्' का उच्चारण करने के लिए दोनों होठों को बंद करना पड़ता है। इसलिए ॐ शब्द में पृथ्वी के सभी शब्द[21] अन्तर्निहित हैं एवं इसके अर्थ में सृष्टि (मन्), स्थिति (अव्), लय (उष्),[22] अथवा भूत, वर्तमान तथा भविष्य है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी हम शब्दों के द्वारा व्यक्त कर सकें, वह सब है।

ज्ञानयोग में इस अर्थ को ज्ञात कर ध्यान करने पर साधक जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति (अ+उ+म् इनकी तीन मात्राएँ हैं) इन तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण कर, मात्राहीन ब्रह्म में लीन हो जाता है।[23]-[24] इसी के कारण पतंजलि के राजयोग के

---

21. छा. (२/२३/३)—'···सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदं सर्वमोंकार··· सर्वम्'।
22. मा. (१)-'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्···भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव···' ; तै. (१/८)—'ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्···'।
23. मा. (११/१२)-'···मिनोति ह वा इदं···संविशत्यात्मनात्मानं···।'
24. जाग्रत अवस्था में जीव इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोग करता है ; स्वप्न में उसका सूक्ष्म शरीर कार्य करता है तथा केवल वासना के द्वारा या मन के द्वारा उसका उपभोग करता है ; सुषुप्ति अवस्था में स्थूल शरीर के कार्यशील न रहने के कारण ही ज्ञान नहीं रहता ; परन्तु उस समय तक कारण-शरीर विद्यमान रहने के कारण जड़ के सदृश्य प्रकाशित होता है। ये तीनों ही अवस्थाएं माया-जनित विकार के कारण हैं। उसके ऊर्ध्व में चतुर्थ अथवा तूरीय अवस्था में प्रवेश करने पर ही साधक सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर ब्रह्म में लीन होने के योग्य हो जाता है। प्रणव का जप तथा ध्यान करने पर साधक—ब्रह्म ही एकमात्र सत्य तथा सर्वव्यापी सत्ता हैं, अतः मैं ही वह ब्रह्म हूं—ऐसा ज्ञान प्राप्त कर

अनुसार भी ॐ शब्द का बार-बार उच्चारण तथा उसके अर्थ का ध्यान करने पर पहले चित्तशुद्धि फिर क्रमश: समाधि प्राप्त होगी ।[17]

मनु कहते हैं कि, यदि कोई ब्राह्मण वैदिक यज्ञ इत्यादि न भी करे, तब भी केवल ओंकार या व्याहृति पूर्वक त्रिपाद गायत्रीमंत्र का जाप कर वह सिद्धि प्राप्त कर सकता है ।[25]

समन्वयी गीता ने भी यज्ञों में जपयज्ञ के श्रेष्ठत्व को प्रतिपादित किया है ।[26] उसका कारण है कि, जपयज्ञ में किसी प्रकार उपकरणों के आडम्बर की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

भक्तिशास्त्र में नाम कीर्तन तथा जप की महिमा को प्रतिष्ठित किया गया है। भगवान् विश्वरूप होने के कारण निखिल विश्व की सभी वस्तुएँ तथा उनके नामवाचक सभी शब्द भगवान के नाम हैं[27] ; अत: भगवान् के किसी भी नाम का भक्तिपूर्वक श्रवण या कीर्तन करने पर भगवान को ही प्राप्त करेंगे ।[28] इसीलिए कहा गया है कि, कलियुग में केवल कृष्णनाम के संकीर्तन के द्वारा ही सांसारिक बंधनों से मुक्त हुआ जा सकता है ।[29]

भगवान् के नाम का कीर्तन व्यक्तिगत रूप से या एकान्त में

पूनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। [अ. वि. (६-११)-'स्वरेण संद्ध्ययेद् योगं···पूनर्जन्म न विद्यते'] ।

25. मनु. (२/७८-८७)-'एतदक्षरमेतांच···जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः··· ।'
26. गी. (१०/२५)—'···यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि··· ।'
27. भा. (६/४/२८)-'स सर्वनामा स च विश्वरूप :···' ; (५/१८/३२)-'जरायुजं···अभिधेय एकः ।'
28. भा. (१२/३/४६)—'श्रुतः···संकीर्तितो···ध्यातः' ; गी. (९/१४)—'सततं कीर्तयन्तो···भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।'
29. भा. (१२/३/५१-५२)-'कीर्तनादेव कृष्णस्य···कलौ तद्धरिकीर्तनात्' ; वृ. ना. पु.—'हरेर्नाम···कलौ नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा' ; कथा. (१/४६, १४१) ।

करने पर जप होता है ; सम्मिलित रूप से गीत वादन के सहारे कीर्तन करना संकीर्तन कहलाता है। चूंकि नाम तथा नामी अभिन्न[30] हैं, इसलिए जिस किसी भी नाम से हृदय में भगवद्भाव उत्पन्न होता है, उसी नाम का जप किया जा सकता है। अर्थात् नाम भी ओंकार के सदृश ब्रह्म का प्रतीक है। परन्तु ॐ में मात्र एक अक्षर है ; उसकी अपेक्षा नाम स्थूल होता है। इसप्रकार से भक्ति शास्त्र ने साधक को अपने-अपने अधिकार तथा अभिरूचि के अनुसार जप के लिए इष्टनाम चुनने की सुविधा प्रदान की है। जिसप्रकार, किसी भी व्यक्ति को उसके नाम से आह्वान करने पर वह आह्वानकारी की ओर आकृष्ट होता है, उसी प्रकार ईश्वरवाचक किसी भी नाम या मंत्र का बार-बार उच्चारण करने पर, भगवान् भक्त के आह्वान से आकृष्ट हो, उसे उसीप्रकार का दर्शन देते हैं। यह भक्तियोग का एक मूल सिद्धान्त है।[31] कलियुग में एकमात्र हरिनाम कीर्तन के द्वारा ही उस फल को पाया जा सकता है, जो पिछले युगों में तपस्या, ध्यान, यज्ञ इत्यादि के द्वारा भी नहीं प्राप्त किया जा सकता था।[32]

प्रणाली भेद के अनुसार जप दो प्रकार का होता है—वाचिक तथा मानसिक।[33]

---

30. रा. पू. (३/३)—'यथा नामी वाचकेन नाम्ना सोऽभिमुखो भवेत्··· ।'
31. भा. (६/४/३४)-'सः जनानां यथाशयं देहगतो विभाति·· मनोरथम्' ; (१/५/३८)-'इति···मंत्रमूर्तिममूर्तिकम्···दर्शनः पूमान्' ; (३/९/११)-'···यद्यद्धिया···तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।'
32. भा. म. (१/६८)—'यत्फलं नास्ति तपसा···कलौ केशवकीर्तनात्' ; (१२/३/५१-५२)—'कलेर्दोषनिधे···कीर्तनादेव ··कृष्णस्य···कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ; कथा. (४/६६) ।
33. यो. या. (२/१४/१६)—'जपस्य द्विविधः प्रोक्तो···श्रुतश्चेन्निष्फलो भवेत् ।' इन्हीं वाक्यों की पुनरुक्ति शाण्डिल्योपनिषद में है (२)-'जपो नाम···मानसं कोटिगुणम्' ।

(1) किसी प्रकार के शब्द का उच्चारण न कर मन-ही-मन मंत्रों के अर्थ का स्मरण करना 'मानस' जप कहलाता है। इस जप में दूसरा कोई भी जप के शब्दों को नहीं सुन पाता या जप करने वाले के होठ, जिह्वा इत्यादि का कोई भी संचालन नहीं देख पाता है।

(2) मंत्रोच्चारण के साथ जप करना 'वाचिक' जप कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है। यदि इसप्रकार के उच्चस्वर में जप किया जाए कि दूसरा सुन सके, तो उसे 'उच्च' जप कहा जाता है। लेकिन यदि शब्द सुनाई न दे, केवल होठों का स्पन्दन मात्र हो, तो उसे 'उपांशु' जप कहते हैं। परन्तु उच्च या उपांशु किसी भी प्रणाली का प्रयोग क्यों न करें, उसके नियमों का का पालन नहीं करने पर वह निष्फल हो जाता है। अर्थात् जो उच्च जप का प्रयोग करते हैं उनका स्वर कभी धीमा नहीं होना चाहिए और जो उपांशु रीति को ग्रहण किए हैं, उनके शब्दों को कोई भी न सुन सके।[34]

विभिन्न शास्त्रों में जप के माहात्म्य के विषय में अनेक उक्तियों के रहने पर भी, यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि, जप साधना में सिद्धि पाने के लिए बार-बार उच्चारणों के अतिरिक्त और भी कुछ अनुषंगों की आवश्यकता होती है।

(क) प्रतीक, नाम, या मंत्र, जप में जिसका भी अवलंबन ग्रहण किया जाय, उसका अर्थबोध या स्मरण करके ही जप करना होगा।

(ख) उस नाम के प्रति निष्ठा या स्थिर बुद्धि आवश्यक है; अर्थात् अन्य चिन्ताओं को दूर कर उसमें ही अविचलित[35] रहना होगा।

---

34. रा. पू. (११)—'ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं मन्त्राऽन्वर्थादिसंज्ञकः जप्तव्यो··· प्रसीदति'। पा. यो. (स. २८)-'तज्जपस्तदर्थभावनम्।

35. ब्र. सू. (१/१/७)-'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्।'

(ग) साथ ही तीव्र भक्तियोग आवश्यक है।[36]

(घ) जप के साथ साथ ध्यान भी करना होगा ; अन्यथा केवल आवृत्ति के द्वारा इष्ट की प्राप्ति नहीं होगी। मंत्र के अर्थ का ज्ञान न होने पर जिसप्रकार से जप निरथक यांत्रिक प्रयास में परिणत हो जाता है, उसीप्रकार से इन मत्रों के अधीश्वर या अधीश्वरी इष्ट देवता या देवी की मूर्ति हृदय में प्रतिष्ठित न करने पर[37] ईश्वर प्रणिधान में सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। अर्थात् 'मनन' के साथ 'निदिध्यासन'[38] भी आवश्यक है। इसी कारण से शकराचार्य ने मनन की अपेक्षा ध्यान पर अधिक महत्व दिया है।[39]

(ङ) जप का उद्देश्य विस्मृत होने पर यह निरर्थक पुनरावृत्ति में परिणत हो जाएगा। भगवान् को पाने के लिए उन्हें एकनिष्ठ भाव से चाहना होगा तथा सम्पूर्ण रूप से आत्मनिवेदन करना होगा। पूजा, जप, तपस्या आदि उस आत्मनिवेदन के साधन हैं।[40] सबकुछ उन्हें समर्पित कर पूर्णतया रिक्त होने के उपरान्त, उनके अतिरिक्त या उनसे पृथक कुछ भी नहीं प्रतीत होगा।[41]

---

36. भा. (२/३/१०)-'···तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत' ; (३/२५/४४)—'तीव्रेण भक्तियोगेन स्थिरम्।'
37. यो. या. (२/१७) 'ऋषिश्छन्दोऽधिदैवंच ध्यायन्···यत्तु मंत्रं जपेत्··· तदेव हि फलप्रदम्' ; भा. (११/३/२७-२८) 'श्रवणं कीर्तनं···जप्तं··· परस्मै निवेदनम्।।'
38. वृ. (४/५/६)-'आत्मा वा अरे···श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः··· 'भा. (१/२/१४)—'श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यशः।'
39. श. वि. (३६४)-'श्रुतेः रातगुणं···ममनादपि निदिध्यासं···।,
40. भा. (११/१९/२३-२४)-मदर्थे···जप्तं मदर्थं···अवशिष्यते।'
41. भा. (७/१/२५)-'···कथंचिन्नेक्षते पृथक'

(च) निरंतर प्रवाहित तैलधारा की तरह यह जप आजीवन करना होगा,[42] अन्यथा मृत्यु के समय विकारावस्था में इस नाम का स्मरण ही नहीं हो पायेगा।[43]

(छ) निरंतर ईश्वर का स्मरण करने के लिए मानस जप के अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं है। इसलिए मानस जप को श्रेष्ठ जप कहा गया है। जो किसी भी प्रकार का जप करते हैं उन्हें यह समझाने की आवश्यकता नहीं कि, प्रत्येक क्षण, सहस्रों कर्मों के बीच मानस जप करते जाना कितना दुःसाध्य है।

(ज) योगियों के लिए जप ही अंतिम तथ्य नहीं है। पहले ही कहा गया है कि यह ध्यान का सहायक है। चरम लक्ष्य समाधि है। ध्यान निश्चल हो जाए तो जप रुक जाता है, और समाधि की उपलब्धि के पश्चात् ध्यान की आवश्यकता नहीं रहती। निर्बीज समाधिस्थ योगी परमानंद की उपलब्धि कर परमात्मा के साथ एकात्म हो जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[44]

(झ) जप के द्वारा सिद्धि पाने के लिए साधक को उसके पहले यम, नियम, शम, दम इत्यादि दैवी सम्पदाओं को अर्जित करना

---

42. हरि के नाम का एकबार उच्चारण करने से ही सभी पापों से मुक्ति मिल जाएगी [भा. (१२/१२/४६)-'···हरये नम' इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्'], भागवत में इस प्रकार के कथनों के वाद भी यह निर्देश दिया गया है कि भक्ति साधना के लिए निरंतर नामकीर्तन की आवश्यकता होती है [भा० (११/१६/२०)-'···शश्वन्मदनुकीर्त्तनम्']

43. गी. (८/६-७)-'यं यं वापि स्मरन्···तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर ···, ; (८/१०)-'प्रयाणकाले···पुरुषमुपैति दिव्यम्' ; (८/१३)-'ओमित्येकाक्षरं···परमां गतिम्' ; कथा. (१/१५८)।

44. महा. (शान्ति, १९६/१६-२३)—तद् धिया ध्यायति ब्रह्म जपन्··· प्रतिपद्यते'।

पड़ेगा। क्योंकि जप निवृत्तिमार्ग का सोपान है।[45] अतएव जप करने वाला यदि फलप्राप्ति की कामना से जप करता है, अथवा चंचल चित्त से या अवहेलना के साथ जप करता है अथवा जप से उपलब्ध यौगिक ऐश्वर्य इत्यादि के प्रति अनुरक्त होता है या अहंकारी अथवा मोहग्रस्त होता है, तो फिर वह जप के फल से वंचित हो पुनर्जन्मरूपी नरक में पतित होगा।[46]

शम और दम :

ज्ञान योगी के लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान—ये छह अति आवश्यक सम्पत्तियाँ मानी जाती हैं।[47] ये ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा हैं तथा जिस शिष्य का चित्त समाहित या शान्त नहीं होता, उसे गुरु ब्रह्मविद्या नहीं प्रदान करते।[48] क्योंकि, आत्मज्ञान की उपलब्धि के लिए अर्थात् अपनी आत्मा में परमात्मा को अधिष्ठित देखने के लिए,[49] शान्त, दान्त (संयत), उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होना आवश्यक है।[50] चूंकि अशान्त या असमाहित व्यक्ति के लिए ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान[51] की उपलब्धि संभव नहीं इसलिए गीता ने इन सभी गुणों को 'दैवी सम्पद' या मोक्ष का

---

45. महा. (शान्ति, १६६/१२, १५/१६) 'विषयेभ्यो नमस्कुर्य्यात्··· नावमानी न चाक्रियः।'
46. महा. (शान्ति, १७०/३-११)—'यथोक्तपूर्वं···निरयं सोऽनुगच्छति।'
47. श. वि. (१६)-'आदौ···शमादिष्टक सम्पत्तिः···'।
48. के. (४/८)—'तस्मै···तपो दमः कर्मेति प्रतिष्टा'; ब्र. सू. (३/४/२७)—'शमदमाद्युपेतः स्यात्···।'
49. मु. (१/२/१३)—'तस्मै···शमान्विताय···ब्रह्मविद्याम्'; श. वि. (१७)—'विवेकिनो···समादिगुणशालिनः···योग्यता मता'।
50. वृ. (४/४/२३)-'···शान्तो दान्त···आत्मनेवात्मानं पश्यति···'; सुवाल (६/१४)—'शान्तो दान्त···समाहितो भूत्वा···पश्येत्।'
51. क० (१/२/२४)—'नाविरतो···नासमाहितः···आप्नुयात्'।

सहायक कहा है।[52] पहले ही कहा गया है कि, ब्रह्मप्राप्ति के लिए आत्मज्ञान और सर्वभूत में ब्रह्मदर्शन दोनों की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन ये अलग-अलग साधन नहीं हैं। जिस तैयारी के द्वारा एक को प्राप्त करना होगा, उसी के द्वारा ही दूसरी दृष्टि भी एकसाथ उत्पन्न हो जाएगी। वह तैयारी है, सभी प्रकार की वासनाओं का परित्याग कर, 'शान्त, एकाग्र, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित' होना। जो इस अवस्था को प्राप्त कर लिए हैं, वे एक ही आत्मा का दर्शन स्वयं में तथा सभी वस्तुओं में पाएँगे।[50-53]

दूसरी ओर जिन्हें वैराग्य या मुमुक्षा उत्पन्न होने के उपरान्त भी उसका वेग तीव्रतम नहीं हुआ है, ऐसे व्यक्ति का वैराग्य भी शम-दम इत्यादि साधनाओं के द्वारा तीव्ररूप धारण करता है तथा मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है।[54] संक्षेप में कहा जा सकता है कि, इन्द्रियसंयम के बिना मात्र ज्ञान, तपस्या या यज्ञ के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति संभव नहीं है।[55]

इसी कारण से भक्ति मार्गी[56] कर्मयोगी[57] या राजयोगी[58] के

---

52. गी० (१६/१-३)-'अभयं···सम्पदं दैवीम्···'।
53. वृ०(४/४/२३)–'तस्मादेवं···विच्छान्तो···सर्वमात्मानं पश्यति'; तुः गी० (१३/२४; २७-२८)।
54. श० वि० (२८)—'मंदमध्यमरूपापि···सूयते फलम्।'
55. महा० (शान्ति, २८०/६)—'नैष ज्ञानवता···शक्यते'।
56. भा० (५/५/२४)—'···शमो दम···'; (११/११/३०)—'···दान्तो ···शान्तः···'; (११/१४/१३)—'···दान्तस्य शान्तस्य···'; (११/१७/१६)—'शमो दमस्तपः···'; (११/२६/४३-४४)—'तितिक्षुः··· शान्तः समाहितधिया ··ततः परम्'।
57. गी० (६/३)-'···योगारुढस्य···शमः कारणमुच्यते'; (६/७)-'जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।'
58. पा० यो० वि० (३/४/१२); (सा० ५४/५५)-'···इन्द्रियाणां प्रत्याहारः

लिए भी शान्त, दान्त, उपरत तथा समाहित होना अत्यन्त आवश्यक है। भागवत के अनुसार, जितेन्द्रिय व्यक्ति सभी विषय-आसक्तियों का वर्जन कर, सगुणत्व के प्रभाव से रज एवं तमो-गुण पर विजय प्राप्त कर, भगवत् भजन करते हैं। इस जप साधना के फलस्वरूप वे शान्तचित्त होते हैं।[59] इस अवस्था में उनके सत्वगुण की क्रिया भी स्तब्ध हो जाती है, और वे त्रिगुणातीत या गुणमुक्त हो, अपने जीवदेह या त्रिगुणाबद्ध[60] लिंग शरीर से मुक्ति प्राप्त करते हैं।

ज्ञानयोग में, इन्द्रियों को निश्चल रूप से धारण कर अप्रमत्त या एकनिष्ठ अवस्था में स्थिरता को 'योग' कहा जाता है।[61]

दम :

यद्यपि अनेक शास्त्रों में शम का उल्लेख दम से पृथक रूप में किया गया है,[62] तथापि मूलत: दम साधना के फलस्वरूप ही शम की प्राप्ति होती है, अर्थात् दम, शम साधना की प्रारंभिक प्रक्रिया है।[63]

इन्द्रियों को सभी विषयों से अलग कर उन्हें समुचित स्थानों पर निश्चल कर निरुद्ध कर देना ही दम कहलाता है।[64]

···परमावश्यतेन्द्रियाणाम्' ; भा० (११/१४/३३)-'प्राणस्य··· जितेन्द्रिय:' ; शा० (८)-'विषयेषु···इन्द्रियाणां बलादाहरणं···' ; योग० (३१)—धातुस्त्री लौल्यकादीनि···' ।

59. भा० (११/२५/३४-३६)-'नि:संगो···जितेन्द्रिय:···गुणैर्मुक्तो···न वहिर्नान्तरंचरेत्' ; गी० (२/४५)-'···निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' ।

60. गी० (१४/५-२०)—'सत्वं···निवध्नन्ति देहे देहिनम्···गुणानेतानतीत्य ···अमृतमश्नुते' ।

61. क० (२/३/११)-तां योगमिति मन्यन्ते···प्रभवाप्ययौ' ।

62. यथा, वृ० (४/४/२३) ।

63. श० वि० (२३) ।

64. श० स० वे० सि० (१२६-३)—'ब्रह्मचर्य्यादिभि:···दण्डनं···मनस: शान्तिसाधनम्···चित्तम्' ।

इस स्थिति में विकार के किसी कारण की उपस्थिति से भी चित्त विकृत या विक्षिप्त नहीं होता। इन्द्रियों का दमन किए जाने के कारण ही इस साधना को दम कहा जाता है।[64] दम साधना में सफल होने पर, उस अविचल चित्त को ब्रह्म रूपी लक्ष्य की ओर स्थिर किया जाता है और साधक को शांति की प्राप्ति होती है।[54] इसलिए दम, शम साधना का एक उपाय है।

इन्द्रियों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है—बाह्य इन्द्रिय एवं अन्तरिन्द्रिय। अन्तरिन्द्रियाँ चार हैं—मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त। शम के प्रसंग में इनकी विवेचना की जाएगी।

बहिरिन्द्रियां दो प्रकार की हैं—कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय। कर्मेन्द्रियां पांच हैं, जैसे वाक, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। ज्ञानेन्द्रियां पांच हैं—कर्ण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका—जिसके द्वारा हम क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध का आस्वादन करते हैं। बहिरिन्द्रियों के संयम को दम[65] कहा जाता है। यह दुरूह साधना है तथा देवताओं के लिए भी यह शिक्षणीय विषय है। निर्जन स्थान में निवास करना दम साधना के अभ्यास के अनुकूल है।[66]

इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होने के कारण ये स्वभावतः बाह्य विषयों के प्रति आकृष्ट होती हैं। परन्तु अन्तर्यामी को स्वयं के अन्तर में देखने के लिए इन इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त कर अन्तर्मुखी करना आवश्यक है।[67] बाह्य विषयों से इन्द्रियों को निवृत्त

65. 'दम', 'दान' तथा 'दया' विषयक उपदेश हम बृहदारण्यक उपनिषद के आख्यानों में पाते हैं (५/२/३)—'द द द, इति दाम्यत दत्त दयध्वम्···।'
66. श० वि० (३६८)—'एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे···'।
67. क० (२/१/१)-'परांचि खानि···अमृतत्वमिच्छन्'; गी० (३/३४)-इन्द्रियस्य···परिपन्थिनौ'; (३/४०-४१)-'इन्द्रियाणि··· ज्ञानविज्ञाननाशनम्।'

करने की प्रक्रिया ही 'दम' कहलाती है। परन्तु यह अवश्य है कि यदि अस्वस्थ या विकलांग व्यक्ति किसी भी इन्द्रिय के परिचालन में असमर्थ है तो उसे दमान्वित या दान्त पुरुष नहीं कहेंगे। दान्त व्यक्ति इन्द्रियों को बाह्यवस्तुओं से संयत या विमुख कर चित्तशुद्धि को सम्पन्न करता है और अंत में उन इन्द्रियों को परमात्मा में नियोजित करता है। तब उसे 'स्थित प्रज्ञ'[68] कहा जाता है इसके सिवा सर्वत्र एवं सर्वभूत में ब्रह्म का दर्शन संभव नहीं है।[69]

शम :

अन्तरिन्द्रियों के संयम को शम कहा जाता है।[70] साधक का लक्ष्य ब्रह्म है,[71] उस लक्ष्य के प्रति चित्त को निश्चलरूप से तथा नियत रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए मन को इन्द्रियग्राह्य समस्त विषयों से वैराग्य के द्वारा विरत कर[72] अहंकार, वासना[72] या देहाभिमान का परित्याग करना होगा। इस प्रक्रिया को ही शम कहते हैं। दम को अभ्यासित कर लेने पर शम सहजसाध्य हो जाता है।

मनोजय :

इन्द्रियाँ मन के द्वारा संचालित होने के कारण मन को संयत न कर पाने पर काया-कृच्छ साधना के द्वारा इन्द्रिय संयम का प्रयास मिथ्याचार एवं निष्फल होगा। इसलिए कहा गया है कि

---

68. गी० (२/५७-५८, ६१)-'यदा संहरते···प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।'
69. गी० (१२/४)-'संनियम्येन्द्रियग्रामं···प्राप्नुवन्ति मामेव···' ; (६/२४-३१)—'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य···मयि वर्त्तते'।
70. श० वि० (२२)-'विरजा···शम उच्यते' ; श० स० वे० सि० (६६)-'एकवृत्त्यैव···स्वलक्ष्ये नियतस्थितिः···।'
71. मु० (२/२/४)—'ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।'
72. श० वि० (३६८)-'एकान्तस्थितिः···मुनेः।'

मूलत: मन ही मनुष्य के बंधन या मुक्ति का कारण है।[73] अर्थात् जो मन विषयों के प्रति आसक्त होने पर सांसारिक बंधनों का कारण होता है वही मन अनासक्त एवं कामादिरिपुर्वजित तथा अभिमान एवं माया-मोह से शून्य हो विशुद्ध होने पर मुक्ति के मार्ग पर ले जाता है।[74] असंस्कृत मन से ब्रह्म का दर्शन नहीं किया जा सकता।[75] लेकिन वही मन शोधित एवं संयत होने पर उसकी सहायता से आत्मा के एकत्व तथा अभेदत्व की उपलब्धि होती है।[76] अतएव इसप्रकार का स्थिर मन ब्रह्मदर्शन में सहायक है।[77] इसप्रकार के मन की सहायता से ही राजयोगी इन्द्रियों को हृदय में सन्निवेशित कर पाते हैं।[78] मनु कहते हैं कि, मन स्वय ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मन्द्रिय दोनों का स्वरूप है और एकमात्र मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[79] क्योंकि मन ही दूसरी सभी

---

73. अ०वि० (२) ; शाठ्या (१)-मन एव मनुष्यानां कारणं वंद्धमोक्षयोः···' ; श० वि० (१७२-४)—'···मनसा कल्प्यते वंद्धो···मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम्'।
74. क० (१/३/५-६)—'यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा·· मन: प्रग्रहवान् नरः···तद्विष्णोः परमं पदम्' ; भा० (३/२५/१५-१६)-'चेतः खल्वस्य वन्धाय मुक्तये च···समम्' ; (५/११/८)-'गुणानुरक्तं···मन: स्यात्'।
75. क० (२/३/१२)-'नैव वाचा न मनसा···'।
76. अ० वि० (२०)—'घटमिव···भूते भूते वसति···मनसा मन्थानभूतेन।'
77. क० (२/१/११)-'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन ··'; (२/३/९-१०)'न संदृशे ··हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो···न विचेष्टति··· गतिम्।,
78. श्वे० (२/८–९)-'हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य···मनो धारयेता-प्रमम्तः' ; पा० यो० (सा, ५३-५५)-'धारनासू इन्द्रियाणाम्।'
79. मनु० (२/९२)–'एकादशं मनो ज्ञेयं···गणौ' ; गी० (६/२४) 'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य···।'

इन्द्रियों को परिचालित करता है। जबतक इन्द्रियों का दमन न किया जाय तबतक जंगल में रहकर भी शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती ; कारण ये इन्द्रियाँ चक्रवातग्रस्त नौका के समान मनुष्य को विषय से विषयान्तर में दौड़ा कर परेशान कर देती हैं,[80] तथा उसकी बुद्धि को चंचल बना देती हैं।

मन को संयत कर लेने पर इन्द्रियाँ पुन: उसे विषयों के प्रति आकृष्ट नहीं कर पातीं। उसी अवस्था को वैराग्य कहते हैं।[81] मन स्वभाव से ही चंचल तथा दुर्निवार होता है, इसे वशीभूत करना वायु की गति को रोक देने के समान ही दु:साध्य कार्य है। लेकिन अभ्यास तथा वैराग्य[82] के अवलंबन से धीरे-धीरे इस असाध्य को साधा जा सकता है।[83] लेकिन जबतक मन को वशीभूत नहीं किया जाता है, तबतक प्राणायाम इत्यादि अष्टांग-योग तथा हठयोग आदि इन्द्रियनिग्रह, किसी से भी सिद्धि नहीं प्राप्त की जा सकती ; क्योंकि अवसर पाते ही योगी का मन पुन: विषयों के प्रति आकर्षित होगा।[84] इसलिए निरंतर अभ्यास की आवश्यकता है। व्यवस्थितरूप से अभ्यास करने पर क्रमश: मनोजय तथा समाधिप्राप्त करना संभव होता है।[85] जब जिस विषय के प्रति मन आकर्षित हो उसी समय उस विषय से मन को

---

80. गी० (२/६७)-'इन्द्रियाणां··· वायुर्नावमिवाम्भसि'।

81. गी० (१३/८)—'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्···' ; पा० यो० (स० १५)-'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य···वैराग्यम्' ; श०स०वे०सि० (२३-२४)-'ऐहिकामुष्मिकार्थेषु···सर्वत्राऽनित्यवस्तुनि विरक्ति :।

82. गी० (६/३४-३५)-'चंचलं हि मन:···वैराग्येण च गृह्यते' ; पा० यो० (स० १२)—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:'।

83. गी० (६/२५)-'शनै: शनै:···चिंतयेत्।'

84. भा० (१०/५१/६१)-'···प्राणायामादिभिर्मन:···पुनरुत्थितम्।'

85. गी० (६/३६)-'यतता शक्योऽवाप्तुमुपायत:।

निवृत्त करने का अभ्यास करते रहने पर परिणामस्वरूप योगी प्रशान्त चित्त होता है तथा ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है।[86]

नित्यानित्यवस्तुविवेक :

'बुद्धि' मन का नियन्ता है। जब मन विषयों के प्रति आकर्षित होता है तब उसे 'बुद्धि' या इसप्रकार के विचार ही संयत कर सकते हैं कि 'परमात्मा ही आनंदमय तथा अमृतमय हैं, तुच्छ विषय आनंदमय नहीं होते'। इसे ही शंकराचार्य ने 'नित्यानित्य-वस्तुविवेक' कहा है। इन्द्रियपरायण व्यक्ति की बुद्धि मन रूपी लगाम की सहायता से इन्द्रियों को दुष्ट अश्व को भाँति दौड़ाती है।[87] दूसरी ओर विवेकबुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी व्यक्ति मन रूपी लगाम की सहायता से इन्द्रियों को वश में कर संसारमार्ग का अतिक्रमण करते हुए ब्रह्मपद की उपलब्धि करते हैं।[88]

बहुत समय के अभ्यास के उपरान्त चित्त जब स्थिर हो जाता है तब योगी निरंतर ध्यानयोग से निर्वाण प्राप्त करते हैं।[89] संक्षेप में कहा गया है कि, ज्ञान के द्वारा बुद्धि को, बुद्धि के द्वारा मन को, एवं मन के द्वारा इन्द्रियों को निर्मल तथा शुद्ध कर पाने पर उस विशुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि तथा मन के द्वारा परमात्मा का दर्शन किया जा सकता है।[90] लेकिन मनोजय के अलावा शम या शान्ति प्राप्त नहीं होती।

---

86. गी० (६/२६-२७)—यतो यतो···शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।'

87. कठ० (१/३/३-५)-बुद्धितु सारथिं विद्धि···सारथेः'।

88 कठ० (१/३/८-९)-'···यस्तु विज्ञानवान्···परमं पदम्'; (२/३/१०)-'···यदा पंचावतिष्ठन्ते···परमां गतिम्'।

89. महा० (शान्ति—१९५/९-२२)-'विसंचारि निरालम्बं पंचद्वारं चलाचलम्···निर्वाणं तन्निरामयम्।'

90. महा० (शान्ति—२०६/२४/२६)-'सूक्ष्मेन मनसा···निर्गुणभ्युपैति'।

रिपुदमन :

शम के लिए आवश्यक है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य जैसे षड्‌रिपुओं का दमन।[91] क्योंकि, कामना, क्रोध, लोभ, अनित्य के प्रति आसक्ति (मोह). धन-जन-यौवन का गर्व (मद) तथा ईर्षा (मात्सर्य)—इन्द्रियों के ये विकार मनुष्य को बलात् पापकर्म की ओर अग्रसर करते हैं।[92] ये श्रृंखलाबद्ध होते हैं और भोग के द्वारा इनकी तृप्ति नहीं हो सकती।[92-93] अतः जिनसे इन्द्रियनिरोध संभव नहीं, उनके लिए वेदाध्ययन, यज्ञ, तपस्या इत्यादि किसी भी उपाय से सिद्धि प्राप्त करना संभव नहीं।[94] इसलिए कहा गया है कि, प्रत्येक व्यक्ति को ही यह प्रयास करना चाहिए कि, धन-सम्पत्ति को अर्जित करने पर उससे क्रोध (अभिमान) न उत्पन्न हो ; विद्या अर्जित करने पर उससे मान-अपमान के वशीभूत न हो जाएँ ; अथवा तपस्या-जनित मात्सर्य से भी अभिभूत न हो जाएँ।[95]

इन रिपुओं का चरित्र इसप्रकार है कि, इनमें से एक से दूसरा उत्पन्न होता है ; उदाहरण के लिए, किसी प्रकार की कामना के असफल या भंग हो जाने पर क्रोध उत्पन्न होता है एवं क्रोध से मतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम, बुद्धिनाश तथा बुद्धिनाश से सर्वनाश हो जाता है। अर्थात् इन्द्रियासक्त व्यक्ति संसार

---

91. श० स० वे० सि० (१०२)—'कामः क्रोधश्च···शान्तिर्न सिद्धति'।
92. गी० (३/३६, ३७-३९)-'अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति···काम एष क्रोध एष···दुष्पूरेणानलेन च' ; भा० (७/९/२५)-'कामानलं··· दुरापैः।'
93. मनु० (२/९४) ; भा० (९/१९/१४) ; 'न जातु कामः···भूय एवाभिवर्द्धते'।
94. मनु० (२/९३-९७)—'इन्द्रियाणां प्रसंगेन···कर्हिचित्।,
95. महा० (शान्ति—१८९/९-११)—'सर्वोपायैस्तु लोभस्य प्रमादतः।'

रूपी कूप में डूब कर अंत में समाप्त हो जाता है।[96] ये सभी आत्मज्ञान एवं आत्मोन्नति के लिए बाधा स्वरूप होने के कारण इन्हें रिपु या शत्रु कहा जाता है; उनमें भी आदि रिपु 'कामना' से ही अन्य रिपु उत्पन्न एवं उज्जीवित होने के कारण काम को गीता में प्रधान और दुर्जय शत्रु कहा गया है।[97]

काम :

काम शब्द से साधारणत: हमारा अभिप्राय दैहिक कामना से होता है। लेकिन उपनिषद, गीता, भागवत इत्यादि सभी हिन्दू धर्मग्रंथों में 'काम' शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है, एवं यह सर्वात्मक धारणा हिन्दूधर्म की अन्यतम विशेषता है। केवल नारी ही नहीं वल्कि संसार की जितनी भी इन्द्रियभोग्य विषय-वस्तुएँ हैं, उनकी कामना करना ही 'काम' कहा गया है। और यह कामभाव जबतक साधक के देह-मन-वाणी से सम्पूर्ण रूप से दूर नहीं हो जाता, तबतक उस साधक का मुक्त होने या ब्रह्मत्व प्राप्त करने की संभावना नहीं रहती।[98] क्योंकि कामाश्रित व्यक्ति में ज्ञान का लोप हो जाता है।[99]

केवल ज्ञानमार्ग[1] में ही नहीं, भक्तियोग[2] में भी रिपुजय तथा इन्द्रियजय अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि अन्य किसी भी वस्तु को पाने

---

96. गी० (१/६२-६३)—ध्यायतो विषयान् पुंसः···प्रणश्यति'; भा० (११/२१/१९-२१)—'विषयेषु···मृतस्य च।'
97. गी० (३/४३)–'जहि शत्रुं···कामरूपं दुरासदम्।;
98. वृ० (४/४/७); क० (२/३/१४)—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः·· तत्र ब्रह्म समश्नुते।'
99. गी० (७/२०)—'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः··· ।'
1. गी० (२/३९–४१)—'आवृतं ज्ञानमेतेन···ज्ञानविज्ञान नाशनम्।'
2. भा० (११/२०/२७-२९)—'सर्वान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः···कामा हृदस्या नश्यन्ति···हृदि स्थिते'।

की इच्छा होने पर भगवान् से एकनिष्ठ प्रेम नहीं किया जा सकता, अत: उन्हें पाया भी नहीं जा सकता।[3] लेकिन कामना त्याग की इच्छा मात्र होने पर ही काया-मन-वाक्य से निष्काम नहीं हुआ जा सकता। क्योंकि, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से रचित विषयसंभार का आकर्षण दुर्निवार्य है एवं भोग के द्वारा भी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती।[4] इस काम पर विजय प्राप्त करने के लिए भक्तिमत की यही शिक्षा है कि—विषयों के प्रति लगाव न रखकर उस प्रेम को भगवान् के प्रति अर्पित कर दो।[5] लेकिन यह भी कोई सहज कार्य नहीं है। कारण ईश्वर को तो देख नहीं सकते एवं उनसे प्रेम करने पर क्या सुविधा होगी यह भी इतरजन के लिए बोधगम्य नहीं है। भक्तिशास्त्र ने इस समस्या का भी समाधान किया है। देहात्मबोध ही कामनाओं का जन्मस्थल है, अर्थात् इस शरीर का सुख ही हमारा सुख है ; एव इसीलिए कामिनीकांचन-पुत्र-परिवार इत्यादि जिन विषयों से दैहिक सुख प्राप्त किया जा सकता है, उनके प्रति हम लगाव रखते हैं। लेकिन यदि यह समझा जाय कि, स्वयं ईश्वर ही माता[6], पिता[7], सन्तान, यहाँ तक कि पति[8] या स्त्री रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हैं, तो फिर ईश्वर के प्रतिनिधि स्वरूप

---

3. भा० (११/२०/३५)—'नैरपेक्ष्यं परं प्राहुः···तस्मान्निराशिषो भक्ति-निरपेक्षस्य मे भवेत्' ; (३/२५/२२-२४)—'···मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति···त एते साधवः···सर्वसंगविवर्जिताः···।'
4. गी० (१६/१०)—'काममाश्रित्य दुष्पूरं···' : मनु० (२/९४)—'न जातु कामः···शाम्यति···'।
5. ना० भ० सू० (२)—'सा तस्मिम् परमप्रेमरूपा।'
6. चण्डी (५/७३)—'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता···'।
7. गी० (११/४३)—'पितासि लोकस्य चराचरस्य···' ; (८/१७-१८)-'पिताहमस्य जगतो माता···सुहृत्···।'
8. भा० (७/११/२९)—'या पतिं हरिभावन भजेत्···श्रीरिव मोदते' ; वि० भक्ति-योग, (९७/१०१) ; कथा० (३/११–२२)।

जानकर उनसे लगाव या स्नेह रखने पर दैहिक कामनाओं के परिहार का प्रथम पाठ अभ्यासित हो जाएगा। यशोदा का कृष्ण के प्रति स्नेह अथवा गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम इसी प्रकार का सम्बन्ध है। भगवान् को दूर न रखकर, उनको अपना आत्मीय बना लेने की शिक्षा को ही भक्तिशास्त्र में दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर इत्यादि भाव के रूप में अभिहित किया गया है।[9]

अपने परिजनों के बीच भगवान् के रूप की कल्पना कर पाने पर, क्रमश: इसप्रकार का लौकिक सबंध भी अनित्य प्रतीत होगा। क्योंकि पुत्र-पति-स्त्री किसी का भी वियोग होने पर उस संकीर्ण प्रेम की दीवार ध्वस्त हो जाती है। अतः उसके बाद का स्तर है—पति, पुत्र इत्यादि के प्रति अथवा स्वयं के प्रति आसक्ति-शून्य हो कर भगवान् को ही पति, पुत्र या एकमात्र प्रेम का पात्र समझना।[10] देहात्मबोध को समाप्त करने के लिए यही भक्तिनिर्दिष्ट पंथ है।

इस स्थिति में पहुँच जाने पर, उस भगवान् को केवल परिवार, परिजन या व्यक्तिगत संबंधों के बीच ही नहीं बल्कि सर्वभूत में विद्यमान देखा जा सकता है।[11] उस अवस्था को प्राप्त कर पाने पर प्रेम का स्वरूप केवल शरीर के संकीर्ण कंदरा में ही आबद्ध नहीं रह सकता। फलत: धन-पुत्र-कलत्रादि विषयों से वैराग्य उत्पन्न होगा[12] एवं कामना का विनाश होगा। इस प्रकार के भक्त, दारासुत इत्यादि को भगवत् आराधना का उपकरण मान कर उन्हें ही सम-

9. वि० वा० र० (१०/२१७-१८)। [यह स्पष्ट देखा जा रहा है कि ईश्वर के साथ इतना निकट संबंध स्थापित कर पाने में कोई दूसरा धर्म सक्षम नहीं हुआ]।
10. भा० (१०/४७/२६)—'दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान्···पुरुषं परम्।'
11. भा० (११/२/४५)—'सर्वभूतेषु यः पश्येत्···'; (११/२/५२)—'न यस्य स्वः पर ईति वित्तस्वात्मनि···सर्वभूतसमः···।'
12. भा० (११/२/४२-४३)—'भक्ति परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र···परां शान्तिमुपैति साक्षात्।'

पंण या निवेदन करते हैं।[13] एवं उसीका ही फल भगवान् की अनन्य भक्ति तथा मुक्ति है।[14] अतएव धाराएँ भिन्न होते हुए भी भक्ति या ज्ञान मार्ग की चरम परिणति या गन्तव्य स्थल एक ही है।[15]

चूंकि शम का अर्थ है—विषय त्याग के द्वारा ब्रह्मरूपी लक्ष्य के प्रति चित्त को स्थिर करना ; इसीलिए शम-साधना में सिद्ध होने पर ही साधक को ब्रह्म निर्वाण तथा 'शान्ति' या स्वयं के स्वरूप की उपलब्धि होती है।[16] शम के द्वारा अहकार, वासना का लोप होता है एवं इस प्रकार के साधक को सदैव ही ब्रह्मानद का अनुभूति होती है।[17]

इसलिए उपनिषद या गीता ने चित्त की प्रशान्ति[18] या चित्त-प्रसाद[19] की आवश्यकता को बार-बार महत्त्व प्रदान किया है।[20]

---

13. भा० (११/३/२८)—'···दारान् सुतान्···यत्परस्मै निवेदनम्।
14. भा० (३/२५/३९-४५)—'इमं लोकं···विसृज्य सर्वानन्यांश्च··· भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान् मृत्योरतिपारये।'
15. इसी कारण से, आपात विरोधी होने पर भी अद्वैत तथा द्वैतवाद के बीच मूलतः कोई वैषम्य नहीं है। अमूर्त ब्रह्म की धारणा दुरुह होने के कारण ही द्वैतवाद की अवधारणा की गई। अनेक रूपों में प्रकाशित उस अव्यक्त की प्रतिमूर्ति से प्रेम करने पर उनमें ही उस अव्यक्त, एकमेवाद्वितीयम् की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार द्वैतवाद अद्वैतवाद का पूर्ववर्ती पंथ है, उसका विकल्प नहीं। श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवत्गीता दोनो में ही इन दोनों मतवाद का समन्वय किया गया है, अतः वाद-विवाद का प्रश्न ही कहां उपस्थित होता है ?
16. श० स० वे० सि० (९६-९८)–'एकवृत्त्यैव ··· शान्तिर्ब्रह्मनिर्वाणलक्षणा', श० वि० (२२)-'विरज्य विषयव्रातात्···शम उच्यते।'
17. श० वि० (३६८)—'···शमेन विलयं ··सदा योगिनः···'।
18. महा० (वन—३१२/९०)'···शमश्चित्तप्रशान्तता'।
19. गी० (६/१४-१५)—'प्रशान्तात्मा···अधिगच्छति' ; (६/२७)-प्रशान्तमनसं···शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ; (१८/५३-५४) अहंकारं···विमुच्य···शान्तो···प्रसन्नात्मा···लभते पराम्।'
20. मु० (३/२/५)-'···वीतरागाः प्रशान्ताः सर्वमेवाविशन्ति' ; वृ० (४/४/

इस शान्ति का अभ्यास जो नहीं कर पाया, उस व्यक्ति को गुरू शिष्य के रूप में स्वाकार ही नहीं करेंगे।[21] और सम्पूण रूप से निस्पृह हो प्रशान्त चित्त न हो पाने तक ज्ञान, भक्ति[22] आदि किसी भी योग से सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि, चूँकि ब्रह्म[23], 'अकाम' 'शिव तथा शान्त',[24] हैं, इसलिए ब्रह्म सायुज्य पाने के लिए हमें भी उसी प्रकार का होना होगा।[25]

उपरति :

शम साधना का परवर्त्ती उपाय उपरति है।[26] स्थूल रूप से उपरति तथा निवृत्ति समार्थक हैं। काया-मन-वाक्य से इन्द्रिय भोग का सम्पूर्ण त्याग ही उपरति कहलाता है। साधन मार्ग में दम की परवर्ती स्थिति उपरति है। वाह्येन्द्रियों को श्रवण-मनन-निदिध्यासन के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों से प्रयत्न पूर्वक संयत करना ही दम कहलाता है। इसप्रकार के प्रयास द्वारा जिस अवस्था में पहुंचा जाता है, उसे उपरति कहते हैं। अर्थात् तब फिर प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होगी, तब स्वभावतः ही विषयभोग में पुनः प्रवृत्ति नहीं होगो।[27]

---

२३)—'···शान्तो ··भूत्वा···आत्मानं पश्यति' ; गी० (२/६४-७०)—'रागद्वेषविमुक्तैस्तु···प्रसादमधिगच्छति···अशान्तस्य कुतः सुखम्···स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ··।'

21. मु० (१/२/१३)—'तस्मै ··प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय···ब्रह्मविद्याम् ; श्वे० (६/२२)-'नाप्रशान्ताय दातव्यम्···।'
22. भा० (११/२५/३६)-'···नैरपेक्ष्येण शान्तधीः···सम्पद्यते···माम् ।'
23. वृ० (४/४/६)-'···योऽकामो···ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।'
24. मा० (७)—'···शान्तं शिवम् अद्वैतं···' ; श्वे० (६/१९)-'···शान्तं निरवद्यं निरंजनम्··· ।'
25. मु० (१/२/११)-'शान्ता विद्वांसो ··अव्ययात्मा ।'
26. श० स० वे० सि० (९५)—'···शमदमस्तितिक्षोपरतिः ।'
27. वे० सा० (२०-२१)-'बाह्येन्द्रियाणाम् उपरति' ; क०(१/३/१३)-'प्राज्ञ तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि ।'

उपरति के अभाव में मन 'अशान्त'[28] होता है एवं इसप्रकार के चंचल चित्तवाले व्यक्ति को आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। लेकिन उपरत या शान्त चित्त[29] व्यक्ति प्रज्ञा को सहायता से यह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं[30], अर्थात् संयतेन्द्रिय एवं समाहित चित्त में ही आत्मा उद्भासित होगी।

यह साधना कितनी दुरूह है, इसे किसी भी एक इन्द्रिय को (यथा, रसना) संयत करने के प्रयास के द्वारा ही देखा जा सकता है। उसके उपरांत यदि अन्तरिन्द्रिय (मन, बुद्धि इत्यादि) को इस प्रयत्न में सम्मिलित किया जाता है, तो फलप्राप्ति सहज हो अनुमेय है। मूलतः देहात्मबोध सम्पूर्ण रूप से दूर न होने पर उपरति भी सम्पूण नहीं होती।[30] इसलिए गीता में कहा गया है कि, अचानक ही चित्तवृत्ति निरोध का कठिन प्रयास करने पर वह निष्फल या कुफलदायी हो सकता है। इसलिए धीरे-धीरे विषयों से विरक्ति[31] का अभ्यास करना होगा। और इससे साधक एक ऐसी स्थिति में पहुंचेगा, जहाँ मन सम्पूर्ण रूप से चिन्ता-शून्य हो जाएगा। इस दुरूह अभ्यास के लिए आवश्यक है—मन को धैर्य युक्त बुद्धि के द्वारा अन्तर्मुखी कर सम्पूर्ण रूप से आत्मा में निहित कर देना। जिन्होंने इस स्थिति का अभ्यास कर लिया है, उसे हो 'आत्माराम' कहते हैं[32] अर्थात् वे अपने अन्तर में ही सुख का सधान पाते हैं। उन्हें धन-

---

28. क० (१/२/२४)—'नाविरतो…नाशान्तो…आप्नुयात्।'
29. शमान्वित व्यक्ति को ही शान्त कहा जाता है [श० स० वे० सि० (१०२-१०४)]।
30. भा० (११/२८/२३)-'…छित्वात्मसंदेहमुपारभेत…अखिलकामुकेभ्यः।'
31. गी० (६/२५)-'शनैः शनैरूपरमेत्…चिन्तयेत्।
32. गी० (५/२४)—'योऽन्तः सुखोऽन्तरारामः…ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति'; भा० (७/१३/२७)-'सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिः…'; (७/१५/१६)-संतुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम्…'।

स्त्री-पुत्र इत्यादि विषयों की आवश्यकता नहीं होती। उन्हें ही 'मुनि' कहा जाता है।[33] कालान्तर में इसप्रकार के साधक ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जीवन्मुक्त होते हैं।[35]

तितिक्षा :

चित्त को यदि स्थिर रखना है तो फिर शारीरिक या मानसिक विक्षोभ उत्पन्नकारी परस्पर विरोधी भावनाओं के द्वारा अभिभूत न हो—शीत-उष्ण, हर्ष-विषाद, लाभ-हानि, मान-अपमान इत्यादि को तुल्य रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। यही तितिक्षा है ; सभी योगों में इसकी आवश्यकता होती है—इसे गीता[34] और भागवत्[35] ने बार-बार कहा है।

सहिष्णुता[36] तितिक्षा का लक्षण है। जिस किसी भी प्रकार का दुःख क्यों न उत्पन्न हो, उस विषय में विचलित न होकर, उसे किसी भी प्रकार से प्रकाशित न करना तथा उसके प्रतिकार के लिए कोई प्रयत्न न करना—यही तितिक्षा के लक्षण हैं।[37] यह

33. भा० (११/११/१७)-'न कुर्यात् न वदेत् किंचिन्न···आत्मारामोऽनया वृत्त्या···मुनिः।'

34. गी० (१२/१३)-'समदुःखसुख' ; (१२/१५)-'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो···' ; (१२/१८)-'शुभाशुभपरित्यागी···मानापमानयोः' ; (१२/१८)-'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः···' ; (१२/१८)—'तुल्यनिन्दास्तुतिः···' ; (२/५६)-'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः···' ; (१८/२६)-'सिद्ध्यासिद्ध्योर्निर्विकारः···'।

35. भा० (७/११/८)-'सत्यं ··· तितिक्षेक्षा ··· ; (११/११/२९)—'···तितिक्षुः···'।

36. वे० सा० (१०३)-'तितिक्षा···शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता'।

37. श० वि० (२४)-'सहनं सर्वदुःखानाम्···तितिक्षा निगद्यते'।

सहनशीलता अत्यन्त व्यापक है, क्योंकि दुःख तीन प्रकार के होते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक।[38] ये तीनों ताप हमें निरंतर जलाते रहते हैं; निश्चल हो कर उसे सहन करना अत्यन्त सहज कार्य नहीं है। जो यह कर सकते हैं, उन्हें 'स्थितधी' या 'मुनि' कहा गया है।[39] दुःख–शोक में समानभाव से चित्त की स्थिरता को 'धृति'[40] या 'स्थैर्य्य'[41] कहा जाता है।

केवल स्थितधी या स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ही मोक्ष या अमृतत्वलाभ का अधिकारी होता है;[42] क्योंकि अविनाशी वस्तु को पाने के लिए अनित्य वस्तुओं से विचलित होना उचित नहीं है। अनित्य विषयों के साथ शारीरिक संसर्ग के फलस्वरूप ही सुख-दुःख शीत-उष्ण इत्यादि उत्पन्न होते हैं, और इसलिए ये क्षणस्थायी तथा परिवर्तनशील होते हैं, एवं शरीर की भाँति ही विनाशधर्मी होते हैं। अतः मुमुक्ष व्यक्ति देहबोध को त्याग कर, इन सभी

38. आध्यात्मिक दुःख का तात्पर्य शारीरिक विकार है। उदाहरणार्थ-व्याधि या मानसिक विकार, जो काम, क्रोध, लोभ इत्यादि से उत्पन्न होता है। आधिदैविक दुःख प्रकृतिजन्य होते हैं, जैसे—वज्र, विद्युत, शीत, ग्रीष्म से उत्पन्न तथा अधिभौतिक दुःख दूसरे प्राणियों से उद्भूत होता है—सर्प, व्याघ्र (इत्यादि अथवा मनुष्य से [श० स०वे०सि० (१३८)-'आध्यात्मिकं यद् दुःखं 'तत्सहनं']।

39. गी० (२/५६)-दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः···उच्यते।'

40. यो० या० (१/६४)-'अर्थहानौ च···चित्तस्य स्थापनं धृतिः'; भा० (११/११/३१)-अप्रमत्तो···धृतिमान्···'; गी० (१६/३) '—'तेजः··· धृतिः···।'

41. भा० (११/१९/३३)-'अहिंसा···स्थैर्य्यं क्षमाभयम्'; गी० (१३/८)— 'अमानित्वं···स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः।,

42. गी० (२/१४-१५)—'मात्रास्पर्शास्तु···अमृतत्वाय कल्पते।'

अनित्य भावनाओं के प्रति उदासीन होने का प्रयास करते हैं।[43] जब वे उस साधना में सफल हो कर त्रिगुण संभूत इन्द्रियबोध से ऊपर उठकर मान-अपमान तथा शत्रु-मित्र के प्रति समत्व ज्ञान रखते हैं, तब उन्हें 'गुणातीत' कहा जाता है।[43] इनमें देहबोध का सम्पूर्ण रूप से लोप हो जाने के कारण, ये प्रशान्तचित्त तथा समाहित हो कर एकमात्र नित्यवस्तु तथा अनंत सुखों के आकर ब्रह्म से युक्त होने में सक्षम होते हैं तथा परिणामस्वरूप अपरिमित एवं अक्षयसुख प्राप्त करते हैं।[44] जो त्रिगुणातीत हो पाए हैं वे ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए हैं। उन्हें देहजनित जन्म-मृत्यु रूपी संसारपाश और कैसे आवद्ध रख सकता है? वे उस पाश को विछिन्न कर अमृतत्व या मोक्ष प्राप्त करते हैं।[45]

तितिक्षा का दूसरा लक्षण है क्षमा।[46] प्रिय एवं अप्रिय को समभाव से देखने का ज्ञान हो जाने पर, जो चिरशत्रु या आततायी है, उसे भी क्षमा किया जा सकता है।[47] मूलत: यह साधना सर्वत्र

---

43. गी० (१४/२३-२५)-'उदासीनवदासीन:···गुणातीत: स उच्यते'; (१२/१८-१९)-'सम: शत्रौ च मित्रे च···तुल्यनिन्दास्तुति:···।'

44. गी० (६/२७-२८)'प्रशान्तमनसं ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।'

45. गी० (१४/१९-२०)-'नान्यं गुणेभ्य:···मद्भावं सोऽधिगच्छति··· अमृतमश्नुते'; भा० (११/११/१४,१६)—'···विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तत्गुणै:···समदृङ्मुनि:'; (११/१३/२६,२८)-'गुणेषु···गुणाश्च चित्तप्रभवा···त्यागस्तद्गुणचेतसाम्।'

46. क्षमा का उल्लेख कुछ शास्त्रों में स्वतंत्र गुण के रूप में किया गया है— यो० या० (१/४९, ६३)—'···क्षमाधृतिर्मिताहार:···क्षमा सैवेति'; गी० (१२/१३)—'अद्वेष्टा···क्षमी।'

47. हिन्दुओं के पितृतर्पण के उपलक्ष्य में पूर्व जन्म के शत्रुओं को भी जलदान करना ही इस साधना की पराकाष्ठा है—'येऽबान्धवा बान्धवा वा···ते तृप्तिमखिलां यान्तु···।'

ब्रह्मदर्शन का एक सुनिश्चित सोपान है। दूसरी ओर योगी भी यदि क्षमाशील न हो तो उसका पतन होना अवश्यभावी है।[48]

जो इस प्रकार की समदर्शिता प्राप्त करते हैं वे 'अभय' होते हैं[49], क्योंकि उनके लिए स्वर्ग, मोक्ष या नरक समान है।[50] निश्चित रूप से वे ही इसप्रकार के समधर्मी तथा निर्भीक हो सकते हैं जिन्होंने ब्रह्मानंद को जान लिया है।[51] राजयोग में भय समाप्त हो जाता है। क्योंकि जो ब्रह्म में सदा एकाग्रचित्त रहते हैं तथा जिनमें किसी भी प्रकार की कामना नहीं होती, उन्हें भय कहाँ से उत्पन्न होगा ?[52] ज्ञानयोग में भी एक ही फल की प्राप्ति होती है। जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है, अर्थात् सर्वत्र ही एवं शत्रु-मित्र सबमें एक ही आत्मा को (या अपनी ही आत्मा को) विद्यमान पाते हैं, उनके लिए कोई दूसरी सत्ता नहीं होती। इसलिए भय का भी कोई कारण नहीं होता[53]; क्योंकि दूसरी वस्तु की धारणा रहने पर ही उस वस्तु से भय की उत्पत्ति हो सकती है।[54]

---

48. श० स० वे० सि० (१४०)-'क्षमावतामेव··· द्रुमात्।'

49. गी० (१६/१)—'अभयं···आर्जवम्'; भा० (११/१६/३३)—'···अहिंसा···क्षमाभयम्'।

50. भा० (६/१७/२८)-'नारायणपराः···न कुतश्चन बिभ्यति··· तुल्यार्थदर्शिनः'।

51. तै० (२/६/१)–'···आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'।

52. गी० (५/२८)—'विगतेच्छाभयक्रोधो···मुक्त एव सः'; (६/१४)—'···प्रशान्तात्मा विगतभीः···मत्परः'; श्वे० (२/१४)—'···तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य···वीतशोकः'; (३/२०)–'अणोरणीयान्···वीतशोको···'।

53. क० (२/१/५; २/१/१२)—'य इमं···वेद आत्मानं··न ततो विजुगुप्सते'; ईश० (६/७) 'यस्तु सर्वाणि भूतानि···न विजुगुप्सते··· एकत्वमनुपश्यतः।'

54. पा० ब्र० (३१)—'स्वात्मन्येव···सदा पश्यति निर्भयः'।

इसप्रकार के 'भयरहित' मुनि जीवित अवस्था में ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[55]

श्रद्धा :

वेद तथा गुरु वाणी को सत्य मानकर स्वयं के अंतर में ग्रहण करना ही श्रद्धा है ; उसी की सहायता से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है।[55] गीता में श्रद्धा के महात्म्य का बार-बार उल्लेख किया गया है।

केवल अंधविश्वास के द्वारा आध्यात्मिक मार्ग पर अधिक दूर तक अग्रसर नहीं हुआ जा सकता ; इसके लिए 'परिप्रश्न'[56] या तत्वजिज्ञासा आवश्यक है। क्योंकि विचारों के[57] द्वारा सभी प्रश्नों का समाधान न होने तक शास्त्र या आचार्य से लब्ध ज्ञान के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। दूसरी ओर उसीप्रकार सद्उत्तर पाने पर भी जिसका संशय नहीं जाता, उसके लिए ज्ञान-लाभ दूर की वस्तु है, और उसे कभी शान्ति भी नहीं मिलती।[58] क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय अनुभूति के द्वारा लभ्य है, वह तर्क की वस्तु नहीं है।[59] भक्ति विहिन कट्टर शास्त्रचर्चा के द्वारा ब्रह्मज्ञान या मुक्ति पाना संभव नहीं है। ईश्वर, गुरु एवं शास्त्रों की वाणी

---

55. श० वि० (२५)–'शास्त्रस्य···सा श्रद्धा वस्तूपलभ्यते' ; श० अ० (८)-निगमाचार्य्यवाक्येषु···श्रद्धेति विश्रुता' ; वे० सा० (२४) ; श० स० वे० सि० (२१२)-'गुरुवेदान्तवाक्येषु···श्रद्धा'।

56. गी० (४/३४)-'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया···।'

57. श० अ० (११-१२)-'नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः विचारः सोऽयमीदृशः'।

58. गी० (४/३९-४०)-'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं···संशयात्मा विनश्यति··· संशयात्मनः।'

59. क० (१/२/८-९)-'···अतर्क्यमनुप्रमाणात्···नैषा तर्केण मतिरापनेया···।'

में जिसे भक्ति नहीं उत्पन्न होती, उसप्रकार के व्यक्ति को उपनिषदों की विद्या प्रदान करना निषिद्ध है।[60]

यदि वर्तमान शिक्षित समाज में साधारणतया संक्रामित कोई एक व्याधि है, तो वह है—अपनी धर्म के प्रति श्रद्धा का अभाव। इस अवस्था में सहज ही सिद्धि प्राप्त करने के अभिप्राय से सुलभ गुरु का आश्रय ग्रहण करना—वृक्ष को जड़ से काट कर शाखाओं में पानी सींचने की भांति व्यर्थ प्रयास के सिवा और क्या है ?

कर्मयोगी के लिए 'श्रद्धा' की दूसरी सार्थकता है। सृष्टिकर्ता ने सृष्टि करते समय उन कर्मों की भी सृष्टि की जिनके द्वारा मनुष्य अपना अभीष्ट प्राप्त कर सके।[61] इन सभी सृष्टि-सहायक कर्मों का समष्टिगत नाम 'यज्ञ' है।[61] अतएव मनुष्यों के असंख्य कर्मों में जो कर्म यज्ञ के या सृष्टि की रक्षा के अनुकूल हैं, उनसे 'कर्मबंधन' नहीं होता।[62] निष्ठा के साथ किसी प्रकार के फल (ऐहिक या पारत्रिक) की आकांक्षा न कर, उन सब कर्मों को भगवत् उद्देश्य से करने पर, उन्हें 'सत्कर्म' कहा जाता है।[63] लेकिन जो ईश्वर के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते, उनके लिए ईश्वरार्पण-बुद्धि से कार्य करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः दान, हवन, तपस्या इत्यादि सत्कर्मों से सिद्धि प्राप्त करने के लिए, उसे 'श्रद्धा'[64] या आस्तिक्य बुद्धि तथा ब्रह्मार्पण बुद्धि[63] द्वारा अनुप्रेरित होना होगा।

---

60. मुक्ति० (१/४५-४७)—'मद्भक्तिविमुखायापि शास्त्रगर्त्तेषु मुह्यते··· न संशयः।'

61. गी० (३/१०)-'सहयज्ञाः···इष्टकामधुक्।

62. गी (३/९)-'यज्ञार्थात्···समाचारः'।

63. गी० (१७/२७)-'यज्ञे···कर्मचैव तदर्थीयं···अभीधीयते'।

64. गी० (१७/२८)-'अश्रद्धया नो इह।'

इसप्रकार की श्रद्धा एवं निष्ठा के साथ कर्म करते-करते कर्मयोगी में ज्ञान का उदय होता है।[65] अर्थात् अहंकार विहीन होकर कर्म करते-करते वे यज्ञक्रिया इत्यादि के उपकरणों से लेकर सभी क्रियाओं एवं उनके लक्ष्यों में ब्रह्म का ही दर्शन पाते हैं।[66] इसप्रकार से, कर्मयोग का चरमलक्ष्य है सर्वत्र एवं सर्वभूत में ब्रह्म या एक ही परमात्मा का दर्शन।[67]

समाधान :

शम के अन्तर्गत छठवां सम्पद् समाधान है। ब्रह्म को ही एकमात्र लक्ष्य मानकर, एकाग्रचित्त से उस ब्रह्म में बुद्धि को संयुक्त कर देना ही समाधान कहलाता है।[68] कौतूहलवश शास्त्राध्ययन से तृप्ति हो सकती है, परन्तु समाधान नहीं होता।[68] इसके लिए आवश्यक है—इन्द्रियग्राह्य सभी विषयों से चित्त को संयत कर श्रवण-मनन निदिध्यासन के द्वारा एकमात्र भगवद् विषय में नियोजित कर देना।[69]

जिस प्रकार पूर्णरूप से एकाग्रचित्त न हो पाने पर धनुर्विद् के लिए लक्ष्य भेद करना संभव नहीं, उसी प्रकार साध्य वस्तु के प्रति अनन्यचित्त न हो पाने पर मुमुक्ष व्यक्ति को सिद्धि प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की एकाग्रता अर्जित करना अत्यन्त कठिन कार्य है। फिर भी

---

65. गी० (५/३३)-'···सर्व्वं कर्माखिलं···ज्ञाने परिसमाप्यते' ; (४/३९)—श्रद्धावान् लभते ज्ञानं···अधिगच्छति।'
66. गी० (४/२४)-'ब्रह्मार्पणं···ब्रह्म-कर्मसमाधिना'।
67. गी० (४/३३-३५)-'श्रेयान् द्रव्यमयाद्···द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि'।
68. श० वि० (२६)–सर्वदा स्थापनं···लालनम्' ; श० अ० (८) ; —'···चित्तैकाग्रं···समाधानमिति स्मृतम्' ; भा० (३/२८/६)-स्वाधिष्ण्यानामेकदेशे···समाधानं तथात्मनः'।
69. वे० सा० (२३)-'निगृहीतस्य मनसः···समाधिः'।

वैराग्य एवं मुमुक्षा की प्रवलता होने पर और ब्रह्मचर्य आदि बहिरंग तथा शम इत्यादि अन्तरंग साधना से सिद्धि प्राप्त करने पर, यह संभव हो सकता है।[70] इसप्रकार चित्त की एकाग्रता ही 'चित्तसमाधान'[70] है और मोक्ष की सहायक है।

चित्त की इसी अवस्था को राजयोग में समाधि कहा जाता है।[71] अर्थात् इस अवस्था में मन दूसरी सभी वस्तुओं का परित्याग कर केवलमात्र एक ही वस्तु के प्रति एकाग्रभाव से युक्त हो जाता है। इस स्थिति में ही जीवात्मा या परमात्मा की समता अथवा अभेद ज्ञान की प्राप्ति होती है।[72] क्योंकि, इस साधक के लिए जीवात्मा या परमात्मा के बीच इन्द्रिय तथा विषयजनित सभी प्रकार के अन्तराय समाप्त हो गए हैं। इसका प्रमाण हम 'योगी याज्ञवल्क्य' में पाते हैं कि, ज्ञानयोग का समाधान[73] तथा राजयोग की समाधि ये दोनों एक ही अवस्था हैं। ऋषि याज्ञवल्क्य समाधि को जीवात्मा तथा परमात्मा की समतावस्था कहकर ही चुप नहीं हुए, बल्कि उन्होंने कहा है कि, ध्यान के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा में संस्थापित करना ही समाधि का कार्य है।[74] यही सांसारिक बंधनों को विछिन्न करने का चरम उपाय है।[75]

---

70. श० स० वे० सि० (२२०-२२१)-'···चित्तस्य सम्यगाधानं अत्यन्ततीव्र-वैराग्यं···कारणम्'।
71. पा० यो० (वि० ११)-'सर्वार्थतैकाग्रतयोः समाधिपरिणामः' ; अ० ना० (३/१६)-'···यं लब्ध्वाऽप्यवमन्यते स समाधिः' (इसकी विवेचना पहले ही की जा चुकी है कि राजयोग की अष्टसाधना का शेष अंग समाधि है]।
72. योग० (१०७)-'समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।'
73. वि० वा० र० (२/३८३-३८६)।
74. यो० या० (१०/२-३)-'समाधिः···ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः··· वशो भवेत्'।
75. यो० या० (१०/१)-'समाधिमधुना···भवपाशविनाशनम्।'

भक्तियोग में भी, भगवान के मधुर रूप का ध्यान करते-करते साधक क्रमश: देह आदि के बोध को दूर कर तथा अपनी आत्मा एवं परमात्मा के एकत्व की उपलब्धि कर, परमात्मा में लीन हो ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करता है।[76] अतएव ज्ञान, भक्ति तथा राजयोग के माग भिन्न होते हुए भी उनका गन्तव्य स्थल एक है।

वृहदारण्यक में है कि, प्रजापति ने अपनी तीन श्रेणी की सन्तानों को (देवता, मनुष्य तथा असुर) 'द, द, द' इन तीन अक्षरों का उपदेश दिया था[77], अर्थात् दम, दान तथा दया का अनुशीलन करने को कहा था।

इन तीनों में दम की विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं ; दान तथा दया अवशिष्ट रह गए हैं।

दान :

दान को छांदोग्य के ऋषियों ने धर्म के प्रथम सोपान के अन्तर्गत रखकर धर्मसाधना में इसके महत्व को निर्दशित किया है।[78] याज्ञवल्क्य ने दान को 'नियम' के विशिष्ट अंग के रूप में अभिहित किया है।[79] परन्तु हमने पातंजल मत का अनुसरण करते हुए[80] 'नियम' अध्याय में मात्र पाँच साधनों की आलोचना की है। अत: इस प्रसंग में दान को नियमों का अन्यतम विधान मानकर उसकी व्याख्या की जा रही है।

---

76. भा० (३/२८/३-३६)-'ध्यायेत्···उपलब्धपरात्मकाष्ठः ।'

77. वृ० (५/२/१-३)-'त्रयाः प्राजापत्याः···दाम्यत दत्त दयध्वमिति··· शिक्षेद् दमं दानं दयामिति'।

78. छा० (२/२३/१)-'त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः··· ।'

79. यो० या० (२/१)-'तपः दानमीश्वरपूजनम्···व्रतम् ।'

80. पा० यो० (सा० ३२)-'शौचसंतोष···नियमाः'।

गीता ने इसे 'पवित्र' वस्तुओं में अन्यतम कहा है।[81] किसी प्रकार के फल अथवा उपकार की कामना न कर अथवा कष्ट का अनुभव न कर, लोकहितार्थ[82] एवं कर्त्तव्यबोध[83] से दान करने पर, ममत्वबोध का विनाश हो जाता है यह सहज ही मान्य है। इसलिए इसे पुरुष यज्ञ की दक्षिणा[84] कहा गया है।

ईषोपनिषद् के प्रथम मंत्र में जिस त्यागधर्म[85] का उपदेश दिया गया है, दान उसी का एक प्रधान अंग है।

मनु संहिता में दान को ही कलियुग का एकमात्र धर्म[86] कहा गया है, क्योंकि युग परिवर्तन के साथ मनुष्य की आयु कम होने के कारण तथा धर्म का प्रभाव कम हो जाने के कारण, तपस्या, ज्ञान या वैदिक यज्ञ आदि जो धर्मानुष्ठान सत्य, त्रेता तथा द्वापर युग के युगधर्म थे, वे कलियुग में दु:साध्य या अनुपयोगी हो गये हैं।

लेकिन यथा इच्छा दान शास्त्रानुमोदित नहीं होता। इसे धर्म के सोपान के रूप में अभ्यास करने के लिए कुछ निर्दिष्ट अनुशासनों को मानना होगा। इन अनुशासनों या दान के शर्तों का उल्लेख हम तैत्तिरीय उपनिषद्[88], योगी याज्ञवल्क्य[88] तथा गीता[89] में पाते हैं।

दान की सार्थकता के लिए निम्नांकित शर्त्त हैं—

क) जिस धन का दान करोगे वह न्यायानुसार अर्जित होना चाहिए। अत: डकैती द्वारा प्राप्त धन से दरिद्रों का पोषण करना 'दान' नहीं कहलाएगा।[79]

---

81. गी० (१८/५)-अर्थात्, जो कलुष को जलाकर चित्त को विशुद्ध कर देता है।
82. गी० (१७/२०)-'दातव्यमिति···स्मृतम्'।
83. म० भा० (अनु० अ० ११/२८४)-'···यज्ञार्थं विद्धि···लोकानां हितकामया'; (अनु० अ० ११/२९२)-'नास्ति यज्ञसमं दानं···'।
84. छा० (३/१७/४)-'अथ यत्तपो दानम्···दक्षिणा:।'
85. ईश० (१)-'···त्यक्तेन भुंजीथा:।'
86. मनु० (१/८६)'तप: परं···दानमेकं कलौ युगे।'

(ख) वस्तु का परिणाम चाहे जितना भी हो, उसे श्रद्धा की भावना से दान करना चाहिए।[87] विरक्ति के साथ देना उचित न होगा। गीता के अनुसार, अश्रद्धा के भाव से किया गया दान, ईहलोक या परलोक में, कहीं भी कोई फल प्रदान नहीं करता।[89]

(ग) सामर्थ्य के अनुसार ही दान करना चाहिये[87]; क्योंकि दूसरे से भिक्षा लेकर या कष्ट बोध से अपनी क्षमता के अतिरिक्त दान करने पर दाता ऋणग्रस्त हो कभी भी चित्तप्रसाद नहीं प्राप्त कर सकता है।

(घ) विनम्रता के साथ दान करना चाहिए[87] अर्थात् जिससे की दान से अहंकार[90] या धन का गर्व न उत्पन्न हो। यदि ऐसा न हो तो साधक दैवी सम्पद् को अपेक्षा आसुरी सम्पद् ही अधिक अर्जित करेगा। फिर मोक्ष तो दूर है, उसके लिए वे ही बंधनों के कारण बन जाएँगे।[91]

(ङ) दान के ग्रहीता को मित्रभाव से दान करना चाहिए।[87] क्योंकि अगर अनुकम्पा या ऊँच-नीच के भेद की भावना से दिया गया, तो फिर साधक समदर्शन की साधना से विच्युत हो जाएगा।[92]

(च) अयोग्य या अनधिकारी व्यक्ति को (जैसे, मद्यप, दुश्चरित्र

---

87. तं० (१/११/३)-'···श्रद्धया देयम्। ···श्रियादेयम्। ह्रया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्'; म० भा० (अनु० अ० ११/१४२-४३)-'आदि प्रभृति···श्रद्धावानास्तिकश्चैव···।'

88. यो० या० -'न्यायार्जितं···दानमेतदुदाहृतम्'; म० भा० (अनु० अ० ११/१४६-१५१)-'निर्दयाल्लभ्यते···तस्मान्न्यायागतेनैव दातव्यं···'।

89. गी० (१७/२८)-'अश्रद्धया···दत्तं···नो इह।'

90. गी० (१६/१५-१८)-'यक्ष्ये दास्यामि···अहंकारं बलं दर्पं···।'

91. गी० (१६/५)-निबन्धायासुरी मता···।'

92. म० भा० (अनु० अ० ११/२५६)-'···सम्मानपूर्वं संग्राह्यं :'।

व्यक्ति) को दान देना तथा सुपात्र व्यक्ति को दान न देना, दोनों ही अनुचित है।[93]

(छ) यज्ञार्थ दान देना ही सर्वोत्तम है (पंच यज्ञ का वर्णन पहले ही कर दिया गया है)[82]; क्योंकि विधाता ने समस्त सम्पदाओं की सृष्टि यज्ञ अथवा विश्व कल्याण के लिए की है।[74] अत: उपार्जित या प्राप्त धन से परिवार के आवश्यक व्यय का निर्वाह करने के उपरान्त जो बचे उसे भोग के लिए व्यय करना अथवा संचय करना मूर्खता है। क्योंकि लक्ष्मी चंचला होती हैं तथा इस प्रकार से धन का दुरुपयोग करना विधाता के अभिप्राय का विरोधी है।[94] जो कृपण व्यक्ति जीवन निर्वाह के अतिरिक्त अर्थ का संचय करते हैं अथवा भोग-विलास में खर्च करते हैं, उन्हें हिन्दू शास्त्रों में चोर (अर्थात् सामाजिक सम्पद् का आत्मसात्कारी) की संज्ञा दी गयी है[95], और कहा गया है कि वे पाप भक्षण करते हैं।[96] जो लोग साम्यवादी-समाज की स्थापना में हिन्दूधर्म को गतिरोध मानते हैं, क्या उन्हें यह ज्ञात है कि, पाश्चात्य सभ्यता के स्वल्पालोकित ऊषा में इस ब्रह्मावर्त के आर्य ऋषियों ने जिन देवताओं की उपासना के लिए स्रोत्र या सूक्त की रचनाएँ की थीं, उनके एक देवता 'दान' हैं तथा उनके ऋषि 'भिक्षु' हैं![97] दान-धर्म में क्यों देवत्व को आरोपित

93. म० भा० (शान्ति, २६/-३०-३१)-'अनहर्ते···पात्रे चाप्रतिपादनम्'; (अनु० अ० ११/१४८)-'-···जारश्चोरश्य···वर्जिता:···।'
94. म० भा० (शान्ति, २६/२५-२८)-'यज्ञाय सृष्टानि धनानि···तिष्ठति।'
95. गी० (३/१२)-'इष्टान् भोगान्···स्तेन एव स:'; भा०(७/१४/८)-'यावद् भ्रियेत् जठरं···स्तेनो दण्डमर्हति।'
96. ऋक्० (१०/११७/६)-'मोघमन्नं···केवलोघो भवति केवलादी'; मनु० (३/११८)-'अघं स केवलम्···भुङ्क्ते···विधियते'; (३/२८५)-विघसाशी···तथामृतम्'; गी० (३/१३)-'यज्ञशिष्टाशिन:··· पचन्त्यात्मकारणात्'।
97. ऋक् (१०/११७)१-९)-'न वा उ देवा:·· प्रणीत:।'

किया गया था, वह इस छोटे से सूक्त को पढ़कर ही जाना जा सकता है। दान, धर्म का निश्चित सोपान है, यह सुनकर जो इसे सहज साध्य समझते हैं, वे उपर्युक्त शर्तों का अवलोकन करके देख सकते हैं कि, शास्त्र सम्मत दान करना अन्य तपस्या के समान ही दुरुह कार्य है।[98] यहां तक कि, अशास्त्रीय दान (जैसे धर्मत्यागी व्यक्ति को दान) मोक्ष के अनुकूल होना तो दूर है, बल्कि नर्क का भी कारण बन सकता है।[99]

दया :

वृहदारण्यक[1] में प्रजापति ने अपने असुर या असुरप्रवृत्ति वाले पुत्रों को दया करने का उपदेश दिया है। गीता ने इसे 'दैवी सम्प-दाओं'[2] में अन्यतम कहकर अभिहित किया है ; फलतः मोक्ष की इच्छा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये ही इसका अनुशीलन एक आवश्यक कर्त्तव्य है। याज्ञवल्क्य ने दया को 'यम' साधना के अन्तर्गत रखा है।[3]

अहिंसा तथा दया दोनों ही मनुष्य इत्यादि सर्वभूतों के प्रति आचरणविधि है। अहिंसा नकारात्मक है, अर्थात् इससे हिंसा या शत्रुता न करना समझा जाता है। लेकिन दया शब्द निर्देशवाचक है, अर्थात् काया-मन-वाणी तथा कर्म के द्वारा समस्त प्राणियों के प्रति अनुग्रह करने की इच्छा को निर्देशित करता है।[4] दया से उत्पन्न

---

98. म० भा० (शान्ति, २६/८-'दानमध्ययनं यज्ञो निग्रहश्चैव दुर्ग्रहः···।,
99. म० भा० (शान्ति, २६/२९)-'ये स्वधर्मादपेतेभ्यः···जनाः।'
1. वृ० (५/२/३)।
2. गी० (१६/२)।
3. यो० या० (१/४९)-'अहिंसा···दयार्जवम्···यमा दश:'।
4. यो० या० (१/६२)-'दया भूतेषु···अनुग्रहस्पृहा···।'

एक दूसरे गुण का नाम करुणा है।[5] जिसे शत्रु मित्र के भेद का ज्ञान नहीं है, वे शत्रु को भी क्षमा कर देते हैं और वे सर्वभूत के प्रति समदर्शी होने के कारण दुःखी व्यक्ति के प्रति दयावान होते हैं तथा अज्ञान व्यक्ति के प्रति उनके मन में करुणा होती है। इन सम्पत्तियों के रहने पर ही सर्वोपकारक हुआ जा सकता है। इसीलिए भक्ति-शास्त्र में करुणा का उल्लेख एक स्वतंत्र भाव के रूप में हुआ है।

भक्ति मतानुसार भी, भगवत् कृपा की प्राप्ति के लिए सर्वभूत के प्रति दया[6] का भाव रखना अपरिहार्य है। क्योंकि सर्वभूतों के बीच वे भी निवास करते हैं।

इस ग्रन्थ में बार-बार कहा गया है कि, ब्रह्म के समान विशुद्धता तथा निष्कलुषता को अर्जित करना ही हिन्दू धर्म की सभी साधनाओं का मूल उद्देश्य है।[7] जीवात्मा की इसी ऊर्ध्वगति के लिए विभिन्न उपायों का निर्देश इस अध्याय में वर्णित हुआ है। जो यम-नियम-शम-दम इत्यादि सभी अर्गलों को सफलता पूर्वक अतिक्रमण किए हैं, वे लक्ष्य के कितने निकटवर्ती हो गए हैं, यह सहज ही अनुमेय है। परवर्ती अध्याय में इन सभी अनुशासनों की फलश्रुति तथा मूल्यांकन की और भी विशद् विवेचना की जाएगी।

5. गी० (१२/१३)-'···मैत्रः करुण एव च'; भा० (३/२५/२१) 'तितिक्षवः कारुणिकाः···साधुभूषणाः'; (११/११/३१)–अमानी··· कारुणिकः कविः'; मं० (म० २२/७७)···करुण मैत्र···मौनी।'
6. भा० (७/६/१९-२४)-'न ह्यच्युतं प्रीणयतो···तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत···'।
7. वृ० (४/४/६); नृ० उ० (५/३)-'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।'

सप्तम अध्याय

जीवन्मुक्ति

अहं लोप तथा भेदबुद्धि :

सृष्टिकर्ता स्वयं सृष्ट सभी जीवों तथा पदार्थों में अनुप्रविष्ट हो अन्तर्यामी रूप में विद्यमान हैं[1]। फिर भी मनुष्य का सृष्टिकर्ता से विच्छिन्न होकर संसारिकता के चक्र में आबद्ध होने का आदिम कारण मात्र एक ही है।[2] वह यह है कि, 'परमात्मा से मेरी एक स्वतंत्र सत्ता है' इस प्रकार की अवधारणा[2] अथवा अहंबोध। मूलत: इस प्रकार के स्वतंत्र अस्तित्व बोध का कारण यही है कि, ईश्वर को अनेक रूपों में प्रकाशित होने के लिए माया एवं अविद्या का आश्रय ग्रहण कर विभिन्न नाम-रूप उपाधियों की सहायता लेनी पड़ती है।[3] इस प्रकार के भेद का सृजन न होने पर ब्रह्माण्ड में इतने रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श के विचित्र भण्डार दिखाई नहीं

---

1. तै० (२/६)-'···तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' ; वृ० (२/५/१८)-'स वा अयं पुरुषः···पुरिशयो···नैनेन किंचना संवृतम्' ; (१/४/७)-'···स एष इह प्रविष्टः' ; छा० (६/२/१-६/३२)-'सदेव···आसीदेकमेवाद्वितीयम्···अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' ; क० (२/२/१०)-'···एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं···वहिश्च' ; (१०/८७/५०)–'···यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य··· ।'
2. श्वे० (१/६)-'सर्वाजीवे···पृथगात्मानं प्रेरितांच मत्वा···' ; मैत्री (३/२)-'···अभिभूतः प्राकृतेर्गुणैः···संमूढत्वं प्रयातः···'अहं सः' 'ममेदं' इत्येवं मन्यमानो निबध्नाति आत्मनात्मानम्···परिभ्रमति' ।
3. मु० (१/१/९)-'···तस्मादेतत् ब्रह्मनाम रूपमन्नंच जायते' ; भा० (८/६/११)-'त्वं माययात्माश्रयाय···तदनुप्रविष्टः' ; (३/१०/१२)-'ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमुर्त्तिना ; वृ० (१/४/७)-'···नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते···न पश्यन्ति···' ; छा० (६/३/३)···'सेयं···अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ।'

देते। अत: सृष्टि के उपरान्त ही प्रकृति अथवा अविद्या के वशीभूत होकर जीव स्वयं के शरीर को परमात्मा से स्वतंत्र अथवा द्वैत सत्ता समझ 'मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ' इत्यादि अवधारणाएं करता है।[4] अपने नश्वर शरीर को ही 'मैं' समझने के कारण[5] स्वयं के उस प्रकृत सत्ता परमात्मा को फिर से खोज नहीं पाता।[6] यह अहंकार अविद्या जनित भेदबुद्धि से उत्पन्न होता है तथा मेघ की भाँति अपने अन्तर में स्थित आत्मा रूपी सूर्य को आच्छादित किए रहता है, अर्थात् जीव के लिए स्वरूप उपलब्धि के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है।[7] ब्रह्म का अंश होने पर भी, यह भेद बुद्धि ही जीव को संसारिकता के चक्र में उलझाए रखती है।[7-8]

'अह' से 'ममत्व' बोध उत्पन्न होता है। अर्थात् मैं कर्ता हूँ, मैं धनवान हूँ, मेरे पास भौतिक संसाधन हैं, मेरे पुत्र परिवार हैं इत्यादि अहं की बुद्धि उत्पन्न होती है। जितने दिनों तक यह बुद्धि रहती है, उतने दिनों तक स्वार्थ रहता है, उतने दिनों तक कामना-युक्त कर्म रहता है और उतने ही दिनों तक संसार बंधन भी रहता है।[9]

---

4. वृ० (२/४/१४ ; ४/५/१५)-'यत्र हि द्वैतमिव···इतरं विजानाति' ; भा० (८/१२/८)'···एकत्वमेव अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो··· ।'
5. ऐ० (१/३/१३)-'स जातो भूतान्यभिवैख्यत्··· ; छा० (६/३/२)-'सेयं···नामरूपे व्याकरवाणीति ।'
6. वृ (१/४/७)-'···तं न पश्यन्ति··· ।'
7. ई० (१/२/५) ; मु० (१/२/८)-'अविद्यायामन्तरे···यथांद्धा:' ; भा० (वृ/४/३२-३३)-'यथा घनोऽर्क:···यदाह्यहंकार: उपाधिरात्मनो··· नश्यति···' ।
8. छा० (८/१२/२)-'आत्तो वै सशरीर: प्रियाप्रियाभ्यां···अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत: ।'
9. भा० (११/२/८/१५)-'शोक-हर्ष-भय-क्रोध···अहंकारस्य दृश्यन्ते···' ; (१२/४/३६)-'यथा घनोऽर्क एवं त्वहं···आतमबंधन: ।'

अविद्या, देहात्मबोध, अहंकार :

फलतः अविद्या अथवा अज्ञानता ही मनुष्य के बंधनों का कारण है।[10] स्वयं के स्वरूप के विषय में बोध का अभाव ही यह अज्ञानता है।[11] अज्ञानी व्यक्ति अपने प्रकृतिसृष्ट शरीर को ही 'मैं' अथवा 'अहं' समझते हैं। इसे ही देहात्मबोध कहा जाता है। यह बोध उत्पन्न होते ही वे 'मैं करता हूँ' ऐसा सोचकर स्वयं को सभी कर्मों का कर्ता समझते हैं। इसे ही 'अहंकार'[12] अथवा कर्तृत्वाभिमान कहते हैं। जबतक देहात्मबोध रहता है तब तक भौतिक शरीर के प्रति आसक्ति भी रहती है। परिणामस्वरूप इन्द्रियभोग्य रूप-रस इत्यादि विषयों के प्रति भी आसक्ति रहती है,[8] एवं उसी भोग की 'असीम तथा दुर्निवार' कामना ही मनुष्य को बार-बार जन्म ग्रहण करने के लिए बाध्य करती है।[13]

आत्मस्वरूप ज्ञान :

यह 'अहंकार' कुछ मिथ्या धारणाओं[14] पर आधारित होता है। प्रथमतः यह सत्य नहीं है कि शरीर ही मूलतः मेरा 'अपना' है,

---

10. मु. (१/२/८-९)-'अविद्यायामन्तरे···वयं कृतार्था···तेनातुराः क्षीण-लोकाश्च्यवन्ते' ; भा. (११/११/७)-'···योऽविद्यया···नित्यबद्धो विद्यामयो...नित्यमुक्तः ।'
11. भा. (८/१२/८)-'··अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो··· ।'
12. गी. (३/२७)-'प्रकृतेः··अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' ; भा. (३/२७/२)-'स एष यर्हि·· मन्यते' ; श. वि. (९४)-'अत्राभिमानादह-मित्यहंकृतिः ।'
13. श. स. वे. सि. (४६२, ५१०)-'···संचरन्ति विमोहतः···आवृत्ति-लक्षणम्' ; (३११)-'देहात्मना संस्थित एव कामी ··भेदप्रसक्त्या भवबंधहेतुः' ; (२९८)-'सन्त्यन्ये प्रतिबद्धाः·· तेषामेव मूल··· 'भवत्यहंकारः' ; (१९४)-'देहात्मधीरेव···जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम्··· न पुनर्भवाशा ।'
14. श. वि. (३९१-३९७)-'वदत्येष भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया··· पुर्णमद्वमक्रियम् ।'

क्योंकि आत्मा की अनुपस्थिति में शरीर का कोई भी अंग अथवा इन्द्रियाँ कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकतीं।[15] द्वितीयत: संसार में मूलत: केवल एक ही वस्तु का अस्तित्व है[16] वे ब्रह्म हैं और वे ही जीवों के स्वरूप में आत्मा के रूप में विद्यमान हैं। अतएव आत्मा नहीं है इसप्रकार की किसी वस्तु में (अनात्मा, जैसे शरीर, स्त्री-पुत्र-परिवार) 'अहं' की कल्पना करना माया रूपी मदिरा से उत्पन्न मिथ्या दृष्टि है। उस मिथ्या भेद बुद्धि को दूर कर पाने पर ही जीव का स्वरूप[17] प्रकाशित हो ब्रह्मात्मैकत्व[18] की प्राप्ति होती है।[19]

माया, अविद्या :

इस प्रसंग में दो प्रकार के अहं को ध्यान में रखना आवश्यक है। जीव स्वरूपत: ब्रह्म अथवा परमात्मा से अभिन्न है, क्योंकि, परमात्मा ही माया की सहायता से सृष्ट जीव-जगत् के रूप में प्रकाशित हुए हैं।[20] जो इस आत्मतत्व अथवा अभेदत्व का ज्ञान

15. के. (१/१-२)-'केनेषितां···श्रोत्रस्य श्रोत्रं···अमृता भवन्ति।'
16. श. स. वे. सि. (६९०)-'आधारभूत:··सत्यं परं केवलमेव वस्तु'।
17. छा. (८/१२/३)-'एवमेवैष ··अस्माच्छरीरात् समुत्थाय···स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते··नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं···'; श. वि. (३००)-'अहंकारग्रहान्मुक्त: स्वरूपमुपपद्यते···स्वयंप्रभ:।'
18. श. वि. (२०२, २०५)-'विनिवृत्तिर्भवेत्···ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं···सदात्मना स्फूटं प्रतीतिरेतस्य भवेत् प्रतीच:···'; (५६)-'···ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्ष: सिध्यति नान्यथा।'
19. भा. (११/२८/३३-३४, ३७)-'पूर्वं गृहीतं···अज्ञानमात्मन्यविविक्तमंग निवर्त्तते तत् पुनरीक्षयैव···नापि विसृज्य आत्मा··यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं ···पण्डितमानिनाम्'।
20. गी० (७/५-६)-'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं···जगत: प्रभव:···'; (७/१४)-'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया···'; श्वे० (४/९-१०) -'अस्मान्मायी सृजते···मायया सन्निरुद्ध:···मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्···।'

प्राप्त कर लिए हैं वे अकृत्रिम रूप से कह सकते हैं—'अहं ब्रह्मास्मि'[21] या 'सोऽहं। परन्तु जितने दिनों तक अज्ञानता के कारण[22] आत्मस्वरूप आवृत रहेगा उतने दिनों तक जीव शरीर को ही आत्मा अथवा' मैं' समझता रहेगा। इस भ्रान्तिपूर्ण देहात्मबोध में जो 'अहं' है, उसका परित्याग कर पाने पर ही आत्मस्वरूप मेघ से मुक्त सूर्य के समान प्रकाशित हो उठेगा ;[23] और इसके लिए ब्रह्म-जिज्ञासा आवश्यक है।

---

21. बृ. (१/४/१०)—'···य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।'
22. इस अज्ञानता को 'अविद्या' कहते हैं। ब्रह्म जिस माया की सहायता से संसार की रचना करते हैं, उसी माया का एक कार्य यह भी है कि जीव के ज्ञान को अविद्या अथवा अज्ञानता के द्वारा आवृत कर देना (गी. ५/१५-'···अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः)'। इसी अविद्या के प्रभाव से जीव स्वयं को ब्रह्म से स्वतंत्र अनुभव करता है (गी. ७/११)। तथा 'माया के द्वारा अपहृत ज्ञान' के फलस्वरूप मनुष्य में आसूरी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं (गी. ७/१५)। लेकिन, चूंकि यह माया ईश्वर की ही शक्ति है, इसलिए इसके आवरण को भेद पाना अत्यन्त कठिन है, इसे एकमात्र भगवत् साधना के द्वारा ही दूर किया जा सकता है (गी. ७/१४)। [यहा यह द्रष्टव्य है कि, गीता से उद्धृत प्रत्येक श्लोक में ही 'अविद्या' के अर्थमें 'माया' शब्द प्रयुक्त हुआ है ; इसी प्रकार का श्लोक भागवत् में भी है—भा. (७/६/३१)—'त्वं वा इदं···माया यदात्मपरबुद्धिरियं, ह्यपार्थां' ; (८/५/३०)-'न यस्य कश्चातितर्त्ति मायां यया जनो मुह्यति वेदनार्थम्···' ; (१/३/३३-३४)—'यत्रेमे सदसद्रूपे···अविद्यायात्मनि कृते···दैवी माया···महीयते']
23. भा (११/२८/३५)—'यथा हि···हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ; छा. (८/१२/३)-'एवमेवैष···अस्माच्छरीरात् समुत्थाय··· स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते···।'

भेदबुद्धि से उत्पन्न अहं को विनष्ट कर आत्मदर्शन या स्वरूप-दर्शन करने पर 'मुक्ति' अथवा 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है।[24] क्योंकि हृदय कंदरा में स्थित आत्मा अभिन्न है।[24] मूलतः यह अविद्या भी सृष्टि कर्ता के अभिप्रायानुसार हो रहती है,[25] क्योंकि ऐसा न होने पर यह संसारलोला निरंतर प्रवाहशील नहीं रह सकती। कारण, कि जिस क्षण जीव अपने स्वरूप को समझ लेगा, उसी क्षण उसके सभी बंधन विनष्ट हो जाएंगे।[25]

अतएव मुक्ति के लिए भेदबुद्धि से उत्पन्न अहंकार का लोप होना आवश्यक है। जबतक देहाभिमान रहता है तबतक असत् अथवा पापकर्म का अनुगमन कर अज्ञान व्यक्ति सन्ताप भोगते हैं तथा कृतकर्मों के फलस्वरूप जन्ममृत्यु के चक्र में आबद्ध रहते हैं। लेकिन जब वे समझ पाते हैं कि उनका स्वरूप शरीर नहीं बल्कि आत्मा है, तब वे पाप-पुण्य, सत्-असत् से ऊपर उठ जाते हैं। और तब उन्हें उपलब्धि होती है कि, इस ब्रह्माण्ड में आत्मा के अतिरिक्त कोई भी वस्तु अथवा क्रिया नहीं है और वह आत्मा बंधन रहित, मुक्त तथा आनंदमय है। अपने अन्तर में ही उस आनंद के उत्स को देखकर वे कृतकर्मों के फल और उससे उत्पन्न शोक संताप से मुक्त हो आत्मतृप्ति प्राप्त करते हैं।[26] यही ब्रह्मविद्या है जिसके द्वारा मोक्ष

---

24. क. (२/१/१५)—'यथोदकं···तादृगेव भवति' ; श्वे. (२/१५)—यदात्मतत्त्वेन···मुच्यते सर्वपाशैः' ; भा. (२/१०/६)-'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।

25. भा. (१२/४/३१-३२)-'यथा घनोऽर्कः ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबंधनः ···यदाह्यहंकारः उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति···' ; श. वि. (३४५)-'सम्यग्विवेकं···छिनत्ति मायाकृतमोहबंधं···पुनर्न संसृतिः।,

26. तै. (२/९)—'···किमहं साधु नाकरवम्···य एवं वेद'···इत्युपनिषत्।

की प्राप्ति होती है। अर्थात् उस आनंदस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अमृतत्व की प्राप्ति की जा सकती है।[27]

द्वैत उपासना, अद्वैत ज्ञान :

सुनने में कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होते हुए भी, अहं के लोप होने पर साधक को फिर उपासना तक की आवश्यकता नहीं रहती। वेदान्त के मतानुसार इसका कारण अत्यन्त सहज है। जबतक 'मैं' के रुप में पृथक सत्ता का ज्ञान रहता है तबतक 'तुम' के रूप में भिन्न वस्तु के अस्तित्व की धारणा की जा सकती है; तथा उसी 'तुम' की, वृहत्तम सत्ता के रूप में, उपासना की जा सकती है। समस्त उपासनओं की विधियाँ इसी द्वैततत्व के ऊपर प्रतिष्ठित हैं,[28] लेकिन साधक की नाम-रूप-उपाधि रूपी पृथक सत्ता केवल देहाभिमान से मुक्त होने पर ही समाप्त हो जाती है।[29-30] तब वे सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्ममय देखते हैं, और यह भी देखते हैं कि स्वयं में तथा सम्पूर्ण विश्व में एक ही आत्मा प्रकाशित हो रही है। अतः इस अवस्था में कौन किसे जानेगा, किसे देखेगा अथवा किसकी उपासना करेगा?[28] इस प्रकार साधक अहं का विनाश कर

---

27. तै. (२/७)—'···रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति···प्रतिष्ठां विन्दते···'; के. (२/४)–'प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।'
28. वृ. (२/४/१२ ; ४/५/१५)—'यत्र हि द्वैतमिव भवति···यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्···तत् केन कं विजानीयात्···' ; (गी. ४/२४)-'ब्रह्मार्पणं ब्रह्मकर्मसमाधिना।'
29. वृ. (२/४/१२; ४/५/१३)—'···तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति ···'; मु. (३/२/८)-'यथा नद्यः···तथा विद्वान्नामरुपाधिमुक्तः···पुरुषमुपैति दिव्याम्'।
30. महोपनिषत् (५)/८८-९६)—'अहं सर्वमिदं···अथ ते अपि संत्यज्य··· परमे वाधिरोहति' ; छा. (६/८/७ ; ६/९/४ ; ६/१०/३ ; ६/११/३ ; ६/१२/३ ; ६/१३/३ ; ६/१४/३ ; ६/१५/३ ; ६/१६/३)-···स आत्मा तत्त्वमसि···'; वृ. (१/४/१०)—'···अहं ब्रह्मास्मि'।

समुद्रजल में निक्षिप्त नमक के समान ब्रह्म में विलीन हो, अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।[31] परन्तु इसप्रकार सर्वभूत में ब्रह्मदर्शन कर पाने में समर्थ नहीं हो पाने तक निरन्तर उपासना करनी होगी।[32] भेदबुद्धि से उत्पन्न द्वैत उपासना से अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति का निर्देश ही हिन्दूधर्म की मर्मवाणी है। उपासना के द्वारा ही अहबोध की समाप्ति होगी एवं परमात्मा के साथ अभेदत्व की उपलब्धि होगी।[33] उसी से अमृतत्व अथवा मुक्ति की प्राप्ति भी होगी।[34] जो इस भेदज्ञान को दूर कर पाए हैं, वे 'अभय' आनंदमय हो गए हैं।[35]

जबतक देहात्मबोध नहीं समाप्त होता तबतक आत्मज्ञान अथवा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, कुछ भी संभव नहीं है। यह शरीर ही 'अहं' एवं कर्ता है। इस बोध को ही अहंकार कहा जाता है।

अत: इस अहंकार को निर्मूल करने का साधन कर्मयोगी,[36] ज्ञानयोगी[37], अथवा भक्तियोगी सभी के लिए समान रूप से

---

31. वृ. (४/५/१३-१७)-'स यथा सैंधवघनः···एतावदरे खल्वमृतत्वमिति···'; प्रश्न. (६/५)-'स यथेमा नद्यः···भिद्येते तासां नामरूपे···'।
32. भा. (११/२६/१७)-'यावत् सर्वेषु भूतेषु ··तावदेवमुपासीत···'।
33. भा (१/३/३४)—'यद्येषोपरता···महिम्नि स्वे महीयते', ; (३/२८/३५-३६)—'मुक्ताश्रयं···प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः।'
34. श्वे. (१/६)—'···जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' ; (२/१५)—'यदात्मतत्त्वेन ···मुच्यते सर्वपाशैः'; मु. (३/१/२)—'समाने वृक्षे जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं ···वीतशोकः'
35. तै. (२/७/२)—'···रसं ह्येवायं लब्ध्वा···सोऽभयं गतो ··यदा··· एतस्मिन्नुदरमंतरं कुरुते··तस्य भयं भवति' ; (२/६/२)—'···आनंद-ब्रह्मणो विद्वान विभेति कुतश्चनं।
36. गी. (३/२७) ; भा. (३/२७/२)-अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।'
37. गी. (१३/२६)—'प्रकृत्यैव तु कर्माणि··आत्मानमकर्तारं स पश्यति'; भा. (११/११/६-१०)—'इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु···कर्तास्मीति निबद्यते।,

आवश्यक है। अहंकार एक आसुरी सम्पद[39] है जा मनुष्य को बार-बार हीन जन्मों के माध्यम से पतित करता है। दूसरी ओर जो नर सम्पूर्ण रूप से अहंकारादि का परित्याग कर ममत्व बोध से रहित हो गए हैं, वे ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के योग्य हो जाते हैं।[40] एकात्म ज्ञान के फलस्वरूप साधक ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाते हैं।[41] उस समय अनंत सत्ता में विलीन होने के कारण जीवात्मा के क्षुद्र अहं की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जाती।[42]

त्याग :

सन्यासमार्गी उपनिषदों ने त्याग को उच्चतम स्थान दिया है। उनके अनुसार केवल त्याग के द्वारा ही अमृतत्व अथवा मोक्षप्राप्ति की जा सकती है।[43]

हालाँकि इस त्याग का अर्थ दान करना नहीं है[44]—यह निवृत्ति

---

38. गी. (१३/७-११)—'अमानित्वं···अनहंकार···अन्यथा' ; भा. (३/२७३-१६)—'एवं त्रिविदहंकारो···अनुग्रह: ।' '
39. गी. (१८/१८-२०)—'अहंकारं··अधमां गतिम् ।'
40 गी. (१८/५३)—'अहंकारं विमुच्य···ब्रह्मभूयाय कल्पते ।'
41. मु. (३/२/५-७)—'सम्प्राप्यैनमृषयो···सर्वमेवाविशन्ति···परेऽव्यये सर्वं एकीभवन्ति ।'
42. बृ. (४/५/१३)-'···न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' ; (४/४/१४)-'यस्यानुवित्त:··· स उ लोक एव' ; भा. (१/३/३३)—'यत्रेमे सदसद्रूपे··तद्‌ब्रह्मदर्शनम् ।'
43. कै. (१/२-३); ना. (ख) (१२/१४-१५)-'···त्यागेनैके-अमृतत्वमानशु: ···सर्वे'। इन दोनो उपनिषदों के मंत्रों की भाषा का साम्य ध्यान देने योग्य है।
44. जो इतने नि:स्व हैं कि दान करने के लिए उनके पास कुछ नहीं बचा, अथवा जो सर्वस्व दान कर रिक्त हो गए हैं, उन्हें भी त्यागी नहीं कहा जा सकता, जबतक कि उनके अन्तर से सभी प्रकार के वित्त, ऐश्वर्य, तथा विषय-वासनाओं के सुखों का समूल विनाश नहीं हो जाता है। संक्षिप्त रूप से कहा जा सकता है कि यह त्याग तथा दान से भी बहुत ऊँचे स्थान पर स्थित होता है।

का शीर्षस्थानीय सन्यास मार्ग है। श्रद्धा-भक्ति-ध्यान इत्यादि के द्वारा जिस प्रकार से ब्रह्म को जाना जाता है, उसी प्रकार समस्त कामनाओं-वासनाओं तथा यज्ञ इत्यादि बाह्य क्रियाकाण्डों का परित्याग कर परमहंस-वृत्ति अंगीकार करने पर भी ब्रह्म-दर्शन होता है।[43] सभी हृदयग्रंथियों के विनष्ट हो जाने पर सर्वत्यागी सन्यासी सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाते हैं।[45]

अन्य उपनिषदों ने वैदिक क्रियायों के वर्जन या कर्महीनता को नहीं, परन्तु पूर्णरूपेण कामनाओं के वर्जन को ब्रह्मप्राप्ति का उपाय कहा है।[46] इस प्रकार के मानव समस्त इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं तथा किसी भी प्रकार की प्रार्थना नहीं करते।[47]

कर्मफल त्याग :

समन्वयधर्मी गीता के अनुसार, जिस त्याग के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है वह नैष्कर्म्य अथवा कर्महीनता नहीं है, क्योंकि जीव-देहधारियों के लिए पूर्णरूप से कर्मों का परित्याग करना संभव नहीं है। कोई भी कर्म क्यों न करें, उससे फल की आशा न कर अनासक्त रूप से करने पर वही मोक्ष का कारण बन जाता है।[48] अतएव अमृतत्व की प्राप्ति का उपाय 'कर्मफल त्याग' है।[49] यज्ञ-दान-तपस्या इत्यादि कर्म किसी प्राप्ति की (लौकिक अथवा

45. ना. प. (६/१६)—'···सर्वक्रियाकारकनिवर्त्तको···सर्वसंसारं विसृज्य न स पुनरावर्त्तते···तत्कैवल्यमिति ··'; क. (२/३-१५)—'यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः अथ मर्त्योऽमृतो भवन्ति।'
46. तै. (२/८/३-६)—'···श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य···अस्माल्लोकात् प्रेत्य आत्मानमुपसंक्रामति'।
47. क. (२/१/१-२)—'कश्चिद्धीरः···पार्थयन्ते।'
48. गी. (४/२०-२२)—'त्यक्त्वा कर्मफलासंगं···नैव किंचित् करोति सः··· कृत्वाऽपि न निबध्यते।'
49. गी. (१२/१२)—'श्रेयो हि···कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।'

अलौकिक) आशा से करने पर वे बन्धनों के कारण बन जाते हैं, लेकिन अनासक्त रूप से करने पर मोक्ष के कारण बनते हैं। कर्मफल का त्याग केवल कर्मयोग का ही नहीं बल्कि भक्तिमार्ग का भी सोपान है।[50]

पुन: निष्काम भाव से अथवा फल-त्याग पूर्वक कर्म करने की शिक्षा के लिए ज्ञानयोग की सहायता आवश्यक है। 'मैं कर्ता नहीं हूँ,[51] बल्कि ईश्वर ही एकमात्र कर्ता हैं, इसलिए कर्मफल में मेरी कोई स्पृहा नहीं है'—इस प्रकार का ज्ञान होने पर (अर्थात् अहंकार की समाप्ति होने पर) कोई भी कर्म बंधन नहीं बनता।[53] इस प्रकार के ज्ञानोदय के उपरान्त जो निष्काम भाव से कर्म करते हैं, उनके द्वारा किया गया कर्म 'अकर्म' (अर्थात् कर्म नहीं है) तथा वे ही मूलत: सन्यासी हैं,[53] वे ही त्यागी हैं।[54] दूसरी ओर जिसमें वैराग्य नहीं उत्पन्न हुआ है, वह व्यक्ति यदि सन्यास ग्रहण कर कर्म त्याग करता है, तब भी उसका 'अकर्म' बंधनकारी कर्मों में परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि जीवित रहने हेतु कुछ सामान्य कर्मों को करने के लिए वह बाध्य होता है। फलत: देहाभिमान कामना तथा अहंकार रह ही जाता है, जो बंधनों का कारण बनता है।[55]

---

50. गी. (१२/१६-१७)—'सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः···शुभाशुभ-परित्यागी ··स मे प्रियः'; महा. (शान्ति) (२०१/१३-१४)-'एभिर्विमुक्तः ···निराशिषं ब्रह्मपरं ह्यवैति।'
51. कथा (१/१२५ ; ५/६)।
52. गी. (४/१४)—'न मां मर्माणि···न स बध्यते' ; (४/३७)—'···ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' ; (४/४१)—'···योगसंन्यस्तकर्माणं···आत्मवन्तं न कर्माणि निवध्नन्ति···।'
53. गी. (६/१)—'···अनाश्रितः कर्मफलं ··स सन्यासी···'।
54. गी. (१८/११)—'···यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।'
55. गी. (३/६)—कर्मेन्द्रियाणि संयम्य मिथ्याचारः स उच्यते' ; भा. (११/१८/४०-४१)-'यस्त्वसंयतषड्वर्गः ··ज्ञानवैराग्यरहितः विहीयते।'

निष्काम कर्म :

यह आपात-विरोधी प्रतीत हो सकता है कि जो कर्म सांसारिक बंधनों के कारण बनते हैं, पुनः वे ही कर्म मुक्तिमार्ग के साधन भी हैं। लेकिन मूलतः ऐसा नहीं है। मानव के शरीर तथा मन की संरचना इसप्रकार से हुई है कि, किसी भी देहधारी मनुष्य के लिए एकक्षण भी पूर्णतया निष्क्रिय रहना अत्यन्त कठिन है।[56] भूख-प्यास का निवारण, नित्य कर्मादि तो दूर की वस्तु हैं—'जो कुछ किया जाय' यदि वही कर्म हो तो फिर निःश्वास-प्रश्वास इत्यादि जिन क्रियायों को न करने पर प्राणधारण संभव नहीं, वे भी तो कर्म हैं। अतः आत्यन्तिक कर्मशून्यता के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना संभव नहीं।[57] कर्म किस प्रकार से किया जा रहा है उस पर ही निर्भर करता है कौन सा कर्म बंधन और कौन सा मोक्ष का कारण बनेगा।[58]

कर्मयोग :

ब्रह्म को पाने के लिए एकाग्रता आवश्यक है। लेकिन चंचलता मन का स्वाभाविक गुण होने के कारण वह एक विषय से दूसरे विषय की ओर निरंतर दौड़ता रहता है।[59] अतः ब्रह्म में स्थिर करने के लिए मनको इस चंचलता से निवृत्त करना होगा। उसका सर्वप्रथम उपाय है— इन्द्रियों को कर्म में निविष्ट रखना, कारण वे मन की वाहक हैं। हालांकि कर्मों से ही चंचलता उत्पन्न होती है; किन्तु वह कर्म के कारण नहीं उत्पन्न होती, बल्कि इसके मूल में कामनाओं के विद्यमान होने के कारण मन अशान्त रहता है; वह

56. गी. (३/५)—'न हि कश्चित्···प्रकृतिजैर्गुणैः।'
57. गी. (३/४)-'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं···समधिगच्छति'।
58. गी. (४/१४-२२) — 'न मां कर्माणि लिम्पंति ··न निबध्यते।'
59. गी. (६/२६)—'यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्···'; (६/३४)—चंचलं हि मनः···सुदुष्करम्।'

वासना ही एक विषय से दूसरे विषय की ओर दौड़ाती रहती है। अतः एकाग्रता लाने के लिए निष्क्रियता नहीं बल्कि कर्मफल त्याग कर या निस्पृह हो कर कर्म करना आवश्यक है।[61] इसे ही 'कर्मयोग' कहा जाता है।[61]

वैराग्य :

अतः त्याग साधना का प्राथमिक उपादान वैराग्य है। सभी प्रकार के इन्द्रियग्राह्य विषयों के प्रति वितृष्णा तथा उनके विरूद्ध मन को वशीभूत करना ही वैराग्य कहलाता है।[62] मन को इसप्रकार से वश में कर पाने पर ही वासनाओं से रहित हुआ जा सकता है[63]। ज्ञानी जानते हैं कि, देहात्मबुद्धि से ही मिथ्या अहम्बुद्धि उत्पन्न होती है तथा उसी बुद्धि से संकल्प उत्पन्न होता है,[64] और संकल्प से कामनाओं का जन्म होता है।[65] असुन्दर या अनित्य वस्तु अर्थात् ईन्द्रियग्राह्य कामिनी-कचन को सुन्दर मान कर उसकी चिन्ता करना ही संकल्प कहलाता है। विषय का ध्यान करते करते ही उसके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। और तब उसे पाने की इच्छा होती है; इसे ही काम कहते हैं।[66]

---

60. गी. (२/६०)—'···इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'।
61. गी. (६/१८)—'··· निस्पृहः सर्वकामेभ्यो···तदा, ; गी. (४/१८)—'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्···स युक्तः' ; (२/४८)-'योगस्थः कुरु कर्माणि··· समत्वं योग उच्यते'।
62. पा. यो. (स. १५)-'···विषयवितृष्णस्य···वैराग्यम्।'
63. गी. (६/३५-३६)–,असंशयं··वैराग्येन च गृह्यते · वश्यात्मना···।'
64. भा. (११/१३/९-१०)—'अहमित्यन्यथाबुद्धिः···ततः कामो···दुर्मतेः।'
65. गी. (६/२४)—'संकल्पप्रभवान् कामान्···।'
66. गी. (२/२६)-,ध्यायतो विषयान्···संगात् संजायते कामः' ; भा. (११/१३/१७)—'गुणेष्वाविपते चेतो···' ; वृ. (१४/१७)—'··· सोऽकामयत जाया मे स्यात्···वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय···अकृत्स्न एव···मन्यते।'

यह काम ही मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करातो है। इसलिए काम पर विजय प्राप्त करने के लिए मन को वशीभूत करना आवश्यक है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि, इस साधना का प्रथम सोपान है अहकार का लोप अर्थात् इस प्रकार का ज्ञान कि मेरा स्वरूप यह शरीर नहीं, बल्कि मेरो आत्मा है। इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु सुन्दर अथवा प्राप्त करने योग्य नहीं प्रतीत होगो एवं संकल्प या विषयध्यान को निवृत्ति होगी।[67] फलतः काम का पूर्णतया विनाश हो जाएगा।

यहाँ हिन्दू धर्म के एक और गूढ़तत्व अधिकारवाद का उल्लेख करना आवश्यक है, जिसके जानने पर इस प्रसग को संदिग्धता समाप्त हो जाएगी।

(क) जो ध्यानयोग में समाधिस्थ हो गए हैं उन्हें 'योगारूढ़' कहा जाता है।[68] उनके मन में किसी भी प्रकार की चंचलता नहीं होती,[69] क्योंकि इसप्रकार के योगी को किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं होती[70] संकल्प नहीं होता[71] कामना नहीं होती,[71] तथा आसक्ति नहीं होती है।[69]

---

67. बृ. (४/४/१२)—'आत्मानं चेद् विजानीयात्···किमिच्छन् कस्य कामाय···' ; भा. (११/१३/२९)—'अहंकारकृतं···संसारचिंतां तुर्य्ये स्थितस्त्यजेत्'।

68. गी. (६/३-४)—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं···योगारुढस्तदोच्यते'।

69. गी. (२/५३)—'···समाधावचलाबुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि'।

70. गी. (६/२५)—'···न किंचिदपि चिन्तयेत्।'

71. पा. यो. (कै. ६-७) 'तत्र ध्यानजमनाशयम्···इतरेषाम्' ; गी. (६/२४) -'संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा···'।

(ख) चूंकि उपर्युक्त स्थिति की प्राप्ति एक दिन में नहीं होती, अतः कामना तथा कर्तृत्वाभिमान[69-72] का त्याग करने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना होगा। जो अभी भी 'योगारुढ़' नहीं हो पाए हैं, परन्तु होने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं उन्हें 'योगारुरुक्षु' कहते हैं।[68] ऐसे साधक की चित्तशुद्धि के लिए 'कर्मयोग' आवश्यक है।[73] जब कर्मत्याग करना जंविक कारणों से संभव नहीं, तो फिर किसी भी प्रकार फल की आशा न कर सभी कर्मों को करने का अभ्यास करना होगा। इस प्रकार के अभ्यास से धीरे-धीरे[74] उनका चचल मन इन्द्रियसहित वश में आएगा और मन को आत्मा में संस्थापित कर वे आत्मस्थ तथा समाहित होने में सक्षम होंगे।[74-75]

ग) अतः योगारुढ़ न हो पाने तक 'नित्य नंमित्तिक' कर्मो को निष्काम भाव से करते जाना होगा। यह केवल कर्मयोगी के लिए ही नहीं बल्कि भक्ति तथा ज्ञानमार्ग[76] के साधकों के लिए भी आवश्यक है।[77]

(घ) दूसरो ओर, योगारूढ़ एव मुमुक्षु व्यक्ति के लिए भी लोकहितार्थ शास्त्रविहित कर्मों को करना आवश्यक है।[77]

---

72. गी. (४/२०)-'···कर्मण्यभि प्रवृत्तोऽपि···करोति सः'; (५/८-९-नैव किंचित् करोमीति ··धारयन्'; (१८/१७)—'यस्य नाहंकृतो भावो ···न निवध्यते।'

73. गी. (५/११)—'···योगिनः कर्म कुर्वन्ति···आत्मशुद्धये।

74. गी. (६/२५)—'शनैः शनैरुपमेत्···।'

75. गी. (६/७)-'जितात्मनः···समाहितः···'; (६/१८)—'यदा विनियतं ···युक्त इत्युच्यते तदा।

76. भा. (३/२९/१५)—'निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा...।'

77. गी. (४/१५)—'एवं ज्ञात्वा··कृतम्'; भा. (११/२०/९)-'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता···श्रद्धा यावन्न जायते।

कामजय :

त्याग साधना का उच्चतम सोपान वासना का परित्याग करना है। साधक, प्रथम चरण में धन-ऐश्वर्य इत्यादि पार्थिव विषयों के त्याग से आरभ कर इच्छित कर्म इत्यादि (यहाँ तक की प्रवृत्तिमूलक शास्त्रों का अध्ययन तक) का वर्जन करने के उपरान्त अवशिष्ट कर्म निष्काम भाव से करते हैं। फिर भी कुछ और बाकि रह जाता है; क्योंकि, मनुष्य की वासनाएँ अन्तहीन हैं।[78] अतः जबतक वासनाओं को पूर्णतः विनष्ट न किया जाय, तबतक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी ; क्योंकि अन्तर्निहित जलधारा के समान मन की गहराई में वासना का प्रच्छन्न उत्स होता है। वह सुप्त वासना अवसर पाते ही साधक को संसार चक्र में बाँध लेती है। वासना का समूल विनाश इसलिए आवश्यक है कि, भोग के द्वारा कामनाएँ नष्ट नहीं होतीं अथवा निवृत्त नहीं होतीं। अत्यन्त क्षुद्र कामनाओं की भी भोग के द्वारा पूर्ति करने पर, अग्नि में घृताहुति के समान, उनकी लुब्ध जिह्वा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।[79] काम के लेशमात्र भी रहने पर शान्ति प्राप्त नहीं होती।[80]

अतः दान-ध्यान कर स्वतः उत्पन्न वासना का परित्याग करने पर भी सबकुछ समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि निःस्व भिखारी अथवा सर्वत्यागी सन्यासी के लिए भी विभिन्न प्रकार की वासनाओं का उत्पन्न होना असंभव नहीं है। ईसलिए संसार चक्र से मुक्ति के लिए कामना, अर्थात् विषयों से भोग की मानसिक इच्छा का पूर्ण रूपेण उन्मूलन करना होगा।

राजयोग के अनुसार वासना पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र

---

78. पा. यो. (कै. १०)-'तासामनादित्वम्···।'

79. मनु. (२/९४) ; भा. (९/१९/१४)-'न जातु कामः···एवाभिवर्द्धते।'

80. गी. (२/७०)-'···न कामकामी।'

उपाय समाधि है।[81] क्योंकि ध्यान योग में समाधि की उपलब्धि होने पर चित्त उसी ध्यान के विषय मे बँधकर रह जाता है, दूसरे विषय के प्रवेश का वहाँ स्थान नहीं रह जाता। मानव मन का यह स्वभाव है कि एक साथ वह दो वस्तुओं की धारणा नहीं कर सकता।[82] इस समाधि साधना का भी एक सर्वोच्च स्तर है—जिसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं।[83] इस अवस्था में योगी अपने योगलब्ध ऐश्वर्य को, अर्थात् अणिमा इत्यादि सिद्धि (जिसे श्रीरामकृष्ण ने 'सिद्धाई' कहा है) तथा उस सिद्धि के अभिमान तथा कामनाओं को भी त्याग देते हैं। इस अवस्था में स्वय का कुछ भी नहीं रहने के कारण वे त्रिगुणातीत हो स्वरूप प्रतिष्ठा या कैवल्य की प्राप्ति करते हैं।[84] यही ज्ञानयोगी का 'ब्रह्मनिर्वाण' है।[85]

सभी कामनाओं को भगवत् प्रेम में निमज्जित करना ही भक्तियोग की साधना है। हमलोग स्त्री-पुत्र-धन-यश इत्यादि की कामना करते हैं, क्योंकि उनके प्रति हममें आसक्ति होती है और हम समझते हैं कि, उन्हें पाकर हम सुखी होंगे। लेकिन भक्तियोगी जानते हैं कि भगवान् ही सभी आनंद के उद्गम स्रोत[86] हैं तथा वे ही सर्वभूत में अवस्थित होने के कारण उनसे हम प्रेम करते हैं।[87]

81. पा. यो. (कै. ६)-'तत्र ध्यानजमनाशयम्'।
82. पा. यो. (कै० २०)-'एक समये चोभयानवधारणम्।'
83. पा. यो. (कै २९)-'प्रसंख्यानेऽपि···धर्ममेघः···।'
84. पा. यो. (कै. ३४)-'पुरुषार्थशून्यानां···कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा···।'
85. गी. (२/७१-७२)-'विहाय कामान्···ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'; (५/२६)-'कामक्रोधवियुक्तानां···ब्रह्मनिवार्णं वर्त्तते'; भा. (११/२५/३४-३६)-'निःसंगो···न वहिर्णान्तरं चरेत्'।
86. वृह. (४/३/३२)-'...एतस्यैवानन्दस्यान्यानि···उपजीवन्ति।
87. वृ० (२/४/५)-'···आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'; भा. (१०/२३/२७)-'प्राणबुद्धिमनः···यत् सम्पर्कात् प्रिया···'; (१०/१४/५४-५५)—'तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा···तदर्थमेध सकलं···कृचमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्···।

अत: भक्तियोगी अपने सम्पूर्ण प्रेम को उसी भगवान् के प्रति केन्द्रित रखते हैं,[88] जिसे पाने के पश्चात् अन्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं रह जाती।[89] ईश्वर के अतिरिक्त सबकुछ असुन्दर है, अत: यदि कामना करनी ही है तो उसी एकमात्र सुन्दर की कामना करने पर अन्य सभी वासनाओं से निवृत्ति हो जाएगी।[90] जिन्होंने भगवान् से प्रेम कर उनके प्रति ही अपने चित्त को समर्पित कर दिया है, उनसे अधिक सुखी और कौन है? वे ब्रह्मपद, इन्द्रत्व इत्यादि की भी आकांक्षा नहीं रखते।[91]

अतएव साधक जिस किसी भी मार्ग को क्यों न अपनाएँ, मोक्ष प्राप्ति के लिए अंत में उन्हें स्वय के हृदय कन्दरा में स्थित कामना के कणमात्र को भी विनष्ट करना होगा। जबतक इस दुरुह साधना में सफलता नहीं प्राप्त होती, तबतक सांसारिक बंधन समाप्त नहीं होंगे। कामना का अतिसूक्ष्म सूत्र भी उन्हें संसारचक्र में घूमते रहने के लिए बाध्य कर देगा।[92] ब्रह्म ही एकमात्र ऐसी

---

88. ना. भ. (२)-'सा तस्मिन् परमप्रेमरूपा।'
89. ना. भ. (५)-'यत् प्राप्य न किंचिद् वांछति···न रमते।'
90. यही गोपिकाओं के प्रेम की तत्व कथा है। ना. भ. सू. (२१)-'अथव्रजगोपिकानाम्'; भा. (१०/३२/२२)—'·· या माभजन् दुर्जयगेहश्रृंखलाः संवृश्च्य···'; (१०/४४/१५)—'या दोहने···उरुक्रम-चितयानाः:'; (१०/४६/४)—'ता मन्मनस्का···त्यक्तदैहिकाः मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः···'; (११/१२/१२-१०)—'··· मय्यनुषंगबद्धधियः···मत्कामा रमणं जारम्···ब्रह्म मां परमं प्रापुः···'; चै. च. (आदि, ४ अ.)—'आत्मेन्द्रियप्रीति वांछा तारे बलि काम। कृष्णेन्द्रिय—प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम···अतएव गोपिगणे नाहि कामगन्ध···।'
91. भा० (११/१४/१२-१४)—'मय्यर्पितात्मनः···सर्वाः सुखमया दिशः न···इच्छति मद्विनान्यत्।'
92. क० (२/१/२)—'पराचः कामान्···ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्'; मु० (३/२/२)—'कामान्···स कामभिर्जायते तत्र तत्र···।

सत्ता हैं जो सृष्टिकर्ता होकर भी वीतराग हैं अर्थात् आसक्तिरहित[93] एवं अकाम हैं ; क्योंकि, उनके द्वारा सृष्ट सभी जीवों के इन्द्रियों के प्रकाशक होकर भी वे स्वयं सभी प्रकार के इन्द्रिय व्यापार से मुक्त हैं। अतः ब्रह्म के साथ एकाकार होने के लिए अकाम (कामनाओं से रहित) होना होगा।[94] इसीलिए कहा गया है कि, ब्रह्म को पाने के लिए ब्रह्म के समान अर्थात् 'अकाम, निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम होना होगा।[95] जिस समय साधक कामजय की सिद्धि प्राप्त कर लंगे, उस समय वे नश्वर शरीरधारी मनुष्य नहीं रह जाएंगे, बल्कि देवमानव बन जाएँगे।

"यदा सर्वं प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।"[96-99]

अर्थात् शरीर के विद्यमान रहने पर भी वे अमृत हो जाते हैं तथा ब्रह्म क समान निगुण या 'ब्रह्मभूय' होकर जीवित अवस्था में ही ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। कदाचित् इसप्रकार के महाभाग्यवान् साधक युगयुगान्तरों में आविर्भूत होते हैं। वे केवल ब्रह्म को जानकर अथवा मात्र उनके दर्शन करके ही नहीं रूक गए, बल्कि, स्वयं ही 'ब्रह्मभूत' अर्थात् ब्रह्मप्राप्त हुए हैं।[1]

---

93. श्वे० (३/१७) ; गी० (सर्वेन्द्रिय···गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ···असक्तम्···' ; श्वे० (३/२०)—'···तमक्रतुम्···' ; गी० (७/११)— ···कामरागविवर्जितम्।'
94. मु० (३/२/१/—'···उपासते···अकामास्ते···धीराः।'
95. बृ० (४/४/६)—'···अथ अकामयमानो योऽकामो निष्काम···आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।'
96-99. क० (२/३/१४) ; बृ (४/४/७) ; मुक्ति (२/३८)···'मोक्षः स्यात् वासनाक्षयः।'
1. म० भा० (श० २६/१४-१५)—'···यदा नेच्छति न द्वेष्टि···ब्रह्म सम्पद्यते तदा।'

जीवन-मुक्ति :

मनुष्य अपनी निरन्तर साधनाओं के द्वारा आत्मिक उन्नति का साधन कर इस शरीर के रहते ही सभी दु:ख शोक के बंधनों से मोक्ष प्राप्त कर सकता है; उसे परलोक की प्रतिक्षा नहीं करनी पड़ेगी[2]—यह आश्वासन हिन्दू ऋषियों ने दिया है।

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता हैं कि; किन उपायों के माध्यम से उस जीवन मुक्त अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है

---

2. वृहदारण्यक के 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (४/४/६) वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि, ब्रह्मभूय साधक का शरीर त्याग अथवा मृत्यु नहीं होती। इसका अर्थ यही है कि, इसप्रकार के साधकों का पुनर्जन्म नहीं होता और जीवितावस्था में ही ब्रह्म भाव को प्राप्त कर मुक्तावस्था में पहुंच जाते हैं। गीता ने इस अवस्था कि संज्ञा 'ब्राह्मीस्थिति', 'ब्रह्मनिर्वाण' (गी० २/७२ 'एषा ब्राह्मीस्थिति:···ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति') से दी है।

भक्तिमत के कुछ प्रवक्ता शरीर त्याग के पूर्व किसी भी मुक्तावस्था की संभावना को स्वीकार नहीं करते हैं। लेकिन स्वरूप की अवस्थिति यदि मुक्ति की संज्ञा हो [भा० (२/१०/६)—'...मुक्तिहित्वान्यथा··· स्वरूपेण व्यवस्थिति:' ; छा० (८/१२/३)—'···स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते ···'], तो फिर जो साधक अपने स्वरूप की उपलब्धि कर उसमें अवस्थित हो ब्रह्मानंद प्राप्त करते है [वृ० (४/३/३२)—'··एषोऽस्य परम आनन्द···' ; भा० (१/३/३४)—'...महिम्नि स्वे महीयते'], उन्हें जीवन्मुक्त की संज्ञा देना अनुचित कहां है ?

देहत्याग के उपरान्त जो मोक्ष प्राप्त होता है उसे 'विदेह मुक्ति' कहते हैं [केन (१/२)— '···प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' ; वृ. (४/४/८)-'···अपियन्ति ब्रह्मविद: स्वर्गं लोकमित उर्द्ध्वं विमुक्ता: ; छा. (८/१५/१)-'··एवं वर्त्तयन् यावदायु यं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते···'] लेकिन ब्रह्मभूय साधक को मृत्यु पर्यन्त प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। इसे ही 'जवन्मुक्ति' कहते हैं [वृ. (४/४/७)—'···अत्र ब्रह्म समश्नुते' ; गी. (५/१९)—'इहैव तैर्जित: स्वर्गो···' ; (८/१६)- '···मामुपेत्य···पुनर्जन्म न विद्यते' ; भा. (३/२७/२९)-'···यद्गत्वा न निवर्त्तते···' ; (१०/८८/१०)-'तद्ब्रह्म···विज्ञायात्मतया धीर: संसारात् परिमुच्यते'।

अथवा किन लक्षणों के द्वारा ईसप्रकार के जीवन्मुक्त महापुरुष को पहचाना या जाना जा सकता है।

पहले ही कहा गया है कि इस विषय में हिन्दू धर्म में कोई निश्चित पद्धति को व्यवस्था नहीं है। निष्ठा के साथ अनुगमन करने पर विभिन्न मार्ग से उस एक ही लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। अतः विभिन्न शास्त्रकारों में उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में कुछ प्रकार-भेद रहने पर भो, इस विषय में सभी एकमत हैं कि, इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में जिन साधनाओं तथा दैवी-सम्पदाओं को अर्जित करने के विषय में उल्लेख किया गया है, उसमें सफल होने पर चरमपरिणति के रूप में वे शरीरत्यागने के पूव हो[3] सांसारिक बधनों को छिन्न कर पुनर्जन्म से मुक्त हो जाएँगे। क्योंकि जो ग्रंथियाँ हमें संसार चक्र में बाँधती हैं, ब्रह्मदर्शन[4] या ब्रह्मस्वरूप होने पर[5] वे सारे बंधन विनष्ट हो जाते हैं।

पहले ही कहा गया है कि, मनुष्य का संसारचक्र में बँधने का कारण है—अपने स्व-स्वरूप को भूलकर स्वयं को सर्वभूत में स्थित परमात्मा से स्वतंत्र मान लेना।[3] अत: जिस क्षण इस भेदज्ञान को दूर कर कोई भी साधक समदर्शन[7] या सर्वत्र एवं सर्वभूत[7] में

3. गी. (५/१९)-'इहैव तैर्जितः स्वर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः···।'
4. मु (२/२/८)—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया···परावरे'; (३/२/५-६)-'सम्प्राप्यैनमृषयो···परामृताः ··सर्वे; कठ (२/३/१५) यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः अथ मर्त्योऽमृतो भवति'।
5. भा. (३/२४/२४-२९)—'भुक्तभोगा परित्यक्ता···विदिततत्त्वस्य··· निःश्रेयसं···न निवतर्त्ते योगी···।
6. श्वे. (१/६)-'सर्वाजीवे···पृथगात्मानं प्रेरितारंच मत्वा···'।
7. केन. (२/५)—'भूतेषु भूतेसु विचित्य···अमृता भवन्ति'; मु. (३/२/७-९)-'···परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति···अमृतो भवति···'; वृ. (४/५/१३)-'···प्रेत्य संज्ञाऽस्ति,; गी. (१३/३०)-'यदा भूतपृथग् भावमेकस्थमनुपश्यति···ब्रह्मसम्पद्यते तदा': (५/२६)-'···अभितो ब्रह्मनिर्वाणं···विदिततत्त्वस्य न न निवर्त्तेत योगी लिंगविनिर्गमे।'

ब्रह्मदर्शन करने में सक्षम होते हैं, उसीक्षण वे ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाते हैं।[8] फलत: और उनके पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकृति के त्रिगुण विकार के कारण ही स्वतंत्र सत्ता का बोध उत्पन्न होता है, अत: त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त कर पाने पर पुनर्जन्म नहीं होता।[9]

जबतक इन्द्रियाँ बहिर्मुखी रहकर विषयों के प्रति आसक्त रहती हैं, तबतक स्वतंत्र अस्तित्व का बोध समाप्त नहीं हो सकता। इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने पर आत्मस्वरूप प्रकाशित होता है ; जिसके परिणाम स्वरूप साधक सांसारिकता से मुक्त हो अमृतत्व को प्राप्त करता है।[10]

दूसरे शब्दों में जिन्होंने सभी प्रकार की कामनाओं पर विजय प्राप्त कर लिया है, वे जीवितावस्था में ही अमृत हो जाते हैं।[11] जिन्होंने काम-क्रोध इत्यादि सभी रिपुओं का जय कर राजयोग का अनुसरण करते हुए मन बुद्धि इत्यादि सभी इन्द्रियों को निरंतर ब्रह्म में संयोजित करने में सफलत्ता प्राप्त की है, वे जीवितावस्था में ही मुक्ति या 'ब्रह्मनिर्वाण' प्राप्त कर लेते हैं।[12]

संभव है कि जीवन-मुक्त अवस्था को प्राप्त करते ही साधक का शरीर त्याग न हो ; क्योंकि, प्रारब्ध कर्म अर्थात् पूर्व जन्म के अर्जित कर्मों का फल सम्पूर्णतया क्षय न हो जाने तक शरीर धारण

9. गी. (१४/२०)-'गुणानेतानतीत्य···अमृतमश्नुते'।
10. केन. (१/२)-'···अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।'
11. वृ. (४/४/७) कठ. (२/३/१४)-'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः···अत्र ब्रह्म समश्नुते' ; वृ. (३/२/११)-अत्रैव समवलीयन्ते (४/४/६)-'···ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ; प. (१४/१६)-'सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते··· ब्रह्माहस्मीतिकृतकृत्यो भवति···' ; श. वि. (३१७)—'···वासना प्रक्षयः जीवन्मुक्ति···।'
12. गी. (५/२५-२७)-'कामक्रोधवियुक्तानां···ब्रह्मनिर्वाणं...मुक्त एव सः' ; (१८/५३)-'अहंकारं बलं दर्पं···ब्रह्मभूयाय कल्पते'।

करना पड़ सकता है।[13] लेकिन जीवनमूक्ति के पश्चात् शरीर धारण करना सर्प की कंचुली के समान हो होता है।[14] अर्थात् उस साधक में किसी भी प्रकार की आसक्ति, देहबोध अथवा देहाभिमान नहीं रहता है।[15] देहधारण के लिए जिन नित्यक्रियाओं[16] (शयम, भोजन, शौच इत्यादि) को करना पड़ता है, उनके फल पून: बंधनों के कारण नहीं बन पाते ; क्योंकि वे इन क्रियाओं को यंत्रवत् अथवा सुषुप्तवत्[17] कर्ताबोध से रहित हो कर करते हैं।[16]

जीवन्मुक्ति के लक्षण :

जीवन्मुक्त अवस्था-प्राप्त साधकों का प्रधान लक्षण यही है कि, वे सम्पूर्ण रूप से अनासक्त एवं प्रसन्नात्मा हैं ; वे कोई भी कर्म क्यों न करें, उससे किसो प्रकार फल की आशा नहीं करते तथा असफल होने पर भी दु:ख-शोक से विचलित नहीं होते हैं।[18] वे सभी सांसारिक विषयों के प्रति उदासीन [19] रहकर 'अग्नि में भस्म हुई लकड़ी की तरह अवस्थित रहते हैं—इसी अवस्था को 'गुणातीत'[19] कहा गया है।

वे 'तुरीय' अवस्था को प्राप्त कर लिए हैं, अर्थात् उनके लिए स्वप्न, सुषुप्ति तथा जाग्रत इन तीनों अवस्थाओं में कोई भेद नहीं

13. छा. (६/१४/२)—'···यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति' ; ब्र० सू० (४/१/१९)-,भोगेन···क्षपयित्वा···संपद्यते'।
14. वृ. (४/४/७)-'यथाऽहिर्निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत···'।
15. भा. (३/२८/३७)-'देहंच···मदिरामदान्धः' ; श. वि. (४१३,४३६)।
16. गी. (४/२१)-'···शारीरं केवलं कर्म···नाप्नोति किल्विषम्' ; (४/२६-२७)-'स्पर्शान्···सदा मुक्त एव सः।'
17. यो. वा. (५/१६/१९)-'···सुषुप्तवत् यश्चरति स मुक्त इति कथ्यते' ; भा. (११/२८/३१)—'तिष्ठन्तमासीनम्···आत्मानमात्मस्थमतिर्न वेद'।
18. गी. (१८/५३-५४)-'···निर्मम:शान्तो···न शोचति न कांक्षति'।
19. गी. (१४/२३,२५)।

रह जाता। वे सदा चैतन्यमय रहते हैं।[20] क्योंकि, सदैव उनका मन परमात्मा में ही स्थिर रहता है, उन्हे किसी भी प्रकार के दैहिक क्रियाओं का अथवा विकारों का बोध नहीं रहता; कर्तृत्व ज्ञान भी नहीं रहता,[21] जबतक शरीर विद्यमान रहता है तबतक देहधारियों के लिए आवश्यक नित्यकर्मों को करते हुए भी वे उन कर्मों को यन्त्रचालित की भाँति ही करते हैं। वे यह भी नहीं जान पाते कि, वे शयन या गमनशील हैं या फिर दर्शन या भोजन कर रहे हैं। आँखों के रहते हुए भी वे नेत्रहीन हैं, कानों के रहते हुए भी कर्णहीन हैं, मन के रहते हुए भी वे मनहीन हो जाते है; क्योंकि ब्रह्म से युक्त होने के उपरान्त वे किसी भी बाह्य वस्तु या विषय का दर्शन, श्रवण अथवा मनन नहीं कर पाते हैं।[22]

सभी आनन्दों के उत्स ब्रह्म के साथ युक्त होने के पश्चात् जीवन्मुक्त व्यक्ति भूमानंद अथवा अक्षय सुख प्राप्त करता है।[24] जिसके फलस्वरूप परा शान्ति प्राप्त होती है।[25] इस सुख शान्ति के लिए उसे किसी भी इन्द्रियग्राह्य साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि वे 'आत्मरति', 'आत्मक्रीड़'[26] या 'आत्माराम'[27] हैं।

---

20. ना. प. (५-ऊ) -'···तुरीयमक्षरमिति···स जीवन्मुक्त···'।
21. भा. (११/२८/३१)-'तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं · न वेद।'
22. वे. सा. (११६)-'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णः अकर्ण इव···'।
23. तै. (२/७)—'···रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति···।'
24. गी. (५/२१)—'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखम् अक्षयम् अश्नुते'; (६/२८)-'···ब्रह्म संस्पर्शम् अत्यन्तं सुखम् अश्नुते'; वृ. (४/३/३३)-'···अकामहतः···परम आनन्दः'।
25. गी. (२/७१)—'विहाय···शान्तिमधिगच्छति'; (१८/४५)-'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा···'; मु. (३/१/३)—'तदा···परमं साम्यम् उपैति'।
26. मु(३/१/४)।
27. गी. (५/२४); भा. (१/७/१०; ७/१५/१६; ११/१६/१५)।

उनके सभी पाप विनष्ट हो जाते हैं, और वे पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाते हैं[28]। इसलिए जीवन धारण के लिए आवश्यक कर्मों के फल उनके लिए पुनः बंधन नहीं बन पाते।[29] केवल शरीर धारण के लिए[30] जीवन के शेष बचे हुए दिनों में वे जिन कर्मों को करने के लिए बाध्य होते हैं, वे कर्म उन्हें पद्मपत्र पर पड़ी हुई पानी की बूंद की भाँति[29] स्पर्श नहीं कर पाते।

सभी प्रकार के सांसारिक दुःख-क्लेशादि मानसिक तथा दैहिक विकारों से ऊपर उठकर, जीवन्मुक्त साधक ब्रह्म के समान अपाप, विजर, विमृत्यु, विशोक, विजिघत्स (अर्थात् भोग-वासना से रहित), अपिपास (ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य विषयों के प्रति निस्पृह) हो जाते हैं।[31]

इस अवस्था में एक आपात-विरोधी परिणाम यह भी है कि, जीवन्मुक्त व्यक्ति को उपासना की भी आवश्यकता नहीं रह जाती है। क्योंकि, जो ईश्वर से अभिन्न हैं तथा जो स्वयं के स्वरूप को ब्रह्म में संयोजित कर दिये हैं, वे फिर किसकी उपासना करेंगे?[32] उनका सम्पूर्ण 'द्वैतभाव' समाप्त हो गया है।[32]

---

28. बृ. (४/४/२२-२३)–,इत्यतः पापम् अकरवम्···नैनं पाप्मा तपति···' : तै. (५/१४/८)—'यद्यपि वहि्वव पापं कुरुते···अमृतः संभवति।' (२/६)'···किमहं पापम् अकरवम्···विद्वान्' ; छा. (५/२४/३)— '···सर्वे पाप्मानः प्रदुयन्ते'।
29. छा. (४/१४/३)—'···पापं कर्म न श्लिष्यते' ; गी. (५/१०)— 'ब्रह्मण्यधाय कर्माणि···लिप्यते न स पापेन···' ; मु. (२/२/८)— '···क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'।
30. गी. (४/२१)-'···शारीरं केवलं कर्म···किल्विषम्'।
31. छा. (८/७/१)-'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो···सत्यसंकल्पः···'।
32. बृ. (२/४/१४)-'यत्र हि द्वैतमिव···यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन क···पश्येत्'।

अष्टम अध्याय

शिवज्ञान से जीवसेवा

अधुना जो सब शिक्षित हिन्दू अन्य धर्म-प्रचारिका एक महिला की लोकसेवा से प्रभावित हो गए हैं, वे कुछ गलत नहीं किये हैं; क्योंकि, उदारतावादी हिन्दू धर्म में धार्मिक असहिष्णुता का कोई स्थान नहीं है। जहां भी हम देवत्व का प्रकाश देखते हैं वहीं हमें नतमस्तक होने में द्विधा का अनुभव नहीं होता। अत: इस विषय में कोई संदेह नहीं कि, यह विश्वसेवाव्रतिनी नारी हिन्दुओं के लिए भी नमस्य हैं।

परंतु जिन उदारचेता हिन्दू सन्तानों ने इस महीयसी नारी पर पुष्पवृष्टि के समान धन की वर्षा की है, वे एक मौलिक विषय में दिग्भ्रमित प्रतीत होते हैं। वे शायद नहीं जानते कि, हिन्दू धर्म में जोवों की सेवा केवल सामाजिक अथवा पुण्य कर्म ही नहीं, बल्कि यह हिन्दू साधना का चरम लक्ष्य है तथा लाखों जन्मों की साधना की पूर्णाहुति है। सामान्य हिन्दूगण यदि आज अपने धर्म के विश्वसौभ्रात्र एवं सेवा के चरम आदर्श को विस्मृत हो गए हैं, तो उसका कारण हिन्दू धर्म की दीनता नहीं, वरन् वर्तमान हिन्दू वंशजों का हिन्दू धर्म के प्रति उदासीनता तथा अज्ञान है। हिन्दू साम्राज्य के पतन से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक दो हजार वर्षों के अन्य शाशनकाल में हिन्दू धर्म को प्रभावहीन बना कर आत्मविस्मृत हिन्दू जाति को धर्मच्युत करने का यथासंभव प्रयत्न किया गया।

दुःख का विषय तो यह है कि, विजातीय शासन की समाप्ति के उपरान्त भी शिक्षित हिन्दूगण अपने धर्म के महत्तम आदर्शों को जानने के लिए भी आग्रही नहीं होते। बल्कि, हिन्दु धर्म संकीर्ण मानसिकता वाला है, ऐसी धारणा के वशीभूत होकर दूसरे धर्म की वाणी या क्रियाकलाप को वरेण्य समझते हैं। उनके द्वारा प्रदत्त अर्थ विदेशों में संचित हो रहा है अथवा नहीं, यह अर्थ दूसरे धर्म के प्रचार अथवा गौरव बढ़ाने में सहायक हो रहा है या नहीं, यह सब प्रश्न उनके मन में नहीं उठता। हिन्दू धर्मावलम्बी (भारत सेवाश्रम जैसे[1]) और भी कुछ सेवा प्रतिष्ठान हैं अथवा नहीं, जो कि अर्थाभाव[1] के कारण भारतवासियों के दुःख दैन्य को दूर करने की यथोचित व्यवस्था कर पाने में समर्थ नहीं होते,— यह प्रश्न भी वर्तमान युग के अपने धर्म के प्रति हीन मानसिकता से ग्रस्त हिन्दू संतानों के लिए अनावश्यक हो गया है।

पुस्तक के इस अध्याय में हिन्दू धर्म की इस श्रेष्ठ विशिष्टता की पर्यालोचना के द्वारा यदि अंशतः भी इस अज्ञानता को दूर किया जाना संभव हो सका, तो रचनाकार पाठकों के प्रति कृतज्ञ होंगे। आरंभ में ही कहा गया है कि हिन्दू धम का दो लक्ष्य है— 'आत्मनः मोक्षार्थं जगद्धिताय च'।[2] केवल अपने ही मोक्ष की बात

---

1. वाढ़, सूखा या महामारी से भारत का कोई भी प्रान्त आक्रान्त होता है तो यह प्रतिष्ठान कुछ-एक सन्यासियों के साथ ही उसके उद्धार कार्य के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। इस वाहिनी में जो नेतृत्व देते हैं उनमें से कुछ जराजीर्ण रोगग्रस्त वृद्ध हैं, उनके भोजन तथा चिकित्सा की क्या व्यवस्था है, मानवतावादी, उदारचेता हिन्दू क्या इसकी खबर रखते हैं ?

पुनः जो दूसरे धर्मों के प्रतिष्ठानों की कुष्ठ सेवा को देखकर प्रभावित हो जाते हैं, वे क्या यह जानते हैं कि, इस भारत सेवाश्रम के जमशेदपुर की शाखा ने इस अंचल के कुष्ठरोग निवारण तथा चिकित्सा हेतु 660 गाँवों

कहने पर मूलत: वह स्वार्थपरता का धर्म होता। किन्तु हिन्दू धर्म ने ऐसा नहीं कहा है। बल्कि यह अवश्य कहा है कि, सिद्धिप्राप्त साधक के समक्ष मुक्ति स्वयम् उपस्थित होने पर भी वे असहाय विश्ववासी का परित्याग कर नहीं जाना चाहते हैं।[3] जिनमें देहबोध तथा स्वार्थ की भावना समाप्त हो गयी है, अर्थात् जिन्हें अपने स्वार्थ हेतु करने योग्य कुछ भी नहीं रहा, वे ही जगत् के कल्याण के लिए स्वयं को उत्सर्ग करते हैं। उस समय उनका उद्देश्य यही होता है—'सर्वेषां मंगलमस्तु सर्वे सन्तु निरामया:'।

उनके निवास स्थान, लौकिक संबंध इत्यादि सभी का लोप हो जाता है। उनके लिए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही स्वदेश है।

के विस्तृत परिधि में 45 चिकित्सा केन्द्र तथा 62 अस्पतालों का संचालन कर रहा है? ये सभी सेवा प्रतिष्ठान 40 चिकित्सक इत्यादि विशेषज्ञों की सहायता से जमशेदपुर की शाखा के सन्यासी स्वयं के शारीरिक श्रम के द्वारा संचालित करते हैं। और भी 25 शैय्या के स्थापना की योजना अर्थाभाव के कारण स्थगित पड़ी है। 1984 में इन्होंने 7000 कुष्ठ रोगियों की सेवा की थी। विदेशी महिला के ऊपर जो असीमित अर्थ की पुष्प वृष्टि की जा रही है, उसका यदि हजारवाँ अंश भी भारत सेवाश्रम के इस जमशेदपुर की शाखा को (सोनेरी, जमशेदपुर 831011) दिया जाय तो यह प्रतिष्ठान विश्व में सबसे अग्रगण्य हो जाएगा और यह भी प्रमाणित हो जाएगा कि पीड़ितों की सेवा के विषय में सर्वत्यागी हिन्दू सन्यासी किसीसे पिछड़े हुए नहीं हैं; तथा इस परिस्थिति के लिए हिन्दू धर्म की उदासीनता उत्तरदायी नहीं है, वरन् उदारचेता, उच्च शिक्षित हिन्दुओं की अज्ञानता एवम् उपेक्षा जिम्मेदार है।

2. वि० वा० र० (६/४८)।

3. भा० (७/६/४४)—'प्रायेण देव मुनय:···नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको···।'

"माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वर:।
बान्धवा: शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्।"[4]

अतएव वे सर्वत्र विचरण करते हुए अयाचित रूप से सबकी सेवा करते रहते हैं; केवल इतना ही नहीं वे सभी के मोक्ष की कामना करते हैं।[5] क्या यह स्वार्थपर का धर्म है ?

पहले ही कहा गया है कि, जीवन्मुक्ति के पश्चात् उसी क्षण साधक का शरीर त्याग नहीं भी हो सकता है, तथा जितने दिनों तक प्रारब्ध कर्मों का फल नि: शेष नहीं होता तबतक जीवन धारण भी करना पड़ सकता है।[6] तो फिर जीवन के इस अंश का उपयोग वे किस रूप में करेंगे ? इसका उत्तर है—'लोकसग्रह'[7] अथवा 'सभी के मंगल हेतु'[8] व्रत। यह सर्वभूतहित का आदर्श केवल मात्र एक दार्शनिक भाव विलास नहीं है। इसकी व्याख्या हम महाभारत के शान्ति पर्व में पाते हैं—

"सर्वेषां य: सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रत:
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद······"।[9]

अत: केवल कल्याण की इच्छा करके ही अथवा मीठे संभाषण के द्वारा ही 'सर्वभूतहित' का पालन नहीं किया जा सकता; दीन

---

4. श० अन्नपूर्णा स्त्रोत्रम (१२)।

5. श० वासुदेवाष्टक—'···जगत्···संसारमोक्षार्थं त्राहि मां मधुसूदन।'

6. छा० (६/१४/२)—'···यावन्न विमोक्षेऽथ सम्पत्स्यते इति'; ब्र० सू० (३/३/३२)—'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्'; श० वेदान्त केशरी (६६)।

7. गी० (३/२/५)—'···कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षूर्लोकसंग्रहम्'।

8. गी० (५/२५)—'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय: सर्वभूतहिते रता:'; (१२/४) —'···ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरता:'।

9. म० भा० (शान्ति, २६२/६)।

अथवा पीड़ित व्यक्ति की सेवा[1] भी करनी पड़ती है—और वह भी इस बोध से कि, पीड़ित व्यक्ति तथा साधक दोनों अभिन्नात्मा हैं।[10]

यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि, मुक्ति के उपरान्त भी वे क्यों दूसरों के हित के लिए कर्मरत होंगे ? इसका उत्तर यह है कि, जीवन्मुक्त साधक केवल स्वयं में ही ब्रह्म का दर्शन नहीं करते, बल्कि वे सर्वत्र तथा सर्वभूत में ब्रह्म का दर्शन करते हैं।[11] अत: 'सर्वभूत में विद्यमान'[12] उस ब्रह्म को भजना[13] ही तो उनके आध्यात्मिक साधना की चरम पराकाष्ठा है।[14] अत: साधना की चरम स्थिति में जब भेद-ज्ञान तथा देहात्म बोध और ममत्व बोध समाप्त हो जाता है, तब सर्व जीव की सेवा ही ब्रह्म की उपासना बन जाती है।[13] आर्त तथा दु:खिओं की सेवा का इससे उच्चतर आदर्श और कहीं भी है क्या ?

---

10. म० भा० (शान्ति, २६२/३२)-'सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वं भूतानि पश्यत:···'।

11. गी० (६/३२)-'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति', भा० (७/७/५३)–'···आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्व भूतात्मनीश्वरे'; (४/११/११-१३)-'सर्व-भूतात्मभावेन···समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति'; (३/२४/४६)-'आत्मानं सर्व्वभूतेषु···भगवत्यपि चात्मनि'; मनु० (१२/१२५)-सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना'।

12. गी० (१०/२०)।

13. गी० (६/३१)-'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित:···स योगी मयि वर्त्तते' कै० १/१०-'सर्बभूतस्थमात्मानं···सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति···।'

14. भा० (३/२९/२१-२२,२७)-अहं सर्वेषु भूतेषु···अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्या भिन्नेन चक्षुषा।'

जिनका अहं बोध विनष्ट हो गया है, उनका और कोई भी स्वार्थ नहीं रह जाता है। अत: दूसरों का सुख ही उनका अपना सुख है। हिन्दू धर्म प्रत्येक जीव को अपने ही समान समझने[11] की शिक्षा देता आया है। कुछ धर्मों में प्रतिवेशी के प्रति अथवा अपने ही सम्प्रदाय के लोगों के प्रति स्नेह रखने का उपदेश दिया गया है। लेकिन हिन्दू धर्म की शिक्षा है कि, केवल अपने ही सम्प्रदाय के व्यक्ति नहीं, वरन् प्रत्येक मानव, यहां तक कि प्रत्येक जीव समभाव से ईश्वर-सृष्ट हैं तथा सबों में समान रूप से एक ही आत्मा विराजमान हैं,[15] और सभी अमृत की सन्तान हैं। अत: शिव-ज्ञान[16] से सभी जीवों की सेवा ही भगवत् कृपा प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।[13-17] यदि कोई हिन्दू व्यक्ति किसी कुष्ठ रोगी की सेवा से विमुख होता है तथा कोई ईसाई इसे व्रत के रूप में अंगीकार करता है, तो यह ईसाई धर्म की महत्ता और हिन्दू धर्म की हीनता का परिचायक नहीं है, बल्कि यह सहस्रों वर्षों से ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा सामाजिक विपर्यय के कारण हिन्दू जाति की आत्मविस्मृति का फल है। हिन्दू धर्म के इसी सार तत्व को हिन्दुओं में पुन: जाग्रत करने के उद्देश्य से ही विवेकानंद ने कहा था[18] :

---

15. गी० (९/२९ ; ६/१७ ; ११/४३)।
16. मैं० (२/१)-'···स जीव: केवल: शिव:···' ; श० '···जीवो ब्रह्मैव नापर:' ; (२/१/२०)-'यथाग्ने:···सर्वे लोका: व्युच्चरन्ति' ; गी० (१५/७)-'जीवभूत: सनातन: ; भा० (३/२९/२९)-'मनसैतानि भूतानि-प्रणमेद्···ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति'। कै० (१०)-'सर्व-भूतस्थमात्मानं ··सम्पश्यान् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना' ; क० श्रु० (५/१)-'···स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वा दीक्षामुपेयात्'।
17. सारदानंद—रामकृष्णलीला प्रसंग (५/२६७)।
18. वि० वा० र० (५/१३९, ६/४५७)।

"तुम धन्य हो कि तुम्हें सेवा करने का अधिकार मिला है··· ···उपासनाबोध[19] से इतना करो।···स्वयं की मुक्ति के लिए उनके पास जाकर उनकी पूजा करो—ईश्वर उन्हीं के बीच विद्यमान हैं।[20] कितने ही व्यक्ति जो दुःख पाते हैं, वे हमारे तुम्हारे मुक्ति के लिए हैं—इसलिए हम रोगी, पागल, कोढी, पापी इत्यादि सभी प्रकार के रूपधारियों की पूजा कर सकते हैं।"[18]

हिन्दूधर्म के मतानुसार लोकसेवा केवल सामाजिक कर्त्तव्य नहीं है, यह ईश्वरसाधना का सर्वोत्कृष्ट उपाय है। इसलिए साधु प्रवृत्ति के व्यक्ति दूसरों के दुःख से व्यथित हो, उसे दूर करने के लिए भगवान शंकर की तरह अमृतमंथन से उत्पन्न विष का पान करने के लिए भी प्रस्तुत रहते हैं।[20]

ब्रह्मपुराण में सैंकड़ों कहानियों के अन्दर कहा गया है कि, दूसरों के कष्ट-निवारण से बढ़कर श्रेष्ठ कर्म त्रिभुवन में दूसरा कोई भी नहीं है।[21] भागवत[22], महाभारत[23], तथा अन्य शास्त्रों में भी परहित के लिए जीवन उत्सर्ग करने की कथा बार-बार कही गई है। हिन्दू धर्म के इसी आदर्श से अनुप्राणित होकर मनुष्य अपने पीने के जल तक का दान कर[22] अथवा अपने शरीर से माँस प्रदान कर भूखे अतिथि की सेवा किए हैं। इन कथाओं को काल्पनिक कह कर झुठलाया नहीं जा सकता। क्योंकि इस

19. वि० वा० र० (६/२६६)-'अनेक रूपों में ईश्वर तुम्हारे समक्ष है, उन्हें छोड़कर तुम ईश्वर को कहाँ खोज रहे हो ? जो जीवों से प्रेम करते हैं, वे ही ईश्वर की सेवा करते हैं'।

20. भा० (८/७/४३-४४)-'···यच्चकार गले नीलं···तप्यन्ते लोकतापेन साधवः परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः'।

21. ब्र० पु० (१७०/७३)-'परार्त्तिशमनादन्यच्छ्रेयो न भुवनत्रये'।

22. भा० (९/२१/१२, २१/७२/२१)।

23. महा० (अनु० १३७/४, ६)।

प्रकार के दृष्टान्तों के न रहने पर ई० पू० तीन सौ वर्ष पहले नीतिशास्त्र के रचनाकार चाणक्य नहीं कह पाते कि—'धनानि जीवितंचैव परार्थं प्राज्ञ उत्सृजेत् ।'

अथवा ऐतिहासिक युग के सम्राट हर्षवर्द्धन सर्वस्व दान कर केवल उत्तरीय धारण कर अपने राज्य में वापस नहीं आते । हर्षवर्द्धन के दृष्टान्त को स्मरण रखने पर वर्तमान युग के महाकवि के इस कथन को केवल कविकल्पना कह कर अस्वीकार नहीं किया जा सकता—

'हे भारत के नृपति, तुमने सिखाया है,
त्याग देना मुकुट-दण्ड, सिंहासन औ' भूमि ।'

इसी प्रकार पौराणिक युग के रन्तिदेव के कथन[22] का ज्ञान रहने पर पीड़ितों की सेवा के आदर्श के लिए हिन्दुओं को दूसरे धर्मों में उदाहरण खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी :

'न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्त:स्थितो येन भवन्त्यदु:खा:' ।।

मैं, अणिमा इत्यादि आठों ऐश्वर्य से युक्त परम गति अथवा मोक्ष, किसी की भी आकांक्षा नहीं करता । लेकिन मेरी इच्छा है कि, मैं सभी प्राणियों के अन्तर में स्थित रहकर उनके सभी दु:खों को स्वयं भोगूं, जिससे की सभी देहधारी प्राणी दु:खों से रहित हो जायँ ।

जो हिन्दू धर्म की समालोचना करते हैं, अथवा दूसरे धर्म की प्रसंशा करते हुए अपनी उदारता का परिचय देते हैं, वे या तो इन अकाट्य सत्यों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ हैं अथवा निर्लज्ज रूप से उदासीन हैं । आजको धारा में शिक्षित हिन्दू सन्तानों के आचरण से हिन्दू धर्म का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है । लेकिन वे यदि हिन्दू धर्म के इस महत्तम आदर्श से प्रेरित होकर 'शिव ज्ञान

से जीव सेवा'[17] में व्रती हो सकें, तो वे स्वयं तथा औरों के लिए अपने धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के साथ ही सम्पूर्ण विश्व के प्राणी मात्र के मंगल का कार्य करेंगे। इस महानतम आदर्श से अनुप्राणित व्यक्ति का आचरण कैसा होता है, यह पुनः द्रष्टव्य है।

जिस प्रकार, वसंत ऋतु अयाचित रूप से एवं आकांक्षा रहित भाव से पत्र-पुष्प-फल के विपुल भडार को संसार के सुख के लिए प्रदान कर देती है, जिस प्रकार स्निग्ध चन्द्रमा सूर्य को प्रचण्ड किरणों से तप्त पृथ्वी को शीतलता प्रदान करता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त व्यक्ति भी स्वतः प्रवृत्त होकर, स्वयं कठिन समुद्र को पार करके भी, दूसरों के दुःख निवारण के लिए, कल्याण के लिए तथा मुक्ति के लिए[24] शरीर धारण कर सभी जीवों की सेवा करते रहते हैं।

"शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
बसन्तवल्लोकहित चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं
जनानहेतुनाऽन्यानपि तारयन्तः॥
अयं स्वभावं स्वत एव यत् पर—
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश—
प्रभाभितप्ता भवति क्षितिं किल॥"[25]

पृथ्वी के दूसरे स्थानों पर जब मनुष्य आदिम सभ्यता में रहते हुए कच्चा मांस भक्षण करता था, उस समय ब्रह्मावर्त के ऋषियों ने इस सत्य को घोषित किया कि, साधना के द्वारा जीवधारी मानव को पशुत्व से देवत्व में उन्नोत किया जा सकता है; ओर

24. भा० (७/९/४४)-'···नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको···'।
25. श० वि० (३७/३८)।

अपने अन्तर्ज्योति के द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को आलोकित किया। दूसरे किसी अन्य धर्म ने अबतक इस प्रकार की कल्पना भी नहीं की है। ऋषियों के ये कथन मात्र कल्पना विलास नहीं थे। उन्होंने इसे प्रमाणित करने के लिए विभिन्न स्तरों की अनेक साधनाओं का प्रवर्तन भी किया, जिसे अंगीकार कर कोई भी मनुष्य क्रमश: स्वयं ही ब्रह्म स्वरूप हो सकता है। ऋषियों ने ऐसा वचन दिया है कि, जीव-देह धारी मनुष्य साधना के द्वारा ब्रह्मत्व सम्पादन कर सकते हैं।

विश्व सभ्यता के स्वल्पालोकित ऊषा में प्राच्य भूखण्ड पर हिन्दू ऋषियों ने जिस धर्म को प्रवर्तित कर सम्पूर्ण विश्व को उद्भासित किया, जिसकी कल्पना भी आजतक अन्य किसी धर्म के द्वारा संभव नहीं हुई, उस धर्मरूपी महायज्ञ में यहां पूर्णाहुति दी जा रही है।

इस पुस्तक में वर्णित सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर जो साधक ब्रह्मभूत हुए हैं, वे देवमानव निष्कपट भाव से कह सकते हैं 'अहं ब्रह्मास्मि'।[26] 'ब्रह्माहमस्मि'।[27]

ॐ शान्तिः शान्ति: शान्ति:।

26. बृ० (१/४/१०)।

27. ईश (१६)-'···सोऽहमस्मि'; ब्र० वि० (२/८; ४/२१)-'···ब्रह्माहम् ···'; कै० (१७) '···ब्रह्माहमिति···'; मैं० (१/११)-'···सोऽहमस्मि ···'; (३/१२)-'···परमात्मास्म्यहं···'; स० सा० (२०)-'ब्रह्मैवाहं ···'; प० (१६)।

परिशिष्ट

'जन्मगत तथा गुणगत जातिविचार'

इस पुस्तक के पृष्ठ 7 टी० 8 में यह मंतव्य व्यक्त किया गया है कि 'जन्मगत जातिभेद' हिन्दू धर्म के सारतत्त्वों में स्थान नहीं पा सकता है। प्रथम बंगला संस्करण में प्रकाशित इस प्रकार की उक्ति से क्षुब्ध होकर एक रक्षणशील मतावलंबी हिन्दू ने एक अंग्रेजी पत्रिका में इसका तीव्र प्रतिवाद किया था।

ये श्रद्धेय तथा शास्त्रज्ञ समालोचक जिन तथ्यों तथा तर्कों पर आधारित थे, मैंने उन सबका खण्डन इस संस्करण के पृ०311-320 में किया है। परन्तु इस प्रसंग में एक तर्क का उल्लेख बाकी रह गया था। इसलिए इस परिशिष्ट की आवश्यकता पड़ी।

पुस्तक के मुखपृष्ठ पर एक श्रुति वाक्य मुद्रित है; वह श्रुति-वाक्य है—"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"—अर्थात् ब्रह्म को पाने के लिए ब्रह्म के समान ही विशुद्ध होना होगा। यही ग्रंथकार के मतानुसार, हिन्दू धर्म का सारात्सार है तथा प्रत्येक हिन्दू के जीवन का लक्ष्य है। यह बात पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में स्पष्ट रूप से कही गयी है। पुस्तक के इस प्रतिपाद्य विषय के संबंध में समालोचक ने कोई उल्लेख नहीं किया है। इस आदर्श को सार्थक करने के लिए श्रुति ने जिन पद्धतियों अथवा सोपानों को निर्दशित किया है, तथा जिनकी व्याख्या इस पुस्तक में सर्वत्र की गई है, उन्हें भी समालोचक महोदय अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि ऐसा है, तो फिर ब्रह्मप्राप्ति के लिए चित्तशुद्धि आवश्यक है, तथा चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है, ब्राह्मण—चाण्डाल सभी के प्रति सम भाव।[1]

1. गी० (५/१८; १३/३०)।

अत: नीच वंश में उत्पन्न हुआ है, केवल इसी कारण से कोई मनुष्य उस से घृणा करता है, तो वह घृणा करने वाला किस शास्त्र अथवा उपाय से ब्रह्म को प्राप्त करने की दुराशा करता है ?

दूसरी ओर, इस पुस्तक में यह बार-बार कहा गया है कि, जो जाति विचार हिन्दू धर्म के सारतत्व के 'अधिकारवाद' के अंतर्गत है, वह 'गुणगत' है। अर्थात् वर्ण विभाग अथवा जातिभेद को अस्वीकार नहीं किया गया है। इसके आधार के संबंध में मतभेद है। शायद समालोचक महोदय ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। वे किस तरह भूल गए कि हिन्दू धर्म के पूर्णावतार श्रीकृष्ण तथा उनके पूर्ववर्ती अवतार श्रीरामचन्द्र दोनों ही ब्राह्मण नहीं बल्कि क्षत्रिय थे ? समालोचक महाशय क्या यह बता सकते हैं कि, किस आधार पर व्यास-वशिष्ठ-नारदादि नीच जाति में जन्म लेकर भी सनातन धर्म के श्रेष्ठ प्रवक्ता के रूप में अमर हुए हैं ?

इस पुस्तक के पृ०7 टी०8 में कहा गया है कि श्री चैतन्यमहाप्रभु जन्मगत जातिविचार को मान्यता नहीं देते थे, फिर भी उन्हें हिन्दू धर्म से बहिष्कृत नहीं किया गया था। कुछ समालोचकों ने हिन्दू धर्म के उन प्रवक्ताओं का उल्लेख किया है जो जन्मगत-जातिविचार को मानते थे। लेकिन इस पुस्तक का उद्देश्य है उन तत्वों की खोज करना 'जिन्हें न मानने पर कोई स्वयं का परिचय हिन्दू के रूप में देने में सक्षम नहीं होगा'। अत: श्रीचैतन्य स्वामी, विवेकानंद, स्वामी प्रणवानंद जैसे प्रमुख संस्कारक यदि जन्मगत जाति विचार को अस्वीकार करके भी, हिन्दू धर्म से बहिष्कृत नहीं किए गए, तो फिर क्या इस प्रकार जन्मगत जातिविचार को हिन्दू धर्म का सारतत्व कहा जा सकता है ?

द्वितीयत: अनेक युगों के विवर्तनों के उपरान्त, हिन्दू धर्म के आचार, सामाजिक व्यवस्था इत्यादि में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अत: बीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में हिन्दूधर्म के सारतत्व

का अनुसंधान करने के लिए वैदिक युग के परवर्ती धर्म-प्रवक्ताओं तथा धर्म संस्कारकों की व्याख्या की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि उनके अवदानों ने ही संयुक्त रूप से बीसवीं शताब्दी के हिन्दू धर्म को गठित किया है। इसीलिए मूलत: उपनिषदों के आधार पर रचित होने पर भी, इस पुस्तक में भागवत इत्यादि पुराणों के कथनों को भी सम्मिलित किया गया है।

अवश्य ही कुछ लोग यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि व्यक्तिगत जीवन में श्री चैतन्यदेव जातिविचार मानते थे। परन्तु इस संकीर्ण प्रश्न की गहराई में जाने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि, हिन्दू धर्म का सारतत्व प्रणयन के लिए उन्होंने धर्म के संबंध में जो कहा है वही प्रामाणिक है। हिन्दू धर्म की विशालता तथा प्राचीनता के कारण इसके प्रत्येक मतवाद के संबंध में तर्क वितर्क का होना स्वाभाविक है, लेकिन श्रीचैतन्य की निम्नलिखित उक्तियाँ बीसवीं शताब्दी के हिन्दू धर्म के अंगीभूत नहीं, कदाचित् ही कोई व्यक्ति ऐसा कहेगा। "नीच जाति भजन के अयोग्य नहीं होते।··· सत् कुल में जन्मा विप्र भी भजन के योग्य नहीं होता।··· कृष्ण भजन के लिए जाति-कुल का भेद नहीं है॥[2]" "अधम कुल में यदि विष्णु भक्त उत्पन्न होता है, तो वह सभी शास्त्रों से अधिक पूज्य है।"[3]··· "जिसमें कृष्ण के प्रति भक्ति है वह नीच नहीं।"[4]

श्रीचैतन्य की इस वाणी को विनष्ट करने के लिए कुछ कट्टर-पंथियों ने श्रीचैतन्य को केवल मात्र समाजसुधारक कह कर हेय करने का प्रयास किया है। लेकिन इसके पहले उन कट्टरपंथियों को चाहिए था कि वे श्रीमद्भागवत् का थोड़ा अध्ययन कर लें—

'अहोवत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्'।[5]

---

2. चै० च० (अन्त्य), ४ प० इ० १६। 3. चै० ता० आ० १६ अ०।
4. चै० च० (अ०), ११ प०। 5. भा० (३/३३/७)।

अर्थात जिसके जिह्वाग्र में हरिनाम विद्यमान रहता है, वह चाण्डाल होने पर भी इसी के कारण श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है।

"विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थप्राण पुनाति स कुलं न तु भूरिमान:' ।।[6]

अर्थात् धन, सत्कुल में जन्म, विद्या तपस्या आदि द्वादश गुणों के अधिकारी हो कर भी यदि कोई ब्राह्मण भगवान् के चरण कमलों से विमुख होता है, तो फिर उससे श्रेष्ठ वह चाण्डाल है जो मन, वचन तथा कर्म से भगवान के प्रति समर्पित है। धन इत्यादि से गर्वित ब्राह्मण स्वयं को भी पवित्र कर पाने में समर्थ नहीं हो पाते, लेकिन भक्तिमान् चाण्डाल अपने कुल तक को पवित्र कर देता है।

क्या श्रीचैतन्य की वाणी उद्धृत भागवत्-वचन का अनुवाद स्वरूप नहीं है ? यदि ऐसा है, तो फिर श्रीचैतन्य के वचनों को अर्वाचीन अथवा सनातन धर्म से बाहर समझना उचित नहीं है, क्योंकि श्रीमद्भागवत् को वेदों तथा उपनिषदों के सार[7] के रूप में मान्यता दी गई है।

और अंत में. जो अभी भी ब्राह्मण वंश में जन्म लेने के अभिमान गर्वित होकर अब्राह्मणों को हेय समझते हैं, उन्हें दो तथ्यों का स्मरण दिला देना चाहता हूँ—

(क) महाभारत तथा भागवत् में कहा गया है कि, आर्यों में आदिकाल से ही कोई वर्णविभाग नहीं था—सभी ब्रह्मज्ञ, धर्मनिष्ठ, तथा लोभरहित होने के कारण ब्राह्मण के रूप में जाने जाते थे।

कालक्रम में इनमें से कुछ अंश 'लोभ' के वशीभूत होकर ब्राह्मण

---

6. भा० (७/९-१०)।
7. भा० मा० (२/६७) (१२/१३/१५)
8. मनु० (१२/८३, १०२)।

के स्वभाव तथा वृत्तियों का परित्याग कर अन्य वर्णों में विभक्त हो गए। फिर भी जो यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, अपरिग्रह, सत्यनिष्ठा, निर्लोभत्व इत्यादि सात्विक तथा मोक्षानुकूल गुणों एवं वृत्तियों के साथ रहे, उनमें ब्राह्मणत्व अक्षुण्ण रहा। लेकिन-जन्म से नहीं बल्कि इन सभी विशिष्ट गुणों तथा वेद ज्ञान के द्वारा ही उनका श्रेष्ठत्व प्रमाणित हुआ। अभी भी कुछ गिने-चुने हिन्दू इस गुण के अधिकारी हैं और सम्पूर्ण हिन्दू समाज में वे नमस्य हैं। लेकिन ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होकर भी जो व्यक्ति मसीजीवी, चर्म व्यवसायी, तथा माँस व्यवसायी बन कर प्रतिदिन पाप कर रहे हैं, क्या समालोचक महाशय उनके श्रेष्ठत्व का दावा कर सकते हैं? (ख) वर्तमान युग कलियुग है। प्राय: प्रत्येक शास्त्र में ही कहा गया है कि कलिकाल में ब्राह्मण अपने ब्राह्मणत्व को भूलकर नीच वृत्तियों को अंगीकार कर लेंगे तथा इस प्रकार से सभी वर्ण प्राय: शूद्र बन जाएंगे।[9] कल्कि पुराण में और भी स्पष्ट रूप से वर्णित है कि, वेदज्ञान से हीन उच्चवर्ण के अध:पतन के फलस्वरूप, कलि के चौथे चरण में सभी एक वर्ण (अर्थात् शूद्र) में परिणत हो जाएगें।[10]

इसके उपरान्त कुछ कहना अनावश्यक है, केवल मैं अपने प्रतिपाद्य सारतत्व को पुन: उद्धृत करुंगा—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।

9. विष्णु० (६/१/३७, ५१)—'···पाषण्डसंश्रां वृत्तिमाश्रयिष्यन्ति···शूद्र-प्रायास्थता वर्णा भविष्यन्ति कलौ युगे' ; ब्र० वै० (प्र० ७/२३-३०)।
10. कल्कि० (१म अध्याय) ; भा० (१२/२/१४)-'···शूद्रप्रायेषु वर्णोषु···'।

संक्षेप संकेत

अग्नि० अग्निपुराण
अथ० अथर्ववेद
अ०वि० अमृतविन्दु उपनिषद (कृ० य०)
अ०ना० अमृतनादोपनिषद् (कृ०य०)
अमर० अमरकोष
आ० आरुणेयोपनिषद् (साम:)
आश्व० महाभारत, आश्वमेधिक पर्व
आत्म० आत्मोपनिषद् (अथ०)
ई० ईशोपनिषद् (यजु०)
उ०गी० उद्धवगीतता
(भा० ११/६-२९ अ०)
उ०ग्र० उपनिष : ग्रंथावली (उद्बोधन)
ऋक्० ऋग्वेद
ऐ० ऐतरेय उपनिषद
क० कठ उपनिषद या
काठकोपनिषद् (कृ०य०)
कथा० श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत १७सं-
क०श्रु० कठश्रुत्युपनिषद्
का० कालिकोपनिषद् (अथ:०)
का०पु० कालिका पुराण
कृ०य० कृष्ण यजुर्वेद (व्यास-शिष्य
वैशम्पायन संकलित)
के० केन उपनिषद् (साम०)
कै० कैवल्य उपनिषद् (कृ०य०)
कौ० कौषीतकि उपनिषद (ऋक्)
ग०पु० गरूड़ पुराण
क्षु० क्षुरिका उपनिषद् (कृ०य०)
गर्भ० गर्भोपनिषद् (कृ०य०)
गी० श्रीमद्भागवतगीता
गी०मा० श्रमद्गीता माहात्म्य
वैष्णवीयतत्रसारोक्त
गो०पू० गोपाल पूर्वतापनीयोपनिषद्
(अथ०)
गो०उ० गोपाल उत्तरतापनीयो-
पनिषद (अथ०)
चण्डी० मार्कण्डेय (चण्डी) पुराण
चु० चुलिका या मंत्रिका
उपनिषद् (यजु०)
छा० छान्दोग्य उपनिषद् (साम०)
जा० जावालोपनिषद् (यजु०)
तु० तुरीयातीतोपनिषद् (यजु०)
तेज० तेजविन्दु उपनिषद्
तै० तैत्तिरीय उपनिषद्
तै०शी० तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षावल्ली
द्र० द्रष्टव्य
दे०भा० देवी भागवत
ना० नारायण उपनिषद् (कृ०य०)
ना०प० नारद-परिव्राजक
उपनिषद् (अथ०)
ना०वि० नादविन्दु उपनिषद् (ऋक्०)
ना०भ० नारदीय भक्तिसूत्र
नृ० नृसिंहतापनी उपनिषद् (अथ०)
प० परमहंसोपनिषद् (यजु०)
प०ब्र० पंचब्रह्मोपनिषद् (यजु०)
पद्म० पद्मपुराण
पा०यो०(सा०) पातंजल-योगसूत्र
(साधन पाद)
पा०ब्र० पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् (अथ०)
पू०मी० जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा दर्शन
पैं० पैंगल उपनिषद् (यजु०)
प्रश्न० प्रश्नोपनिषद् (अथ०)
प्राण० प्राणाग्निहोत्र उपनिषद् (कृ०य०)
वा०रा० वाल्मीकि रामायण

वासु० वासुदेवोपनिषद् (साम०)
वि०वा०र० स्वामी विवेकानंद की वाणी तथा रचना (उद्बोधन)
विष्णु० विष्णु पुराण
वे०सा० सदानंद योगीन्द्र द्वारा रचित 'वेदान्तसार'
वै०द० वैशेषिक दर्शन (कणाद)
वृ० वृहदारण्यक उपनिषद् (यजु०)
वृ०णा०पु० वृहन्नारदीय पुराण
ब्र०वि० ब्रह्मविन्दु उपनिषद् (अथ०)
ब्रह्म० ब्रह्मोपनिषद् (कृ०य०)
ब्रह्म०विद्या० ब्रह्मविद्या उपनिषद् (कृ०य०)
ब्र०वै० ब्रह्मवैवर्त्त पुराण
ब्र०पु० ब्रह्म पुराण
ब्र०सू० ब्रह्मसूत्र
व्यास०स० व्यास संहिता
भा० श्रीमद्भागवत पुराण
भा०मा० श्रीमद्भागवत-माहात्म्य (यह भागवत के प्रारंभ में स्वतंत्ररूप से छह अध्यायों में वर्णित है।)
भा०स० स्वामी अभेदानंद, भारतीय संस्कृति
म०ना० महानारायण या नारायण उपनिषद् (कृ०य०)
म०नि० महानिर्वाणतंत्र
मनु० मनु संहिता
महा० (अथवा म०भा०) महाभारत
मा० माण्डुक्य उपनिषद् (अथ०)
मु० मुण्डक उपनिषद् (अथ०)
मुक्ति० मुक्तिका उपनिषद् (यजु०)
मै० मैत्रेयी उपनिषद् (साम०)
मैत्रा० मैत्रायणी उपनिषद् (साम०)

यजु० शुक्ल यजुर्वेद
यम०स० यम संहिता
या० याज्ञवल्क्योपनिषद् (यजु०)
याज्ञिका० याज्ञिका उपनिषद्
या०स० याज्ञवल्क्य संहिता
योग० योगतत्वोपनिषद् (कृ०य०)
यो०या० योगी याज्ञवल्क्य
यो०शि० योगशिक्षा उपनिषद् (कृ०य०)
रा०उ० रामोत्तरतापनीय उपनिषद् (अथ०)
रा०पू० रामपूर्वतापनीय उपनिषद् (अथ०)
रा०र० रामरहस्योपनिषद् (अथ०)
श०अ० शंकराचार्यकृत अपरोक्षानुभूति
श०वि शंकराचार्यकृत 'विवेक-चूडामणि'
श०स०वे०सि० शंकराचार्य 'सर्व-वेदान्तसार संग्रह'
श०शा० शंकराचार्यकृत 'शारीरभाष्य'
श०निर्वाण० शंकराचार्यकृत 'निर्वाणमंजरी'
श०ब्रह्म० शंकराचार्यकृत 'ब्रह्मानु-चिन्तनम्'
शा० शाण्डिल्य उपनिषद (अथ०)
शाठ्या० शाठ्यायनीयोपनिषद् (कृ०य०)
स० सन्न्यासोपनिषद् (साम०)
स०सा० सर्वसारोपनिषद् या सर्वोपनिषत्सार (अथ०वा०कृ०य०)
स्कंद० स्कंद पुराण
सा०प्र० सांख्य प्रवचन सूत्र (कपिल)
साम० सामवेद
हंस० हंस उपतिषद् (यजु०)
हा०स० हारीत संहिता

ॐ

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्







श्री सत्यानन्द देवायतन